PDFaid.com
#1 pdf solutions online

प्रश्नो□ र संग्रह

भाग – 2

पं.रतनचन्द 'मु तार' : व्यक्तित्व और कृतित्व के आधार पर संकलित
प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग एवं विविध प्रश्नों का संग्रह

स पादन एवं संकलन
पं. रतनलाल बैनाड़ा
पं. महेश कुमार जैन

प्रकाशक
श्री दिग बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान
वीरोदय नगर, सांगानेर, जिला – जयपुर (राज.) पिन– 302029
फोन नं. 0141–2730552

कृति : प्रश्नो[illegible] ार संग्रह : भाग 2

स पादन एवं संकलन : पं. रतनलाल बैनाड़ा
पं. महेश कुमार जैन

अर्थ सौजन्य : सेठ सुगमचन्द चिमनलाल शाह (आंजनिया) परिवार, सूरत

प्रकाशक : श्री दिग बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान,
वीरोदय नगर, सांगानेर-जयपुर 302029
फोन नं. क्ब्क-ख्त्रपभ्भ्ख

अन्य प्राप्ति स्थान

1. अमर ग्रन्थमाला
श्री दिग बर जैन उदासीन आश्रम
584, महात्मा गाँधी मार्ग, तुकोगंज
इंदौर (म.प्र.) मो. 094254-78846

2. जैन साहित्य केन्द्र
श्री वर्णी दिग बर जैन गुरुकुल
पिसनहारी मढ़िया के सामने, जबलपुर (म.प्र.)

संस्करण : प्रथम, 1200 प्रतियाँ

प्रकाशन तिथि : जून, 2012

मूल्य : 50 रुपये

मुद्रक : जयपुर प्रिण्टिंग सेन्टर, मालवीय नगर, जयपुर

स पादकीय

सिद्धान्तमर्मज्ञ ब्र0 पं0 रतनचन्द जी मु तार, सहारनपुर, करणानुयोग के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् माने जाते हैं। आपने कषायपाहुड, षट्खण्डागम, पंचसंग्रह प्राकृत आदि €लष्ट ग्रंथों का अच्छी प्रकार स्वाध्याय किया था। पूरे देश में जब भी किन्हीं आचार्य, मुनिराज, आर्यिका या विद्वानों को चारों अनुयोग स बन्धी कोई भी जिज्ञासायें उत्पन्न होती थीं, तब उनके पास एक ही मार्ग था कि पं0 रतनचन्द जी मु तार से स पर्क करें और समाधान लें। आपकी विशेषता थी कि आप विभिन्न आगमप्रमाण सहित सबका समाधान करते थे। आपने अपनी इस विशेष क्षमता के आधार पर ही 'जैन-गजट' के 'शंका-समाधान' स्त भ का 23 वर्षों (सन् 1956 से 1978) तक स पादन किया। दिनांक 28.11.1980 को आपने इस नश्वर शरीर का परित्याग कर महाप्रयाण किया। पं0 मु तार साहब ने द्रव्यसंग्रह, कर्मकाण्ड तथा प्रवचनसार का स पादन किया एवं आलापपद्धति, लŸधसार, क्षपणासार तथा जीवकाण्ड की भाषा टीका श्री धवला जी आदि ग्रन्थों के अनुसार लिखीं। आपके द्वारा स पादित ये ग्रन्थ और भाषा-टीकाएँ वर्तमान में सर्वश्रेष्ठ और आगमस मत मानी जाती हैं।

मु तार साहब के अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने की चर्चा जब आपके स्वर्गवास के बाद विद्वानों में चर्चित हुई, तब सर्वस मति से निर्णय लिया गया कि यदि आपके द्वारा किये गये शंका-समाधानों का संकलन कर उसे विधिवत् प्रकाशित किया जाए, तो आपका सर्वश्रेष्ठ अभिनन्दन और चिरस्थायी कार्य हो जायेगा। यह कार्य भीण्डर निवासी पं0 जवाहरलाल जी सिद्धान्तशास्त्री एवं डॉ0 चेतनप्रकाश जी पाटनी को सौंपा गया। कार्य बृहद् था और जटिल भी, फिर भी दोनों विद्वानों ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक अधिकांश शंका-समाधानों का संग्रह कर 'पं0 रतनचन्द जैन मु तार : व्यक्तित्व और कृतित्व' नाम से 1716 शंका-समाधानों का प्रकाशन 1989 में किया। दोनों विद्वानों के इस प्रयास को पूरे देश में भली प्रकार सराहा गया और सभी ने इस संकलन की भूरि-भूरि प्रशंसा की। एक अनूठा ग्रन्थ होने के नाते इसका प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया और द्वितीय संशोधित संस्करण आचार्य श्री 108 शिवसागर जी ग्रन्थमाला, श्री महावीर जी से प्रथम भाग 2006 में और द्वितीय भाग 2009 में प्रकाशित हुआ।

श्री दिग बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान, सांगानेर (जयपुर-राज.) में वर्तमान में लगभग 150 विद्वान् छात्र जैन-शास्त्रों का अध्ययन कर रहे हैं। ये सभी छात्र 11वीं कक्षा से आचार्य तक सात वर्ष के लिए आते हैं और विभिन्न ग्रन्थों का स्वाध्याय करते हैं। पूरे भारतवर्ष का यह अनूठा संस्थान-छात्रावास है। इन छात्रों को सभी ग्रन्थ पढ़ाया जाना स भव नहीं हो पाता, अत: यह आवश्यक समझा गया कि पं0 मु तार जी के अभिनन्दन में प्रकाशित उपर्युक्त दोनों भागों का अध्ययन करा दिया जाय। दोनों भाग लगभग 1400 पृष्ठ में प्रकाशित हैं। अत: उनका स पूर्ण पठन-पाठन स भव न हो सकने के कारण उनको संक्षेप में प्रकाशित करके अध्ययन कराने का विचार किया गया। तदनुसार करणानुयोग स बन्धी 869 शंकाओं का संक्षिप्तीकरण करके प्रश्नोŸार संग्रह भाग-1 का प्रकाशन सन् 2010 में संस्थान द्वारा किया गया। इसके अतिरिक्त प्रथमानुयोग स बन्धी 45, करणानुयोग स बन्धी 231, द्रव्यानुयोग स बन्धी 401 तथा अन्य विषयों पर 170 = 847 प्रश्नों को संक्षिप्त करके 471 प्रश्नों में इस प्रश्नो[illegible] ार संग्रह भाग-2 का प्रकाशन किया जा रहा है। इस ग्रन्थ में भी अधिकांश प्रश्नोŸार तो पं0 रतनचन्द मु तार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व ग्रन्थ के अनुसार ही संकलित किये गये हैं। विषय को

और स्पष्ट करने के लिए कुछ और आवश्यक प्रश्नों का समावेश किया गया है। विभिन्न प्रश्नों के उ ार में पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के प्रवचनांश भी संकलित किये गये हैं। प्रश्नों के साथ ही यह भी लिख दिया गया है कि यह प्रश्न पं0 मु तार ग्रन्थ में किस पृष्ठ से संकलित किया गया है, ताकि स्वाध्यायी जनों को उस प्रश्न स बन्धी सभी आगमप्रमाण वहाँ से उपलŽध हो जायें। विद्वज्जनों से अनुरोध है कि यदि स पादन एवं संकलन में कोई त्रुटि विदित हो, तो हमें अवश्य सूचित करने की कृपा करें, ताकि अगले संस्करणों में तदनुसार संशोधन किया जा सके।

प्रस्तुत प्रश्नो ार संग्रह भाग-2 के प्रकाशन का समस्त भार सूरत निवासी श्री सुगमचंद चिमनलाल शाह आंजनिया के सरस्वती-आराधक पुत्रों ने सहर्ष वहन किया है। उनके इस उदारतापूर्ण सहयोग के लिए हम कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं। समस्त टंकण कार्य पं0 शिखर चन्द जैन शास्त्री, मालपुरा (जिला- टोंक, राज.) के द्वारा स पन्न किया गया है, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

हमें पूर्ण विश्वास है कि समस्त त्यागी वृन्द एवं विद्वानों द्वारा जिस प्रकार प्रश्नोŽार संग्रह भाग-1 का समादर किया गया था, उसी तरह यह भाग-2 भी उनको ज्ञानार्जन में सहयोगी बनेगा। प्रस्तुत ग्रन्थ अत्यन्त सरल भाषा में प्रकाशित किया गया है, अत: सभी स्वाध्यायीजन इसका लाभ उठायेंगे, ऐसी भावना है।

दिनाङ्क
30.06.2012

पं. रतनलाल बैनाड़ा
पं. महेश कुमार जैन

प्रकरण-अनुक्रमणिका

क्र.	प्रकरण	पृष्ठ सं या
1.	प्रथमानुयोग	1-10
	चरणानुयोग	
2.	चारित्र सामान्य	11-15
3.	भक्ष्याभक्ष्य	15-19
4.	दान	19-23
5.	अभिषेक-पूजा-भक्ति-स्वाध्याय	23-34
6.	अव्रती की क्रियायें, सूतक-पातक, यज्ञोपवीत	34-36
7.	देशचारित्र	36-48
8.	ध्यान	48-60
9.	अनगार चारित्र	60-79
10.	स्वरूपाचरण चारित्र	79-82
	द्रव्यानुयोग	
11.	द्रव्य	82-84
12.	जीवत व	84-98
13.	पुद्गल	98-102
14.	धर्म-अधर्म-आकाश-काल	103-106
15.	आस्रव	106-109
16.	बंध	109-115
17.	संवर-निर्जरा	115-118
18.	मोक्ष, सिद्ध	118-122
19.	द्रव्य, गुण, पर्याय	122-130
20.	क्रमबद्ध पर्याय	130-135
21.	अनेकान्त-स्याद्वाद	135-137
22.	उपादान-निमि ।	137-138
23.	कार्य-कारण व्यवस्था	138-143
24.	नय-निक्षेप	144-157
25.	पुण्य का विवेचन	157-159
26.	विभिन्न आगमिक परिभाषायें	159-171
27.	विविध	171-178

प्रश्नानुक्रमणिका

क्र.	प्रश्न	पृष्ठ सं या
	प्रथमानुयोग	
1.	□ या केवली भगवान् का शरीर पाँच हजार धनुष ऊपर उठ जाता है ?	01
2.	केवली भगवान् को मोक्ष आकाश से ही होता है या वे मुक्ति से पूर्व नीचे आ जाते हैं ?	01
3.	केवलज्ञान होने पर €या उन मुनिराज के छिन्न-भिन्न अङ्ग स पूर्ण हो जाते हैं ?	01
4.	केवलज्ञान होने पर पिच्छी कमण्डलु का €या होता है ? €या मुनि अवस्था में इनका रखना अनिवार्य है ?	02
5.	€या सामान्य केवलियों के भी कल्याणक होते हैं ?	03
6.	अन्तिम केवली कौन थे ? €या सभी गणधर श्रुतकेवली होते हैं ?	03
7.	जैनधर्म के चलानेवाले कौनसे भगवान् थे अर्थात् इसका प्रार भ किसने किया ?	03
8.	भगवान् महावीर के बाद कितने केवली और हुये ?	03
9.	कर्मभूमि के प्रार भ में सर्वप्रथम जिनमंदिर किसने और कहाँ बनवाया ?	04
10.	इस हुण्डावसर्पिणी के चतुर्थ काल में शलाका पुरुषों की सं या त्रेसठ की बजाय अठावन ही थी। वह कैसे ?	04
11.	श्रीकृष्ण नारायण को स य€त्व की प्राप्ति कब हुई और वे तीर्थङ्कर कब बनेंगे ?	04
12.	श्रीकृष्ण के भाई बलदेव ने स्वयं दीक्षा ग्रहण की थी। €या अन्य जन भी स्वयं दीक्षा ले सकते हैं ?	05
13.	तीर्थङ्कर भगवान् अपने घर का भोजन ग्रहण करते हैं या उनके लिये सभी सामग्री देवों द्वारा लायी जाती है ?	05
14.	तीर्थङ्कर भगवान् के गर्भ में आने से पूर्व जो रत्नवर्षा होती है, €या वे रत्न असली होते हैं ?	
15.	तीर्थङ्कर भगवान् के चिह्न किस प्रकार निर्धारित किये जाते हैं ?	06
16.	विदेहक्षेत्र में कितने तीर्थङ्कर होते हैं ? €या बीस तीर्थङ्करों के अलावा अन्य तीर्थङ्कर भी होते हैं ?	06
17.	भगवान् ऋषभदेव आदि का शरीर जन्म से ही परमौदारिक होता है या केवलज्ञान होने पर हो जाता है ?	07
18.	भगवान् ऋषभदेव के माता-पिता भोगभूमिया जीव थे या कर्मभूमिया ? वे युगलिया पैदा हुये थे या अलग-अलग ?	07
19.	नारद किस गति को प्राप्त होते हैं ? □ या वे चरमशरीरी होते हैं ?	08

20. रुद्र हुण्डावसर्पिणी काल में ही होते हैं या आगे आनेवाले उत्सर्पिणी काल में भी होंगे ? 08
21. पुराणों में स्त्रियों का वर्णन करते समय शृंगार रस का इतना वर्णन €यों किया गया है ? 08
22. बाहुबलि मुनिराज के मन की शल्य 08
23. महाराजा भरत ने बाहुबलि पर चक्र चलाया था या नहीं ? 09
24. मरुदेवी आदि तीर्थङ्कर भगवान् की माताएँ, रजस्वला अर्थात् मासिक धर्म से सहित होती हैं या नहीं ? 09
25. [illegible] यश्रेणिक महाराज स यत्वसहित नरक में गये थे ? उनका अकालमरण हुआ था या नहीं ? 09
26. सीता का जीव प्रतीन्द्र बना। वह तीसरे नरक में रावण और लक्ष्मण के जीव को स बोधन करने के लिये गया था या नहीं ? 10

चरणानुयोग

चारित्र सामान्य

27. सिद्धों में कौनसा चारित्र होता है ? 11
28. क्षायिक चारित्र और यथा यात चारित्र में €या अंतर है ? 11
29. €या चारित्र धारण न करने पर स यग्दर्शन और स यग्ज्ञान कार्यकारी नहीं कहे जाते ? 12
30. सातिशय पुण्यबन्ध €या होता है और वह किनके होता है ? 12
31. अणुव्रत और महाव्रत आदि व्रत विभाव हैं, हेयरूप हैं अथवा आस्रव में कारण हैं ? 12
32. शुभराग व शुभोपयोग में [illegible] या अन्तर है और इन दोनों के स्वामी कौन होते हैं ? 13
33. मद्य, मांस के सेवन करनेवालों को स यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है या नहीं ? 13
34. €या अष्ट मूलगुणधारी श्रावक रात्रि में बना हुआ भोजन और अशुद्ध दवाओं का सेवन कर सकता है? 13
35. €या करुणा भाव या जीवदया करना धर्म है ? 14
36. सप्त व्यसन का सेवन करनेवाला [illegible] या तद्भवमोक्षगामी हो सकता है ? 14
37. €या वर्णव्यवस्था आगमस मत है ? €या इसका मोक्षप्राप्ति पर प्रभाव पड़ता है ? 14

भक्ष्याभक्ष्य

38. दही और छाछ की मर्यादा कितनी माननी चाहिये ? 15
39. शुद्ध दही किस प्रकार जमाना चाहिये ? 15
40. म[illegible] खन भक्ष्य है या अभक्ष्य ? 16
41. पिसे हुये सेंधा नमक की कितनी मर्यादा माननी चाहिये ? 16
42. सप्रतिष्ठित लौकी, ककड़ी आदि के खाने में तथा आलू, प्याज खाने में [illegible] या अन्तर है ? 16
43. साधारण वनस्पतिकाय किसे कहते हैं ? 17

44. सूखी अदरक तथा सू ी हल्दी की तरह आलू को भी सुखाकर खाने में €या दोष है ? 17
45. आलू आदि खाने में और मांस खाने में भी अनन्त जीवों की हिंसा होती है, तब तो दोनों में हिंसा समान रही ? 17
46. लौकी की स जी और आलू की स जी में से किसमें जीव ज्यादा हैं ? 18
47. सचि ा वनस्पति को मुनिराज आहार में नहीं लेते हैं। फिर उसको अचि ा कैसे बनाया जाये? 18
48. दूध भक्ष्य है या अभक्ष्य ? असंयत स यग्दृष्टि जीव मिल्क पाउडर ले सकता है या नहीं ? 19

दान

49. आत्मा तो खाता नहीं है, ऐसा शास्त्रों में लिखा है। तब दान €यों करना चाहिये ? 19
50. दान कितने प्रकार का होता है और उनमें सर्वश्रेष्ठ दान कौनसा है ? 20
51. चार प्रकार का आहार कौन-कौनसा है ? 20
52. पात्र कितने प्रकार के होते हैं और उनका लक्षण €या है ? 20
53. तीन प्रकार के पात्रों की कितनी भक्तियाँ होती हैं ? 21
54. मुनि महाराज के पड़गाहन के समय तीन प्रदक्षिणा देना आवश्यक है या नहीं ? 21
55. आर्यिका माताजी का पाद-प्रक्षालन तथा आरती करना आगमस मत है या नहीं ? 21
56. सुपात्र या कुपात्र की पहचान कैसे हो ? 22
57. वर्तमान में व्रती को प्रतिदिन द्वारापेक्षण कैसे करना चाहिये ? 22
58. करुणादान करने का आगम में उल्लेख मिलता है या नहीं ? हमें करुणादान करना चाहिये या नहीं ? 22

अभिषेक-पूजा-भक्ति-स्वाध्याय

59. जिनप्रतिमा की पूजा हमने ब्राह्मण या हिन्दूधर्मवालों से ली है या यह पर परा हमारी अपनी है ? 23
60. या आर्ष ग्रन्थों में द्रव्यपूजा का कथन पाया जाता है ? 23
61. देवदर्शन करना यों आवश्यक है और या आगम में इसका उल्लेख मिलता है ? 24
62. हथियार या आभूषणवाली मूर्ति पूजने योग्य है या नहीं ? 24
63. पद्मावती देवी के सिर पर भगवान् पार्श्वनाथ बनाये जाते हैं। ऐसी मूर्तियाँ पूज्य हैं या नहीं ? 24
64. जिनालय में विराजमान जिनबि ब को किस अवस्था का मानना चाहिये ? 25
65. भ0 पार्श्वनाथ की फणसहित मूर्ति को व बेलों सहित भ0 बाहुबलि की मूर्ति को मुनि अवस्था की मूर्ति माना जाये या केवली अवस्था की ? 25
66. €या प्रतिमा का अभिषेक करना आगम स मत है ? €या अभिषेकपूर्वक ही पूजन करनी चाहिये ? 26
67. प्रतिमा जी का अभिषेक एक दिन में कितने बार होना चाहिये ? 26
68. अभिषेक के समय या बोलना चाहिये ? 26

69. भगवान् की आरती कब और कैसे करनी चाहिये ? 26
70. वेदी में भगवान् की प्रतिमा स्थापित है, तो ठोने में स्थापना करनी चाहिये या नहीं ? 27
71. निर्माल्य द्रव्य या है ? उसका या उपयोग होना चाहिये ? 27
72. कुदेव कौन होते हैं ? या ये पूजा के योग्य हैं ? 28
73. पहले अरहन्त भगवान् को और बाद में सिद्ध भगवान् को नमस्कार यों किया गया है ? 28
74. पूजा भक्ति आदि कार्यों से आस्रव-बन्ध ही होता है या संवर-निर्जरा भी होती है ? 28
75. पूजा आदि शुभ कार्यों को पुण्यबन्ध का कारण होने से हेय कहने की अपेक्षा €या है ? 29
76. प्रभु भक्ति से अपने प्रयोजन की सिद्धि होती है या नहीं ? 29
77. नवग्रह अरिष्ट निवारक या कालसर्पयोग विधान करना योग्य है या नहीं ? 30
78. स्वाध्याय करने का या लाभ है ? 30
79. स्वाध्याय का क्रम या होना चाहिये ? 31
80. स्वाध्याय करने के लिये या आगमज्ञान प्राप्त करने के लिये या व्यवस्था बनाई जाये ? 31
81. स्वाध्याय कैसे करना चाहिये ? 31
82. स्वाध्याय करने का काल कौनसा ? €या अष्टमी चतुर्दशी को तžवार्थसूत्र आदि नहीं पढ़ना चाहिये ? 32
83. गृहस्थों को अङ्गपूर्व पढ़ने का अथवा श्री धवला आदि टीकाओं को पढ़ने का अधिकार है या नहीं ? 32
84. स यग्दृष्टि की पूजा, स्वाध्याय आदि क्रियाएँ बुद्धिपूर्वक होती हैं या अबुद्धिपूर्वक ? 33
85. सोनगढ़ से प्रकाशित द्रव्यदृष्टि प्रकाश के पृष्ठ तेईस पर लिखा है कि ''भगवान् की वाणी सुनने से अपना नाश होता है। जिनवाणी परस्त्री के विषय समान है।'' €या यह कथन उचित है ? 33

अव्रती की क्रियायें, सूतक-पातक, यज्ञोपवीत

86. सूतक-पातक का विधान मानना चाहिये या नहीं ? €या यह वैदिक मत की पर परा है या इसके प्रमाण जैन शास्त्रों में भी हैं ? 34
87. सूतक-पातक में पीढ़ी कैसे गिनना चाहिये ? 34
88. पुस्तक में आत्महत्या का सूतक छः माह का लिखा है। वह कैसे मानना चाहिये ? 34
89. मुहूर्त आदि देखकर कार्य करना मिथ्यात्व है या नहीं ? 35
90. यज्ञोपवीत (जनेऊ) पहनना आगमस मत है या नहीं ? 35
91. शुद्ध आचरणवाला कोई हरिजन या ब्राह्मण हमको छना हुआ पानी दे, तो ग्रहण करना उचित है या नहीं ? 35

देशचारित्र

92. श्रावक किसे कहते हैं ? श्रावक श द का अर्थ या है ? 36
93. या उपवास वाले दिन शाम को प्रासुक जल लिया जा सकता है ? 36
94. तिर्यञ्च तो मांसाहारी होते हैं, उनमें विवेक नहीं होता। वे अणुव्रतधारी कैसे बन सकते हैं ? 36
95. शूद्र कितने प्रकार के होते हैं और €या वे मुनि पद धारण कर सकते हैं ? 37
96. अपनी स्त्री के सेवन करने में ब्रह्मचर्याणुव्रतधारी को €या पाप नहीं लगता होगा ? 37
97. प्रतिमा धारण करना, व्रत लेना रागरूप है या वीतरागतारूप है ? 38
98. €या ब्रह्मचर्याणुव्रत के धारी को वेश्यासेवन करने की अनुमति है ? 38
99. चारों कषायों का या कार्य है ? 38
100. देशव्रती के या प्रतिमाधारी के आ र्त रौद्र ध्यान होता है या नहीं ? 39
101. €या तीर्थङ्कर भगवान् सीधे महाव्रत धारण करते हैं ? 39
102. या व्रती श्रावक खेती, नौकरी, व्यापार, युद्ध तथा राज्य संचालन कर सकता है ? 39
103. या प्रतिमाधारी को प्रतिदिन देवपूजा के बाद ही भोजन करना चाहिये ? ट्रेन के सफर में या करे ? 40
104. श्रावकाचार ग्रन्थों में सामायिक के काल में श्रावक को महाव्रती कहा है। इससे €या तात्पर्य लेना चाहिये ? 40
105. मौन कब-कब रखना चाहिये ? 40
106. गृहस्थ का मन एकाग्र नहीं हो पाता। सामायिक आदि के काल में मन स्थिर करने के लिये या करना चाहिये ? 40
107. पहली प्रतिमाधारी जीव के अन्याय और अभक्ष्य के सेवन का त्याग होता है या नहीं ? 41
108. पहली प्रतिमाधारी को या नियम लेने होते हैं ? 41
109. दूसरी प्रतिमावाले को या करना होता है ? 41
110. या श्रावक एकान्त में नग्न होकर सामायिक कर सकते हैं ? 41
111. सामायिक शिक्षाव्रत और सामायिक प्रतिमा तथा प्रोषधोपवास व्रत एवं प्रोषध प्रतिमा में या अन्तर है ? 42
112. प्रोषधोपवास श द का या अर्थ है ? यह कितनी प्रकार किया जा सकता है ? 42
113. पंचम सचिž त्याग प्रतिमाधारी का €या स्वरूप है ? 42
114. प्रतिमाधारी श्रावक लश की लैट्रीन में जा सकता है या नहीं ? 43
115. छठी प्रतिमा के दो नाम पढ़ने में आते हैं। कहीं पर रात्रिभोजनत्याग और कहीं दिवस मैथुनत्याग। ऐसा यों ? 43

116. ब्रह्मचारी संज्ञा किस प्रतिमा से प्रार भ होती है ? 43
117. वर्णी कौन होते हैं ? इनकी कितनी प्रतिमा होती हैं ? 43
118. प्रतिमाधारी व्रती कार आदि की सवारी कर सकता है या नहीं ? 44
119. परिग्रहत्याग नौवीं प्रतिमा है। इसका स्वरूप €या है ? 44
120. अनुमतित्याग प्रतिमाधारी का €या स्वरूप है ? 44
121. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा का €या स्वरूप है ? इसके धारी कौन होते हैं ? 45
122. जो चर्या ऐलक की है, वही चर्या आर्यिका की भी होती है। तो या दोनों को समान माना जाये? 45
123. पंचम गुणस्थान में सबसे ज्यादा निर्जरा क्षुल्लक-ऐलक की मानी जाये या आर्यिका की ? 45
124. क्षुल्लक की आहारचर्या का शास्त्रों में €या विधान है ? 45
125. या क्षुल्लक को देवपूजा करना आवश्यक है ? या वह आहारदान कर सकता है ? 46
126. ग्यारह प्रतिमाधारियों के कितने असंयम या अव्रत होते हैं ? 46
127. क्षुल्लक या मुनियों के लिये जो आहार बनाया जाता है, उसको उद्दिष्ट भोजन यों न माना जाये? 46
128. आर्यिकाओं, क्षुल्लकों और ऐलकों के वस्त्र श्रावकों को किस प्रकार धोने का विधान है ? 47
129. जो अव्रती हैं अर्थात् प्रतिमाधारी नहीं हैं, उनको प्रतिक्रमण करना चाहिये या नहीं ? 47
130. चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयत जीव के पापों का त्याग होता है या नहीं ? 47
131. €या स यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि मुनि को नमस्कार करता है ? 47
132. अव्रती का पिच्छी रखना, केशलोंच करना, स्नानत्याग करना आगमबाह्य है या नहीं ? 48

ध्यान

133. या संसारी जीव के हर समय कोई एक ध्यान रहता है ? 48
134. आŽर्ध्यान कौनसा भाव है और रौद्रध्यान के गुणस्थान कौनसे हैं ? 48
135. शुभ लेश्याओं में आ f और रौद्र ध्यानों कैसे ? 49
136. उपयोग के तीन भेद हैं- शुभ, अशुभ एवं शुद्ध। इनके गुणस्थान कौन-कौनसे हैं ? 49
137. वर्तमान में शुद्धोपयोग होता है या नहीं ? 50
138. आ f-रौद्र ध्यान के समय में भी शुभोपयोग रह सकता है या नहीं ? 50
139. रौद्रध्यान के हिंसानन्दी, आदि चार भेद किये हैं। परन्तु कुशीलानन्दी भेद यों नहीं किया ? 50
140. निदान शल्य, निदान आ f ध्यान और निदानबन्ध में या अन्तर है ? 51
141. हम लोगों के चौबीस घण्टे में कौनसा ध्यान सबसे अधिक रहता है ? 51
142. ध र्यध्यान कितने प्रकार का होता है ? उनका स्वरूप एवं स्वामी कौन हैं ? 51
143. वीरसेन स्वामी ने दसवें गुणस्थान तक तथा अन्य आचार्यों ने सप्तम गुणस्थान तक ध र्यध्यान कहा है। ऐसा यों ? 52

144. ध र्यध्यान के गुणस्थानों में इस प्रकार के दो कथन €यों पाये जाते हैं ? 52
145. €या ध र्यध्यान को बन्ध का कारण मानना उचित है ? 53
146. ध र्यध्यान का ध्याता कैसा होना चाहिये ? 53
147. वर्तमान में हम हीन संहननवालों का ध्यान, जघन्य और उत्कृष्ट से कितने समय तक स्थिर रह सकता है ? 54
148. [] या जप और ध्यान पर्यायवाची हैं ? 54
149. जाप कितने प्रकार से दी जाती है और उनमें सर्वश्रेष्ठ जाप कौनसी कही गई है ? 54
150. ध्यान के योग्य चि[] ा की निश्चलता कैसे प्राप्त हो ? 54
151. ध र्यध्यान का फल €या है ? 55
152. गृहस्थ के शुद्धात्मध्यान अथवा शुद्धोपयोग अथवा निर्विकल्प ध्यान होता है या नहीं ? 55
153. इस काल में मोक्ष तो होना नहीं है, फिर हम धर्मध्यान [] यों करें ? 55
154. शु[] लध्यान किसे कहते हैं ? उसके भेद और स्वरूप बताएँ। 56
155. शु€लध्यान किन गुणस्थानों में होता है ? 56
156. शु€लध्यान के प्रथम दो भेदों में गुणस्थानों का अन्तर €यों है ? 57
157. प्रथम शु[] लध्यान में जो अर्थ, व्यंजन और योग की पलटन होती है, वह बुद्धिपूर्वक होती है या अबुद्धिपूर्वक ? 57
158. शु€लध्यानवाले मुनिराज के उत्कृष्ट व जघन्य से कितना श्रुत होता है ? 57
159. एक समय में एक ही योग होता है, फिर तीनों योगों की एक साथ प्रवृ[] ा देखी जाती है। वह कैसे? 58
160. शु[] लध्यान के लिये [] या प्रथम संहनन आवश्यक है ? 58
161. समवसरण स्थित केवली के कौनसा ध्यान होता है ? 58
162. केवली भगवान् के एकाग्रता न होने पर भी तीसरा और चौथा शु[] लध्यान [] यों कहा है ? 58
163. शु[] लध्यान का फल [] या है ? 59
164. तीन अघातिया कर्मों की स्थिति केवली समुद्घात के द्वारा आयुकर्म के बराबर हो जाती है। या यह तीसरे शु[] लध्यान का फल है ? 59
165. ध र्यध्यान और शु€लध्यान में €या अन्तर है ? 59

अनगार चारित्र

166. €या श्रुतकेवली उसी भव से मोक्ष जाते हैं ? €या वे उसी भव में मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकते हैं ? 60
167. अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट में [] या अन्तर है ? 60
168. [] या सभी उपाध्याय परमेष्ठी श्रुतकेवली होते हैं ? 60

169. €या सभी गणधर श्रुतकेवली होते हैं ? 60
170. या शूद्र को मुनिदीक्षा दी जा सकती है ? या शूद्र को अन्तिम समय मुनि बनाया जा सकता है? 61
171. गोत्र आदि की शुद्धि कर्मक्षय में कारण है या नहीं ? 61
172. मुनि की जघन्य व उत्कृष्ट अवगाहना कितनी होती है ? 61
173. या कोई मनुष्य परिवारीजनों की आज्ञा के बिना मुनिदीक्षा ले सकता है ? 62
174. €या मुनिमुद्रा धारण करना बन्ध का कारण है ? 62
175. द्रव्यलिङ्गी मुनि का €या स्वरूप है ? उसके कौन-कौनसे गुणस्थान होते हैं ? €या ये अभव्य ी होते हैं ? 63
176. प्रथम गुणस्थानवर्ती मुनिराज को महाव्रती मानें या नहीं ? इनकी वन्दना करनी चाहिये या नहीं ? 63
177. पहले द्रव्यलिङ्ग होता है या भावलिङ्ग ? 63
178. पंचमकाल में भावलिङ्गी साधु होते हैं या नहीं ? हमको उनका पिच्छीकमण्डलु मात्र देखकर उनकी वन्दना करनी चाहिये या उनकी परीक्षा करनी चाहिये ? 64
179. ग्रैवेयक, अनुदिश व अनुŽारों के देव मिथ्यादृष्टि होते हैं या स यग्दृष्टि भी होते हैं ? 64
180. द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग कितनी बार हो सकते हैं ? 64
181. पुलाक आदि पाँच प्रकार के मुनि द्रव्यलिङ्गी होते हैं या भावलिङ्गी ? 65
182. या मुनि एकलविहारी हो सकते हैं ? 65
183. €या पञ्चमकाल में भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में अवधिज्ञानी या ऋद्धिधारी मुनिराजों का सद्भाव है? 65
184. €या चातुर्मास स्थापना के बाद मुनिराज सीमित क्षेत्र से बाहर जा सकते हैं ? 66
185. जैन शास्त्रों के अनुसार केशलोंच के अधिकारी कौन होते हैं ? 66
186. €या मुनि या आचार्य अपने साथ में मोटर रखने की प्रेरणा दातारों से कर सकते हैं ? 66
187. मुनि को भोजन में बीज निकलने पर अन्तराय होता है या नहीं ? 67
188. यदि कोई मुनिराज अंधे हो गये हों, आँख से दिखाई न दे रहा हो, तो उनको या करना चाहिये? 67
189. श्वासोच्छ्वास निरोधपूर्वक मरण, पण्डितमरण अर्थात् सल्लेखनारूप माना जायेगा या नहीं ? 67
190. या रोगी अवस्था में मुनिदीक्षा ली जा सकती है ? 68
191. यदि किन्हीं मुनिराज के ऊपर गर्मी में कोई पंखा चला दे या सर्दी में हीटर लगा दे, तो मुनिराज या करें ? 68
192. पुलाक मुनि के रात्रिभोजनत्याग व्रत में विराधना कैसे ? 68
193. या साधु चेतन या अचेतन सवारी का उपयोग कर सकता है ? 68
194. मुनिराज रात्रि में स्त्री-पुरुषों से बात करते हैं या नहीं ? €या मुनियों को रात्रि में बोलने की अनुमति है? 69

195. [illegible] या श्रावक वैय्यावृ[illegible] ा के निमि[illegible] ा मुनिराज की तेलमालिश कर सकता है ? 69
196. गृहस्थावस्था में जो दिग्व्रत आदि नियम लिये हैं, मुनि बनने के बाद उनका पालन होता है या नहीं ? 69
197. मुनि को प्रकृति के अनुकूल भोजन करना चाहिये और चबा-चबाकर खाना चाहिये या नहीं ? 70
198. [illegible] या मुनि महाराज 8-10 घंटे तक निद्रा ले सकते हैं ? 70
199. आहार-विहार के समय छठा गुणस्थान ही रहता है या सप्तम भी हो जाता है ? 70
200. 12 वर्ष की भक्तप्रत्या यान सल्लेखना के 12 वर्ष पूरे होने पर शरीर की स्थिति रहे, तो €या करना योग्य है ? 71
201. दन्तमंजन न करने पर मुनि के दाँतों में जीवोत्पŸिा होने पर उनकी हिंसा का दोष लगता है या नहीं ? 71
202. केशलोंच के लिए राख, मुनिराज के लिये तैयार की जाती है, तो इसमें उद्दिष्ट का दोष लगता है या नहीं ? 71
203. समाधिमरण के अवसर पर नियमों में दोष लगा दें और बाद में उसका प्रायश्चित ले लें, तो उचित है या नहीं ? 72
204. सोनगढ़ से प्रकाशित द्रव्यसंग्रह पृ. 38 पर प्रमŸासंयत की व्या या करते हुये अहिंसादि शुभोपयोगरूप महाव्रतों को प्रमाद कहा है। [illegible] या यह ठीक है ? 72
205. उपवास, चार भुक्ति, षष्टम भुक्ति का [illegible] या अर्थ है ? 72
206. उग्र तप, महातप आदि ऋद्धिधारी मुनियों का शरीर बिना आहार के कैसे टिक जाता है ? 73
207. सत्य महाव्रत, भाषा समिति और वचनगुप्ति ये तीनों एक-से प्रतीत होते हैं, इनमें €या अन्तर है ? 73
208. संवररूपी गुप्ति किस गुणस्थान से प्रार भ होती है और कहाँ पर पूर्णता को प्राप्त कही गई है ? 73
209. मुनिराज के पाँच महाव्रत में स पूर्ण परिग्रहों का त्याग हो गया। फिर नग्नत्व मूलगुण €यों ? 74
210. आर्यिकाओं की पात्र तथा नवधा भक्ति-स बन्धी चर्चा। 74
211. प्रवचनसार गाथा 7 में कहा है- ''चारिŸां खलु ध मो''। तो €या चारित्र ही धर्म है ? 76
212. रत्नत्रय की पूर्णता कब होती है ? 76
212. मोहनीय कर्म का नाश 10वें गुणस्थान में होता है या 12वें गुणस्थान में ? 77
214. 11वें गुणस्थान वाले यथा यात चारित्र में और 14वें गुणस्थानवाले यथा यात चारित्र में अन्तर है या नहीं ? 77
215. €या चारित्र में लŸिध और उपयोगरूप दो अवस्थाएँ होती हैं ? 78
216. €या अविरत स यग्दृष्टि या व्रती गृहस्थ के शुद्धात्मा का ध्यान स भव है ? 78
217. €या स यग्दर्शन के साथ स यक्चारित्र का होना अवश्य भावी है ? €या इनका अविनाभाव स बन्ध है ? 79

स्वरूपाचरण चारित्र

218. स्वरूपाचरण चारित्र कौनसे गुणस्थान में होता है ? 79
219. चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र होता है या नहीं ? चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र मानना €या ठीक है ? 80
220. चतुर्थ गुणस्थान में जब संवर और निर्जरा है, तब स्वरूपाचरण चारित्र €यों नहीं मान लिया जाये ?80
221. चतुर्थ गुणस्थान में आंशिक शुद्धता है, तो आंशिक शुद्धोपयोग मानने में €या आपǐा है ? 80
222. चतुर्थ गुणस्थान में अविरत स यग्दृष्टि के स य€त्वाचरण चारित्र कहा है। फिर चारित्र €यों न मानें ? 81
223. स्वसंवेदन और स्वरूपाचरण में €या अन्तर है ? 81
224. श्री धवला में अनन्तानुबन्धी को स य€त्व और स्वरूपाचरण का घातक लिखा है। €या यह मान्यता ठीक है ? 81

द्रव्यानुयोग

द्रव्य

225. तǐवार्थसूत्र में द्रव्य के लक्षण स बन्धी दो सूत्र €यों दिये गये हैं ? 82
226. €या केवली भगवान् अनन्त बल होने के कारण अजीव को जीव और जीव को अजीव बना सकते हैं ? 82
227. □ या सभी द्रव्यों का आकार होता है ? 82
228. जीव तथा पुद्गल क्रियाशील हैं, इससे हमें □ या समझना चाहिये ? 83

जीवत□ व

229. दर्शनोपयोग को उदाहरण देकर समझाइये। 84
230. निद्रा के समय ज्ञानोपयोग रहता है या दर्शनोपयोग ? 84
231. क्षयोपशम किन कर्मों का होता है ? दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग □ या हमेशा पाये जाते हैं ? 85
232. ल□ ध और उपयोग में □ या अन्तर है ? 85
233. मन का €या कार्य है ? मनरहित जीवों के श्रुतज्ञान कैसे स भव है ? 86
234. किन्हीं आचार्यों ने ज्ञान को स्व-परप्रकाशक कहा है और किन्हीं आचार्य ने दर्शन को स्वप्रकाशक और ज्ञान को परप्रकाशक कहा है। ऐसा □ यों ? स्पष्ट करें। 86
235. ल□ ध्यपर्याप्तक जीवों के द्रव्येन्द्रिय और द्रव्य मन नहीं होने से ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग कैसे?6
236. दर्शनोपयोग और स यग्दर्शन में €या भेद है ? 86
237. निश्चयनय और व्यवहार नय का □ या स्वरूप है ? 87
238. कुछ लोग मिथ्यादृष्टि के भी व्यवहार स यग्दर्शन मानते हैं। €या उनकी धारणा आगम स मत है ?87

239. स यग्दर्शन के 4 लक्षण कहे गये हैं। इनमें से स यग्दर्शन का यथार्थ लक्षण €या है ? 88
240. व्यवहार स यग्दर्शन और निश्चय स यग्दर्शन का €या लक्षण है ? 88
241. सराग स य€त्व और वीतराग स य€त्व का €या स्वरूप है ? 89
242. €या निश्चय और व्यवहार स यग्दर्शन तथा वीतराग और सरागस यग्दर्शन एक साथ रह सकते हैं या नहीं ? 89
243. राजवार्तिक में क्षायिक स य€त्व को वीतराग स यग्दर्शन €यों कहा है ? 89
244. सरागसंवेदन और वीतरागसंवेदन का या स्वरूप है ? 89
245. स्वानुभव का लक्षण €या है ? यह कौन से गुणस्थान से प्रारं ा होता है ? 90
246. €या आचरणहीन पुरुष को स यग्दर्शन हो सकता है ? 90
247. संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च तžवों का नाम भी नहीं जानते, फिर उनके स यग्दर्शन कैसे हो जाता है ?91
248. पाँचों भाव जीव में होते हैं, तो अन्य द्रव्यों में कोई भी भाव पाया जाता है या नहीं ? 91
249. भावास्रव पाँच प्रकार का कहा गया है। ये किस-किस गुण की विकारी पर्यायें हैं ? 91
250. द्रव्यलिङ्गी मुनि आžर्ा रौद्र परिणामों के कारण उपरिम ग्रैवेयक तक जाते हैं या ध र्यध्यान से ?91
251. ईर्यापथ आस्रव में कषाय का अभाव होने से स्थिति बंध या अनुभाग बंध होता है या नहीं ? 92
252. ज्ञान का फल कुछ लोग स यग्दर्शन प्राप्त होना मानते हैं। उनके अनुसार चारित्र, ज्ञान का फल नहीं है। या उनकी मान्यता ठीक है ? 92
253. €या भगवान् की भक्तिरूप शुभराग स य€त्व प्राप्ति में कारण है या नहीं ? 92
254. स यग्दर्शन का विषय द्रव्य है या पर्याय ? 93
255. तीन शल्यों में से €या किसी शल्य के रहते स यग्दर्शन हो सकता है ? 93
256. €या स यग्दृष्टि सर्वथा निर्भय रहता है ? €या उसके चारों संज्ञायें नहीं होती हैं ? 93
257. कुछ लोग कहते हैं कि द्रव्य दृष्टि सो स यग्दृष्टि और पर्यायदृष्टि सो मिथ्यादृष्टि। €या उनका ऐसा मानना उचित है ? 94
258. ज्ञान और स यग्ज्ञान में कारण €या है ? 94
259. किस गुणस्थान में कौन सी चेतना माननी चाहिये ? 94
260. आत्मा का ज्ञायक भाव €या है ? €या ज्ञायक भाव संसार अवस्था में भी रहता है ? 95
261. छहढाला में 'कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे' यह पंक्ति आई है। यहाँ 'ज्ञान बिन' से €या तात्पर्य है ? 95
262. रागादि भाव जीव के मानने चाहिये या पुद्गल के ? 95
263. स्वभाव और विभाव की या परिभाषा है ? 95
264. निगोद से जो जीव बाहर निकलते हैं उसमें उनका पुरुषार्थ कारण है या कर्मोदय कारण है ? 96

265. विग्रहगति में सुख-दु:ख, राग-द्वेष तथा आस्रव-बंध कैसे होता होगा ? वहाँ न तो मन है और न इन्द्रियाँ ? 96
266. निर्वाण होने पर आत्मप्रदेश लोकाकाश प्रमाण €यों नहीं हो जाते, शरीर प्रमाण ही €यों बने रहते हैं ? 96
267. ऊर्ध्वगमन यदि आत्मा का स्व ाव है तो ऊर्ध्वगमन गुण है या पर्याय ? 97
268. जीव पदार्थ, जीवास्तिकाय, जीवद्रव्य, और जीवत व में या अन्तर है ? 97
269. एक निगोद शरीर में रहने वाले अनन्त जीवों को दु:खानुभव एक प्रकार का होता है या उसमें कुछ अन्तर होता है ? 97
270. आत्मा और जीव में €या कुछ अन्तर है ? 98
271. आत्मा को सर्वव्यापी कैसे कहा गया है ? 98

पुद्गल

272. €या ऐसे शुद्ध पुद्गल परमाणु भी हैं जो अनादि से शुद्ध ही हैं और अनंतकाल तक शुद्ध ही रहेंगे ?98
273. या शुद्ध पुद्गल एक समय तक ही शुद्ध रह सकता है या बहुत समय तक ? 99
274. तžवार्थ सूत्र अध्याय 05 में जो बंध व्यवस्था कही गई है वह परमाणु संबंधी है या स्कन्ध संबंधी ?99
275. परमाणु में आठ स्पर्शों में से 04 स्पर्श ही कहे गये हैं अन्य €यों नहीं ? 99
276. जब एक जघन्य अंश वाला परमाणु अधिक अंश वाला होता है तो उसमें निमिžा €या है ? 100
277. नियमसार गाथा 25 में पृथ्वी, जल आदि का कारण परमाणु कहा है, परन्तु वनस्पति का कारण परमाणु €यों नहीं कहा ? 100
278. शŠद गुण है या पर्याय ? 100
279. श द और प्रकाश किस इन्द्रिय के विषय हैं ? 101
280. ज्ञानावरण कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बँधने पर उन स्कन्धों के परमाणु €या 30 कोड़ाकोड़ी सागर तक उसी रूप बने रहते हैं ? 101
281. तžवार्थसूत्र अध्याय 8/2 में 'कर्मणो योग्यान् पुद्गलान्' लिखा है इससे €या समझना चाहिये ?101
282. समयसार गाथा 392 और 398 में रूप और वर्ण ये दोनों शŠद अलग-अलग प्रयुक्त हुये हैं इसका €या कारण है ? 102
283. रूपादिक गुणों को अमूर्त कहा गया है। जब पुद्गल मूर्तिक है तब उसके गुण अमूर्तिक कैसे ?102
284. या जीव के संबंध से पुद्गल को भी अमूर्तिक कहा जा सकता है ? 102

धर्म-अधर्म-आकाश-काल

285. धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य का मात्र स्वाभाविक परिणमन ही होता है या वैभाविक भी ? 103

286. जो द्रव्य है वह गुण या पर्याय स्वरूप है या नहीं ? 103
287. जीव और पुद्गल के अलावा शेष चार द्रव्य निष्क्रिय कहे हैं तब फिर इनमें परिणमन कैसे माना जाये ? 103
288. सोनगढ़ से प्रकाशित मोक्षशास्त्र के अनुसार मुक्तजीव के गमन का वर्णन उचित है या नहीं ? 104
289. जीव और पुद्गल के अलावा अन्य चार द्रव्य अरूपी हैं, हमारे अनुभव में नहीं आते। इनको कैसे मानें? 104
290. अवकाश देना आकाश का ही असाधारण गुण €यों कहा गया ? सिद्धों में भी तो यह गुण पाया जाता है। 105
291. समय को अविभागी माना जाये या कथञ्चित् सविभागी भी माना जा सकता है ? 105
292. काल द्रव्य के परिणमन में सहकारी कौन? 105
293. सर्वज्ञ ने आकाश के अंत को जान लिया है, अत: आकाश को सांत मानना उचित है या अनुचित ?106

आस्रव

294. □ या भावास्रव, द्रव्यास्रव तथा बंध एक समय में होते हैं? 106
295. जीव के विभाव परिणमन में कर्मबंध कारण है या अन्य कोई ? 106
296. पाप और पुण्य जीव के हैं या पुद्गल के ? 107
297. भाव सहित क्रिया का फल होता है। कुछ क्रियायें भावरहित भी तो होती हैं, तो उनका फल होता है या नहीं ? 107
298. पुण्य को हेय मानें या उपादेय ? €या पुण्य मोक्ष प्राप्ति में सहायक है ? 108
299. सोनगढ़ मान्यता वाले लोग पुण्य को विष्ठा कहते हैं। €या उनका कथन सत्य है? 108
300. स्त्री पर्याय के प्राप्ति के कारण €या है ? स्त्री पर्याय से छूटने का उपाय €या है ? 108
301. वर्तमान में मिथ्यात्व, अविरति आदि रूप आस्रव सबके पाया जाता है या किन्हीं के नहीं भी होता? 109
302. शुद्धोपयोग में कर्मों का आस्रव और बंध होता है या नहीं ? 109

बंध

303. स यग्दृष्टि के स य€प्रकृति नामक दर्शनमोहनीय कर्म प्रकृति का उदय होने से किन कर्मों का बंध होता है? 109
304. 53 भावों में से कौन-कौन भाव बंध में कारण हैं ? 110
305. सं€लेश और विशुद्धि का €या लक्षण है ? 110
306. अबुद्धिपूर्वक बंध और उदय किसको कहते हैं ? 110
307. €या रत्नत्रय कर्मबंध में कारण है ? 111

308. शुभोपयोग से निर्जरा होती है या नहीं ? 111
309. समयसार में अविरत स यग्दृष्टि को अबंधक कहा है वह कैसे ? 112
310. अविरत स य€त्वी के बंध, संवर और निर्जरा किस-किस कषाय की होती है ? 112
311. दो अमूर्तिक द्रव्यों का बंध किस अवस्था में हो सकता है ? 112
312. कानजी स्वामी के अनुसार हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प पुण्य बंध होता है। €या यह ठीक है ? 112
313. €या स यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण भी होता है ? 113
314. €या पुण्य और पाप को समान मानना उचित है ? 114
315. €या एक ही परिणाम से बंध और मोक्ष दोनों होना संभव है ? एक कारण से दोनों कैसे ? 114
316. कर्म मूर्तिक हैं और जीव अमूर्तिक है। इन दोनों का स बन्ध कैसे हो सकता है ? 115

संवर-निर्जरा

317. संवर और निर्जरा करने के लिये या आवश्यक है ? 115
318. पहली प्रतिमाधारी, ऐलक तथा आर्यिका का पंचम गुणस्थान होता है। तो €या इनकी संवर या निर्जरा में कोई विशेषता होती है ? 116
319. गुप्ति आदि से पाप का संवर होता है या पुण्य का भी ? €या गुप्ति के काल में बंध भी होता है ? 116
320. अविपाक निर्जरा किसे कहते हैं ? यह कौन से गुणस्थान से प्रार भ होती है ? 116
321. असंयत स यग्दृष्टि जीव के प्रतिसमय निर्जरा होती है या नहीं ? 117
322. €या एक मुनिराज से कभी नारकी जीव की निर्जरा असं यातगुणी हो सकती है ? 117
323. स यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के कारण कैसे ? €या उस समय उसके कर्मबंध नहीं होता ? 117

मोक्ष, सिद्ध

324. सिद्धों की अवगाहना अन्तिम शरीर से कितनी कम होती है ? 118
325. या अनेकांतवाद खिचड़ीवाद है ? 118
326. लेच्छखंड में उत्पन्न होने वाले जीव उसी भव से मोक्ष जा सकते हैं या नहीं ? 118
327. €या गणधर तद्भव मोक्षगामी ही होते हैं ? 119
328. हुण्डक संस्थान वालों को दीक्षा और मोक्ष कैसे ? 119
329. मुक्त जीवों में भी योगशक्ति मानना उचित है या नहीं ? 119
330. सिद्ध भगवान् के किस कर्म के क्षय से कौन सा गुण प्रकट होता है ? 120
331. सिद्धों में अनंत सुख किस कर्म के नाश से प्राप्त होता है ? 120
332. तžवार्थसूत्र 10/9 की अपेक्षा सिद्धों को चारों गतियों से सिद्धि होती है। ऐसा किस प्रकार कहा है ? 120

333. सिद्धों में नौ क्षायिक लŽधयाँ होती हैं परन्तु तž वार्थसूत्र 10/4 में क्षायिक स य€त्व, क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शन इनका ही उल्लेख यों है शेष छः का यों नहीं ? 121
334. सिद्ध भगवान् में कितनी मार्गणाओं का उल्लेख पाया जाता है ? 121
335. €या व्यवहार मोक्षमार्ग चौथे से बारहवें गुणस्थान तक और निश्चय मोक्षमार्ग तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में मानना ठीक है ? 121
336. छह महीने आठ समय में 608 जीव मोक्ष जा रहे हैं, तो एक दिन संसार खाली हो जाना चाहिये ? 122

द्रव्य, गुण, पर्याय

337. धर्म और गुण में €या अंतर है ? 122
338. €या किसी भी गुण की एक समय में एक से अधिक पर्यायें हो सकती हैं ? 122
339. पञ्चाध्यायी में गुणों के दो भेद कहे हैं- अनुजीवी और प्रतिजीवी। इनकी परि ाषा €या है ? 123
340. सिद्धों में नास्तित्व गुण का सद्भाव कैसे है ? नास्तित्व यह स्वभाव है या गुण ? 123
341. €या निगोदिया जीव के भी अवगाहनत्व गुण माना जाये ? 123
342. प्रत्येक द्रव्य में कितने अगुरुलघु गुण होते हैं ? उनका €या स्वरूप है ? 124
343. जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं और गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं ऐसा लिखा है €या ये लक्षण ठीक हैं ? 124
344. अभाव कितने प्रकार का होता है ? 125
345. अन्योन्याभाव की सही परिभाषा। 125
346. भव्यत्वभाव और अभव्यत्वभाव ये गुण हैं या पर्याय ? 125
347. परिस्पंद व क्रिया ये दोनों पर्यायवाची हैं या इनमें भिन्नता है ? 125
348. उत्पाद और व्यय निरपेक्ष होते हैं या नहीं ? 126
349. पुद्गल परमाणु और सिद्धों में भी क्रियावती शक्ति होती है या नहीं ? 126
350. या सर्व पर्यायों के समूह का नाम द्रव्य है ? 126
351. €या यह नियम माना जाये कि एक द्रव्य में एक गुण की एक ही पर्याय होती है ? 127
352. या सर्वज्ञ ने द्रव्य की समस्त पर्यायों को जान लिया है ? या द्रव्य इस अपेक्षा सादि सांत है ? 127
353. €या जीव के गुण व धर्म पुद्गल में चले जाते हैं और पुद्गल के गुण व धर्म जीव में चले जाते हैं? 128
354. द्रव्य पर्याय के कितने भेद होते हैं ? 128
355. सिद्धों में वैभाविक द्रव्य और पर्यायशक्ति होती है या नहीं ? 128
356. अमूर्तिक द्रव्यों का या आकार होता है ? 128
357. स य€त्वरहित आत्मा में जिनत्व शक्तिरूप में है या नहीं ? 129

358. गुणी में गुण सर्वाङ्ग में व्यापकरूप से रहते हैं या एकदेश में ? गुण और गुणी में भेद है या नहीं ?129
359. आत्मा में अव्याबाध अनन्तसुख किस कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है ? 129
360. [illegible] या कोई व्यंजन पर्याय चिरकाल स्थायी भी होती है ? 130
361. अनुभूति को ज्ञान गुण की पर्याय माना जाये या चारित्र गुण की ? 130

क्रमबद्ध पर्याय

362. €या हमारा परिणमन केवलज्ञान के अधीन है ? 130
363. [illegible] या भविष्य की सभी पर्यायें नियत हैं या कुछ अनियत भी हैं ? 131
364. सृष्टि अनादि है और उसका कभी अन्त नहीं होगा तो सर्वज्ञ इसके आदि या अंत को जानते हैं या नहीं ? 132
365. €या प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है और नियत है ? 132
366. €या 'पर्याय सर्वथा नियत हैं' ऐसी मान्यता एकान्त मिथ्यात्व है ? 135

अनेकांत-स्याद्वाद

367. [illegible] या दुनिया के मिथ्या एकांत मिलकर अनेकांत को जन्म दे सकते हैं ? 135
368. स्याद्वाद के सप्तभंगी न्याय को समझायें ? 136
369. स्याद्वाद और अनेकान्त में [illegible] या अन्तर है ? 136

उपादान-निमि[illegible]

370. निमि[illegible] और नैमिर्ति[illegible]क का [illegible] या स्वरूप है ? 137
371. €या मुमुक्षु जीव को निमिž और उपादान दोनों को सुधारना चाहिए या मात्र उपादान को ? 137
372. €या उपादान कारण एवं कार्य में समय भेद होना आवश्यक नहीं है ? 137
373. पेड़ से टूटा हुआ आम पड़ा-पड़ा बड़ा [illegible] यों नहीं होता ? 138
374. [illegible] या कर्म प्रेरकनिमि[illegible] है ? 138

कार्यकारण व्यवस्था

375. सोनगढ़ वालों के अनुसार तीर्थङ्कर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता। €या ऐसा मानना ठीक है ? 138
376. सोनगढ़ से प्रकाशित 'मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें ' नामक पुस्तक के पृ. 178 पर लिखा है ' उपदेश देना मुनि का लक्षण नहीं है, उपदेश जड़ की क्रिया है, आत्मा उसे कर नहीं सकता।' [illegible] या ऐसा मानना ठीक है ? 139
377. €या कु भकार को घट का कारण मानना गलत है ? कारण की परिभाषा €या होती है ? 140
378. €या कारण के अनुसार ही कार्य होता है, ऐसा नियम है ? 140
379. मोक्ष का पुरुषार्थ पूर्व कर्मों के उदय से होता है या इस जीव को वैसे कारण बनाने पड़ते हैं ? 140

380. कार्य की सिद्धि ाग्य से होती है या पुरुषार्थ से ? 141
381. अनुकूल बाह्य सामग्री की प्राप्ति कैसे होती है ? 141
382. €या एक कारण से अनेक कार्य भी संभव होते हैं ? 142
383. रत्नत्रय से बंध भी हो और मोक्ष ी, ये दोनों परस्पर विरुद्ध कार्य कैसे संभव हैं ? 142
384. किसी को तǔवोपदेश सुनने पर भी स य€त्व की प्राप्ति नहीं हुई। तो तǔवोपदेश के कारणपने ने वहाँ या किया ? 143
385. एक कारण से भिन्न-भिन्न कार्यों की उत्पǔि कैसे हो सकती है, अत: कार्य हो जाने पर ही कारण का आरोप करना उचित है या नहीं ? 143
386. द्रव्यकर्मोदय तथा रागादि का अविनाभाव स बन्ध है या नहीं ? 143

नय-निक्षेप

387. सोनगढ़ से प्रकाशित छहढाला के अनुसार 'दया,दान महाव्रतादि के शुभभाव, जो कि पुण्यास्रव हैं, उनसे संसार परीत होना बतलाये वे सब शास्त्र कुशास्त्र हैं। €या उनका ऐसा अर्थ करना आगम स मत है ? 144
388. सोनगढ़ से प्रकाशित मोक्षशास्त्र में गलत प्ररूपणा। 145
389. आत्मा और इन्द्रिय में ि ान्नपना है या अभिन्नपना ? 145
390. निश्चयनय और व्यवहारनय का या स्वरूप है ? 146
391. €या व्यवहारनय सत्य का प्रतिपादन नहीं करता है ? €या इसको झूठ मानना उचित है ? 146
392. समयसार गाथा 11 में व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है, उसका €या कारण है ? 147
393. या शुद्ध निश्चय भी सर्वथा भूतार्थ नहीं है ? 148
394. किसी भी नय-उपदेश को सर्वथा (सत्य) समझ लेना उचित है या नहीं ? 148
395. €या निश्चयनय के ही कथन को ग्रहण करने वाले मिथ्यादृष्टि होते हैं ? 149
396. या निश्चयनय को उपादेय और व्यवहारनय को हेय मानना उचित है ? 149
397. या अरहंतों का स्वरूप जानकर उनकी पूजा करना व्यवहाराभास है ? व्यवहाराभास का स्वरूप या है ? 150
398. कुछ लोगों की मान्यता है कि पहले निश्चय फिर व्यवहारनय होता है। या उनकी मान्यता आगमस मत है ? 150
499. निश्चय हो जाने पर ही पर में कारणपने का उपचार किया जाता है या पहले से ही ? 151
400. कानजी स्वामी ने निश्चय रत्नत्रय को मोक्षमार्ग और व्यवहार रत्नत्रय को बंध मार्ग कहा है। €या यह ठीक है ? 151
401. व्यवहारनय किस गुणस्थान तक प्रयोजनवान् है ? 151

402. उपचरित स्व ाव का ग्राहक व्यवहारनय समीचीन है या नहीं ? 152
403. €या व्यवहारनय के कथन द्वारा वस्तु स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता ? 152
404. 'जियो और जीने दो' का उपदेश यों ? 153
405. संश्लेष स बन्ध किस नय का विषय है ? 153
406. नय और निक्षेप में या अन्तर है ? 153
407. यदि किसी मनुष्य का नाम 'शेरसिंह' रखा जावे, तो या यह 'नाम निक्षेप' नहीं है ? 154
408. नाटक में जो पार्ट किया जाता है, वह किस निक्षेप का विषय है ? 154
409. स यग्दृष्टि को व्यवहारसापेक्ष निश्चय का बोध होता है या नहीं ? 154
410. €या छह द्रव्य और नौ पदार्थों का जानना हेय है, €योंकि यह तो व्यवहार स य€त्व में कारण है ?154
411. वर्तमान में हमारी आत्मा शुद्ध है या अशुद्ध ? 155
412. €या पर्यायदृष्टि से मोक्षमार्ग स भव है ? 155

पुण्य का विवेचन

413. पुण्य का विशेष विवेचन कीजिए। 157

विभिन्न आगमिक परिभाषायें

414. सूक्ष्म निगोदिया के अक्षर के अनंतवें भाग ज्ञान होता है। यहाँ अक्षर से या अभिप्राय है ? 159
415. प्रतिगणधर देव कौन होते हैं ? 159
416. मोह और राग में या अंतर है ? 160
417. व्रत, संयम और चारित्र इन तीनों शŽदों को पर्यायवाची माना जाये या इनकी परिभाषा में अंतर है? 160
418. समवाय संबंध का या स्वरूप है ? 160
419. मंगल कितने प्रकार का होता है ? उसमें णमोकार मंत्र कौन सा मंगल है ? 160
420. आचार्यादिक तीन परमेष्ठियों को भगवान् कहना कैसे उचित है ? 161
421. मूच्र्छा की परिभाषा। 161
422. मस्तिष्क और मन में या अंतर है ? 161
423. पं0 वृन्दावन कृत् शांतिनाथ पूजा के प्रथम छंद का अर्थ या है ? 162
424. देवशास्त्रगुरु पूजा की जयमाला में 'चउकर्म की त्रेसठ प्रकृति नाश' बोलना ठीक है या नहीं ?162
425. पुण्यजीव और पापजीव से €या समझना चाहिये ? 163
426. जीव पुण्य और अजीव पुण्य का €या स्वरूप है ? 163
427. अणु-परमाणु तथा प्रमेय-प्रमाण में €या अन्तर है ? 163
428. उपक्रमणकाल किसे कहते हैं ? 163

429. 'काल क्षय' श द का या अर्थ है ? 163
430. तž वार्थसूत्र में निर्ग्रन्थ मुनि के पाँच भेदों में एक भेद कुशील भी है। यहाँ पर 'शील' शŽद का या अर्थ है ? 164
431. उदयाभावी क्षय का स्वरूप या है ? 164
432. चतुर्यम का €या अ ाप्राय है ? यह शŽद राजवार्तिक 1/7/14 में आया है। 164
433. पाप और कषाय में या अंतर है ? 165
434. पुण्य और पाप के कौन-कौनसे भेद हैं ? 165
435. बृहद्द्रव्य संग्रह में पृष्ठ 3 पर 'समुदाय पातनिका' श द आया है। इसका या अर्थ है ? 165
436. समयसार ग्रन्थ में बार-बार अध्यवसान श द आता है इसका या अर्थ होता है ? 165
437. सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ 456 पंक्ति 16 में 'भाव परमाणु' शŽद आया है, इसका €या अर्थ है ? 166
438. पंचसंग्रह पृ. 53 पर 'मरणावली' शŽद आया है, इसका €या अर्थ है ? 166
439. 'सर्वगत चैत्र' शŽद का €या अर्थ है ? 166
440. वैयावृ ा एवं साधुसमाधि भावना में या अंतर है ? 166
441. 'संयोजना सत्य' का €या स्वरूप है ? 166
442. श्री रत्नकरण्डक श्रावकाचार गाथा 28 में चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए मनुष्य को भी देव €यों कहा गया है ? 167
443. सत्य और असत्य का €या लक्षण है ? €या जैन आगमानुसार वास्तविक वचन ही सत्य वचन हैं ? 168
444. पूजा की प्रस्तावना आदि में यज्ञ श द आता है। इसका या अर्थ लगाना चाहिये ? 169
445. भावस्त्री को मोक्ष कहा गया है। यहाँ पर भावस्त्री से €या प्रयोजन है ? 169
446. त्रिशुद्धा भिक्षा और उद्दिष्ट आहार का €या अर्थ है ? 170
447. पृथ€त्व शŽद का €या अर्थ लेना चाहिये ? 170
448. यवमध्यसिद्ध का या अर्थ है ? 170
449. योगसंक्रान्ति का या अर्थ है ? 170
450. सल्लेखना और समाधिमरण में कुछ अन्तर है या नहीं ? 170
451. सूच्यंगुल का प्रमाण कितना मानना चाहिये ? 171

विविध

452. रूस का समाचार है कि एक कु ो की गर्दन काटकर दूसरे कु ो की गर्दन पर जोड़ दी गई। अब वह कुžा दोनों मुँह से खाता पीता है। तो €या गर्दन कटे हुये कुžो की आत्मा दूसरे कुžो में प्रवेश कर गई। वास्तविकता या है ? 171
453. सोनगढ़ से प्रकाशित आत्मधर्म में लिखा है कि जिस समय कहान जी स्वामी का जन्म हुआ उस

समय स्वर्गलोक में इन्द्र का आसन क पायमान हुआ और देवों ने जन्मोत्सव मनाया। €या ऐसा मानना उचित है ? 171
454. €या सामान्य केवली की मूर्ति का निर्माण किया जा सकता है ? 172
455. गृह चैत्यालय में 5 इंच पद्मासन अवगाहना की मूर्ति विराजमान कर सकते हैं या नहीं ? 172
456. प्रतिमा पर किस आधार से चिह्न बनाये गये हैं ? 172
457. आगम की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का निर्णय कैसे होता है ? 172
458. €या पञ्चाध्यायी प्रामाणिक ग्रंथ है ? 173
459. भक्तामर स्तोत्र के 17 वें और 18 वें श्लोक में राहु शŽद का प्रयोग €यों ? 174
460. क्षायिक स य€त्व आदि भिन्न-भिन्न गुणस्थानों में पाये जाते हैं, इनमें €या अंतर है ? 174
461. कर्मभूमि की आदि में धान्यादिक की उत्पŽा का प्रार भ कैसे होता है ? 175
462. हमारा कौन सा परिवर्तन कब प्रार भ हुआ और कब अन्त होगा ? वह बतायें ? 175
463. €या पण्डितों द्वारा किये गये हिन्दी अनुवाद मात्र पढ़ने से शास्त्र का यथार्थ व पूर्णज्ञान हो सकता है? 175
464. किसी ने कोई पद्यानुवाद या पूजा लिखी हो तो या हमें उसमें परिवर्तन करने का अधिकार है ? 176
465. अष्टमी और चतुर्दशी का या मह व है ? 176
466. €या धर्मात्मा आदमी संसार में अधिक समय नहीं रहते ? 176
467. €या हम अपने या अन्य के स य€त्व को जान सकते हैं ? 177
468. वर्तमान पंचमकाल में स यग्दृष्टि जीव हैं या नहीं ? 177
469. मोक्षमार्ग हेतु द्रव्यश्रुत और भावश्रुतज्ञान आवश्यक है या नहीं ? 177

PDFaid.com
#1 pdf solutions online

प्रथमानुयोग

प्रश्न : ? या केवली भगवान् का शरीर केवलज्ञान हो जाने के बाद पाँच हजार धनुष ऊपर उठ जाता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 77)*

उ? र श्री मु तार साहब के अनुसार तो सभी सामान्य केवली तथा तीर्थङ्करों का शरीर पाँच हजार धनुष ऊपर उठ जाता है। ऐसा विभिन्न शास्त्रों में कहा गया है, परन्तु एक अन्य विद्वान् पं0 रतनलाल जी कटारिया, केकड़ी के अनुसार तीर्थङ्कर केवलियों का शरीर तो पाँच हजार धनुष ऊपर उठ जाता है, €योंकि उनके समवसरण में बीस हजार सीढ़ियाँ होती हैं और वहाँ फिर गंधकुटी बनती है। सामान्य केवली का समवसरण नहीं बनता, मात्र गंधकुटी ही होती है। इसलिये वराङ्गचरित्र तथा बाहुबलि-कथा के अनुसार पं0 रतनलाल जी कटारिया, सामान्य केवली का पाँच हजार धनुष ऊर्ध्वगमन नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि सामान्य केवली पृथ्वी पर ही विराजमान रहते हैं और जमीन से चार अङ्गुल ऊपर रहते हैं।

प्रश्न : केवलज्ञान होने पर केवली भगवान् का शरीर 5000 धनुष ऊपर उठ जाता है तो ? या उनको मोक्ष आकाश से ही होता है या वे मुक्ति से पूर्व नीचे आ जाते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1329)*

उ? र केवलज्ञान होने पर सभी केवलियों का शरीर 5000 धनुष ऊपर उठ जाता है परन्तु निर्वाण के समय केवली भगवान् नीचे आ जाते हैं। अन्यथा स्थलगत सिद्धों का कथन नहीं बन सकेगा। शास्त्रों में सिद्धों को तीन प्रकार का कहा गया है - स्थलगत, जलगत, व आकाशगत। इनका स्वरूप क्रमश: भूमि पर सिद्ध होने वाले, जल पर से सिद्ध होने वाले, और आकाश पर से सिद्ध होने वाले है। अत: स्थलगत सिद्धों का मुक्ति से पूर्व नीचे आ जाना उचित है परन्तु फिर भी वे भूमि से चार अंगुल ऊपर ही रहते हैं।

प्रश्न : केवलज्ञान होने पर €या उन मुनिराज के छिन्न-भिन्न अङ्ग स पूर्ण हो जाते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 90)*

उ? र प्रं0 मु तार साहब ने इस प्रश्न के उǍार में कहा है कि समयसार कलश 26 में जिनेन्द्र भगवान् के शरीर को 'सर्वांगम्' विशेषण दिया है। द्रव्यसंग्रह गाथा 14 और 51 की टीका में मुक्त जीवों की आत्मा के प्रदेशों का आकार अन्तिम शरीर से कुछ कम कहा है। इससे यह सिद्ध है कि केवलज्ञान होने पर सर्व अङ्गोपाङ्ग पूर्ण हो जाते हैं। पण्डित जी ने इस स बन्ध में कोई स्पष्ट आगम नहीं दिया है।

इस स बन्ध में कुछ विद्वानों का कथन है कि जिन केवलियों के अङ्गोपाङ्ग छिन्नभिन्न हो जाते हैं, वे अन्तकृत् केवली होते हैं और उनको केवलज्ञान होने पर अन्तर्मुहूर्त में ही मोक्ष हो जाता है। 64 ऋद्धियों में ऐसी ऋद्धियों का वर्णन तो है, जो रोगों को या विष आदि को समाप्त कर देती हैं, परन्तु छिन्न-भिन्न अङ्गों का निर्माण कर देनेवाली किसी ऋद्धि का वर्णन शास्त्रों में नहीं है। पूज्य आचार्यश्री एवं पं0 माणिकचन्द्र जी कौन्देय के अनुसार अङ्गभङ्गसहित केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले केवली अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। विशेषता यह होती है कि सिद्ध पद प्राप्त करने से पूर्व उनके आत्मप्रदेश पूर्ववत् सर्वाङ्ग हो जाते हैं। पूज्य आचार्यश्री के अनुसार यदि किन्हीं मुनिराज को, जो पद्मासन से विराजमान थे, किसी जंगली पशु ने घसीटा और खाया हो और परिणामों की विशुद्धि होने पर उनको केवलज्ञान और अन्तर्मुहूर्त बाद मोक्ष भी हुआ हो, तो उनके आत्मप्रदेश पूर्ववत् पद्मासन आकार में अवश्य आ जाते होंगे, योंकि सभी सिद्धों के सिर लोकाकाश के अन्तिम भाग को स्पर्श करते ही हैं।

प्रश्न : केवलज्ञान होने पर पिच्छी कमण्डलु का €या होता है ? €या सभी को मुनि अवस्था में पिच्छी कमण्डलु रखना अनिवार्य है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1302-03)

उ र क्षपकश्रेणी प्रारंभ हो जाने के पश्चात् ही पिच्छिका कमण्डलु आवश्यक नहीं रहते। केवलज्ञान हो जाने के पश्चात् प्रयोजन पूरा हो जाने से वे छूट जाते हैं। परन्तु आगम में यह कथन नहीं पाया जाता कि बाद में उनका €या होता है। सभी मुनियों के द्वारा पिच्छी कमण्डलु ग्रहण करना आवश्यक है या नहीं, इस संबंध में विभिन्न आगम प्रमाण इस प्रकार हैं-

1. महापुराण आदि में तीर्थङ्करों के द्वारा पिच्छी कमण्डलु ग्रहण करने का कोई उल्लेख नहीं है।

2. भावपाहुड गाथा 79 की टीका के अनुसार तीर्थङ्कर, सप्तऋद्धिधारी मुनिराज, और अवधिज्ञानियों के पिच्छी कमण्डलु नहीं होते।

3. वामदेव कृत् भावसंग्रह के अनुसार अवधिज्ञान होने के बाद पिच्छी आवश्यक नहीं रहती।

5. नियमसार गाथा 64 की टीका के अनुसार उपेक्षा संयमियों के पिच्छी, कमण्डलु आदि नहीं होते हैं।

5. जयसेन प्रतिष्ठापाठ पृ. 27 के अनुसार शौच क्रिया तथा जीवहिंसा के अभाव के कारण तीर्थङ्करों के पिच्छी, कमण्डलु नहीं होते।

उपर्युक्त प्रमाण आचार्यों के हैं। अन्य बहुत से विद्वानों ने भी कहा है कि तीर्थङ्करों के पिच्छी कमण्डलु नहीं होते। पिच्छी कमण्डलु कहाँ से आते हैं इस संबंध में आगम में स्पष्ट विधान नहीं है। परन्तु विद्वानों के अनुसार समवसरण में दीक्षा लेने वालों के लिये पिच्छी कमण्डलु की व्यवस्था इन्द्र आदि के द्वारा तुरन्त कर दी जाती है।

प्रश्न : €या सामान्य केवलियों के भी कल्याणक होते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1304)

उ□ ार प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में सामान्य केवलियों के गर्भ,जन्म और तप कल्याणक होने का वर्णन नहीं मिलता है किन्तु केवलज्ञान और मोक्ष के समय देवों का आना और उनकी पूजा करने का उल्लेख प्राप्त होता है। कल्याणक की परिभाषा है कि देवों के द्वारा विशेष पूजा स मान का प्राप्त होना कल्याणक है। अत: सामान्य केवलियों के ज्ञान और मोक्षकल्याणक होते हैं। किन्तु ये कल्याणक तीर्थङ्करों के कल्याणकों के समान नहीं होते, €योंकि उनके तीर्थङ्कर प्रकृति का उदय नहीं होता है।

प्रश्न : अन्तिम केवली कौन थे ? €या सभी गणधर श्रुतकेवली होते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 91-92)

उ□ ार भगवान् महावीर के निर्वाण को प्राप्त होने पर बासठ वर्ष तक तीन अनुबद्ध केवली इस भरतक्षेत्र में रहे। इसी काल में अन्य पाँच केवली भी हुये। इनके बाद श्री विष्णु, श्री नन्दि, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच आचार्य सौ वर्षों में हुये। ये सभी द्वादशाङ्ग के ज्ञाता श्रुतकेवली थे। अन्तिम श्रुतकेवली महाराज भद्रबाहु आचार्य हुये, जो सम्राट् चन्द्रगुप्त के गुरु थे।

जहाँ तक गणधर देव का प्रश्न है, वे तो द्वादशाङ्ग के ज्ञाता ही नहीं, बल्कि द्वादशाङ्ग की रचना करनेवाले हैं, वे गणधर बनने के साथ ही श्रुतकेवली भी हो जाते हैं। श्रुतकेवलियों से गणधरों का स्थान ऊँचा होता है। गणधरों के केवलज्ञान ऋद्धि के अलावा सभी त्रेसठ ऋद्धियाँ पाई जाती हैं।

प्रश्न : जैनधर्म के चलानेवाले कौनसे भगवान् थे ? अर्थात् इसका प्रार भ किसने किया ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 78)

उ□ ार जैनधर्म अनादिकाल से है। इसके प्रार भकŠार्ा कोई नहीं हैं। स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली पुस्तकों में कहीं पर भगवान् महावीर को और कहीं पर भगवान् ऋषभदेव को जैनधर्म का प्रार भ करनेवाला कहा गया है, जो गलत है। संसार अनादि से है और जैनधर्म भी अनादिकाल से है। तीर्थङ्कर भगवान् जैनधर्म के जन्मदाता नहीं हैं, बल्कि जैनधर्म का स्वरूप समझानेवाले अर्थात् प्रवर्तन करानेवाले हैं।

प्रश्न : भगवान् महावीर के बाद कितने केवली और हुये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 82)*

उ□ ार भगवान् महावीर के बाद आठ केवली और हुये, ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। उनमें तीन अनुबद्ध केवली थे और पाँच अन्य केवली थे। जहाँ एक केवली को जिस दिन मोक्ष हुआ हो, उसी दिन अन्य मुनिराज को केवलज्ञान प्राप्त होता है, उनको अनुबद्ध केवली कहते हैं। तदनुसार जिस दिन महावीर स्वामी को मोक्ष हुआ, उसी दिन गौतम स्वामी को केवलज्ञान हुआ। जिस दिन गौतम स्वामी

को मोक्ष हुआ, उसी दिन सुधर्माचार्य को केवलज्ञान हुआ तथा जिस दिन सुधर्माचार्य को मोक्ष हुआ, उसी दिन ज बूस्वामी को केवलज्ञान हुआ। इस प्रकार ये तीन तो अनुबद्ध केवली एवं पाँच अन्य केवली हुए, जिनमें एक जीवन्धर स्वामी भी थे। सबसे अन्तिम केवली श्रीधर केवली हुये, जो कुण्डलपुर (बड़े बाबा) से मोक्ष को प्राप्त हुये। अन्य केवलियों के नाम शास्त्रों में उपलZध नहीं हैं। उपर्युक्त तीनों अनुबद्ध केवलियों का काल 12+12+38= 62 वर्ष रहा।

प्रश्न : इस ज बूद्वीप भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में पहले भोगभूमि थी, बाद में कर्मभूमि का प्रार भ हुआ, तो सर्वप्रथम जिनमंदिर किसने और कहाँ बनवाया? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 80)*

उ र : जब भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ था, तब तृतीय काल (सुखमा-दुःखमा का अन्तिम समय) चल रहा था। उस समय कोई तीर्थङ्कर या केवली नहीं थे। जब भगवान् ऋषभदेव ने कर्मभूमि के प्रार भ होते समय असि, मसि आदि षट्कर्मों की व्यवस्था की, तब इन्द्र ने उनकी आज्ञा से अयोध्या की चारों दिशाओं में चार तथा मध्य में एक, इस प्रकार सर्वप्रथम पाँच जिनालय बनाये थे। उनमें अरहन्त भगवान् की प्रतिमा विराजमान की गई थी और तभी से मंदिरों की इस भरतक्षेत्र में पूजन-भक्ति प्रार भ हुई। वास्तव में तो जिनमंदिर और जिनमूर्तियाँ अनादिकाल से मध्यलोक आदि में पाई जाती हैं। यह भी जानना चाहिये कि भगवान् ऋषभदेव तृतीय काल में ही उत्पन्न हुये थे और तृतीय काल के तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष रहने पर उनको मोक्ष प्राप्त हुआ था। सामान्य से तृतीय काल में भोगभूमि होने से किसी जीव को मोक्ष नहीं होता है, परन्तु हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से ऐसा हुआ था।

प्रश्न : सुनते हैं कि इस हुण्डावसर्पिणी के चतुर्थ काल में शलाका पुरुषों की सं या त्रेसठ की बजाय अठावन ही थी। वह कैसे? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 96)*

उ र : भगवान् ऋषभदेव तो तृतीय काल में ही मोक्ष पधारे थे। भगवान् शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एवं अरनाथ, तीर्थङ्कर भी थे और चक्रवर्ती भी। इस प्रकार तीन कम हुये तथा भगवान् वर्धमान का जीव ही त्रिपृष्ठ नामक प्रथम नारायण हुआ था। इस तरह एक + तीन + एक = पाँच शलाका पुरुष कम होने से त्रेसठ की बजाय पिछले चतुर्थ काल में अठावन ही शलाका पुरुष हुये थे।

प्रश्न : श्रीकृष्ण नारायण को स य€त्व की प्राप्ति कब हुई और वे तीर्थङ्कर कब बनेंगे?
(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 81)

उ र : श्रीकृष्ण नारायण ने भगवान् नेमिनाथ तीर्थङ्कर के समवसरण में क्षायोपशमिक स य€त्व प्राप्त करके तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध प्रार भ किया था। वे इससे पूर्व ही तीसरे नरक की आयु का बन्ध

कर चुके थे, इस कारण मरण समय उनका क्षायोपशमिक स य€त्व छूट गया था और तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध भी रुक गया था। तीसरे नरक पहुँचने के अन्तर्मुहूर्त बाद उनको पुन: क्षायोपशमिक स य€त्व प्राप्त हो गया और तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध भी प्रार भ हो गया था। भविष्य में इस ज बूद्वीप भरतक्षेत्र के आगामी उत्सर्पिणी काल के तृतीय (दु:खमा-सुखमा) काल में वे श्री निर्मल नाम के 16वें तीर्थङ्कर होंगे।

प्रश्न : हरिवंशपुराण के अनुसार श्रीकृष्ण के भाई बलदेव ने स्वयं दीक्षा ग्रहण की थी। €या तीर्थङ्करों के अलावा अन्य जन भी स्वयं दीक्षा ले सकते हैं? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 93-94)*

उ□ ार हरिवंशपुराण के अनुसार बलदेव ने भगवान् नेमिनाथ की साक्षीपूर्वक अर्थात् उनकी शिष्यता स्वीकार करते हुये स्वयं दीक्षा ली थी। आदिपुराण में यह कथन नहीं पाया जाता कि महाराजा भरत ने किनसे जिनदीक्षा ग्रहण की अर्थात् उनके आचार्य गुरु का नाम नहीं दिया हुआ है। पद्मपुराण के अनुसार रामचन्द्र जी ने भी स्वयं जिनदीक्षा ग्रहण की थी। इस प्रकार तीर्थङ्करों के अतिरिक्त अन्य महान् पुरुष भी परोक्षरूप से अन्य को गुरु मानकर स्वयं दीक्षा ले सकते हैं, ऐसा इन उदाहरणों से प्रतीत होता है।

प्रश्न : तीर्थङ्कर भगवान् अपने घर का भोजन ग्रहण करते हैं या उनके लिये सभी सामग्री देवों द्वारा लायी जाती है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 83)*

उ□ ार तीर्थङ्कर बालक के जन्माभिषेक के समय इन्द्र उनके अंगूठे में अमृत भर देता है। अत: बचपन में तो वे अपना अंगूठा चूसकर बड़े होते हैं और बाद में अपनी सेवा में नियुक्त देवों द्वारा लाये गये भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि को ग्रहण करते हैं। यदि कोई कहे कि स्वर्ग में भोजनाङ्ग और पानाङ्ग जाति के कल्पवृक्ष नहीं होते, तो फिर भोजन कहाँ से आता होगा? इसके उ□ ार में आचार्यश्री ने एक बार कहा था कि देवों को इस प्रकार की व्यवस्था में कोई परेशानी नहीं होती। वे भोगभूमि से भी ला सकते हैं। इस प्रकार तीर्थङ्कर अपने घर का कुछ भी भोजन-पान या वस्त्रादि ग्रहण नहीं करते हैं। गृहस्थावस्था में वे आठ वर्ष की आयु होने पर देशसंयमी हो जाते हैं, तब भी देवोपुनीत सामग्री ही ग्रहण करते हैं। परन्तु जिनदीक्षा के उपरान्त फिर इस क्षेत्र के विभिन्न दाताओं के द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करते हैं। यह व्यवस्था पाँच कल्याणक वाले तीर्थङ्करों की होती है। अन्य की यथायोग्य समझनी चाहिये।

प्रश्न : तीर्थङ्कर भगवान् के गर्भ में आने से पूर्व जो रत्नवर्षा होती है, €या वे रत्न असली होते हैं और उनका स्वामी कौन होता है? वर्तमान में उनमें से एक भी रत्न दृष्टिगोचर €यों नहीं होता?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 86)

उ र : भगवान् के गर्भ में आने के छः माह पूर्व से जन्म होने तक अर्थात् पन्द्रह माह तक प्रतिदिन साढ़े तीन-तीन करोड़ रत्नों की वर्षा भगवान् के पिता के महल के चौक में दिन में चार बार होती है। वे रत्न बहुमूल्य तथा असली होते हैं। सभी नगर के निवासी उनको बेरोक-टोक ले जाते हैं। इन रत्नों के कारण पूरी नगरी धन के मामले में अत्यन्त समृद्ध हो जाती है। वर्तमान में उन रत्नों की उपलZध न होने के स बन्ध में पूज्य आचार्यश्री ने एक बार कहा था कि काल परिवर्तन के साथ वस्तुओं में भी परिणमन हो जाता है। वर्तमान में दुःखमा काल चल रहा है। सभी जन्म लेनेवाले जीव नियम से मिथ्यादृष्टि होते हैं, अतः पाप की बहुलता से वे रत्न अन्यरूप परिणमित हो जाते हैं।

प्रश्न : तीर्थङ्कर भगवान् के चिह्न किस प्रकार निर्धारित किये जाते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 87)

उ र इस स बन्ध में शास्त्रों में दो प्रसङ्ग प्राप्त होते हैं-

1. तीर्थङ्कर के जन्मकल्याणक के अभिषेक के समय उनके दायें पैर के अंगूठे में जो चिह्न सौधर्म इन्द्र को दृष्टिगोचर होता है, वही चिह्न सौधर्म इन्द्र उनका निश्चित कर देता है।

2. जन्मकल्याणक के उपरान्त इन्द्र जब तीर्थङ्कर बालक को रथ में बिठाकर उनके माता-पिता की नगरी में ला रहा होता है, तब उस रथ की ध्वजा में जो चिह्न इन्द्र को दिखाई देता है, वही चिह्न उन भगवान् का निश्चित किया जाता है।

प्रश्न : विदेह क्षेत्र में कितने तीर्थङ्कर होते हैं ? €या बीस तीर्थङ्करों के अलावा अन्य तीर्थङ्कर भी होते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 96)

उ र : विदेह क्षेत्र में कम से कम बीस और अधिक से अधिक एक सौ साठ तीर्थङ्कर तक होते हैं। ढाई द्वीप में पाँच विदेह हैं। प्रत्येक विदेह में चार-चार गलियाँ हैं। इस प्रकार कुल बीस गलियाँ हुई। प्रत्येक गली में आठ-आठ नगरी हैं, इस प्रकार कुल एक सौ साठ नगरी हुई। नियम यह है कि प्रत्येक गली में कम से कम एक तीर्थङ्कर तो होते ही हैं और अधिक से अधिक उस गली की आठ नगरियों में से प्रत्येक नगरी में एक-एक तीर्थङ्कर हो सकते हैं। कुल नगरी एक सौ साठ हैं, अतः अधिक से अधिक एक सौ साठ तक तीर्थङ्कर हो सकते हैं।

ज बूद्वीप की चार गलियों में क्रमशः सीमन्धर, युगमंधर, बाहु और सुबाहु ये चार तीर्थङ्कर होते ही हैं। धातकीखण्ड की पूर्व दिशा की चार गलियों में संजात, स्वयंप्रभ, ऋषभानन और अनन्तवीर्य, धातकीखण्ड की पश्चिम दिशा की चार गलियों में सूर्यप्रभ, विशालकीर्ति, वज्रधर और चन्द्रानन, पुष्करार्ध की पूर्व दिशा की चार गलियों में भद्रबाहु, भुजंगम, ईश्वर और नेमिप्रभ ये चार तथा पुष्करार्ध की पश्चिम दिशा की चार गलियों में वीरसेन, महाभद्र, देवयश और अजितवीर्य ये चार नामवाले

तीर्थङ्कर नियम से पाये जाते हैं। विदेहक्षेत्र के बीस तीर्थङ्करों की पूजा में जो बीस नाम आये हैं, वे उपर्युक्त ही हैं और इन नामवाले तीर्थङ्कर (बीस) शाश्वत हैं अर्थात् अनादिकाल से हैं और अनन्तकाल तक पाये जायेंगे। इन बीस नामों के अलावा अन्य नामवाले तीर्थङ्कर भी विदेहक्षेत्र में होते हैं। जैसे शान्तिनाथ पुराण में धनरथ तीर्थङ्कर का नाम आया है। उपर्युक्त बीस के अलावा अन्य नाम शाश्वत नहीं हैं।

उपर्युक्त प्रकार का कथन पाया जाता है, परन्तु कोई स्पष्ट आगमप्रमाण उपलब्ध नहीं है।

प्रश्न : भगवान् ऋषभदेव आदि का शरीर जन्म से ही परमौदारिक होता है या केवलज्ञान होने पर हो जाता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 85-86)*

उ र : किन्हीं आचार्यों ने वात, पित्त, कफ आदि के दोषों से उत्पन्न व्याधियों का न होना, बुढ़ापा न आना, पसीना न आना तथा मोक्ष का मूल कारण होने से तीर्थङ्कर भगवान् के शरीर को केवलज्ञान होने से पूर्व ही परमौदारिक शरीर कहा है तथा कुछ आचार्यों ने सात कुधातुरहित शरीर होने के कारण क्षुधा, तृषा आदि का अभाव होने से परमौदारिक कहा है। किन्हीं आचार्यों ने तो केवली भगवान् के शरीर को सप्तधातुरहित होने के कारण परमौदारिक कहा है। आ. जिनसेनकृत महापुराण में छाया न पड़ना, नेत्रों के पलक न झपकना, नख और केशों का न बढ़ना आदि के कारण परमौदारिक शरीर कहा है।

वास्तव में तो 12वें गुणस्थान के अन्त में शरीर में निगोदिया जीव नहीं रहते हैं, क्षुधा आदि बाधाएँ दूर हो जाती हैं, नेत्र नहीं झपकते हैं तथा शरीर की छाया नहीं पड़ती है, तभी वह शरीर परमौदारिक कहलाता है।

प्रश्न : भगवान् ऋषभदेव के माता-पिता भोगभूमियाँ जीव थे या कर्मभूमियाँ ? वे युगलिया पैदा हुये थे या अलग-अलग ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 87, 88)*

उ र : 12वें कुलकर मरुदेव युगलिया पैदा हुये थे, परन्तु इनके पुत्र जो तेरहवें कुलकर थे और जिनका नाम प्रसेनजित था, वे अकेले ही पैदा हुये थे। राजा मरुदेव ने प्रसेनजित का विवाह भी किया था। इनके पुत्र नाभिराय थे, जो 14वें कुलकर कहलाये और वे भी अकेले पैदा हुये थे। इनकी आयु एक करोड़ पूर्व की थी, अत: ये कर्मभूमिया हुये, क्योंकि भोगभूमिज की जघन्य आयु एक करोड़ पूर्व से अधिक ही होती है।

कुलकरों के सम्बन्ध में तिलोयपण्णत्ती के अनुसार अगला कुलकर पहले कुलकर का पुत्र होता है, जबकि आदिपुराण के अनुसार ऐसा नहीं है। एक कुलकर के उत्पन्न होने के कुछ अन्तराल बाद दूसरा कुलकर पैदा होता है।

प्रश्न : नारद किस गति को प्राप्त होते हैं ? या वे चरमशरीरी होते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 88,89)

उ र इस स बन्ध में दो मत प्राप्त होते हैं-

1. तिलोयपण्णžी एवं त्रिलोकसार के अनुसार सभी नारद कलहप्रिय होते हैं, कुछ धर्मकार्य भी करते हैं, नारायण आदि के समकालीन होते हैं, भव्य होते हैं और हिंसा दोष के कारण नरकगति को प्राप्त होते हैं।

2. हरिवंशपुराण के अनुसार सभी नारद चरमशरीरी अर्थात् उसी भव से मोक्ष जानेवाले होते हैं।

इस प्रकार इनके परभवगमन के स बन्ध में दो मत हैं। हरिवंशपुराण के अनुसार ये नारद अनेक विद्याओं के ज्ञाता, साधु के भेष में रहनेवाले, पंचम गुणस्थानवर्ती तथा कल्पवृक्ष से प्राप्त आहार करनेवाले होते हैं।

प्रश्न : रुद्र हुण्डावसर्पिणी काल में ही होते हैं या आगे आनेवाले उत्सर्पिणी काल में भी होंगे ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 96)

उ र इस स बन्ध में दो मत प्राप्त होते हैं- 1. तिलोयपण्णžीकार ने रुद्रों की उत्पžि केवल हुण्डावसर्पिणी काल में कही है, हुण्ड उत्सर्पिणी में उन्होंने नहीं कही। इन आचार्य ने हुण्डावसर्पिणी काल के चिह्नों में ग्यारह रुद्रों की उत्पžि होना कहा है।

2. हरिवंशपुराणकार ने आगे आनेवाले उत्सर्पिणी काल में ग्यारह रुद्रों की उत्पžि कही है और अन्तिम रुद्र का नाम अङ्गज भी लिखा है। इस तरह दो मत हैं।

प्रश्न : पुराणों में स्त्रियों का वर्णन करते समय शृंगार रस का इतना वर्णन €यों किया गया है ? €या ऐसा वर्णन पढ़ने से वैराग्य प्राप्त होगा या विकार बढ़ेगा ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 90)*

उ र सुदर्शनचरित्र के अनुसार हमको शृङ्गार रस का वर्णन पढ़ने में आता है, परन्तु उससे यह शिक्षा मिलती है कि स्त्री स बन्धी कितना भी उपसर्ग हो जाये, हमको ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिये। रानियों का वर्णन पढ़ने से हमें यह भी शिक्षा मिलती है कि वे जीव कितने वैराग्य से भरे हुये थे, जो इतनी सुन्दर रानियों को भी एक क्षण में छोड़कर चले गये। दृष्टि अपनी-2 होती है, हमें इस दृष्टि से शास्त्रों को पढ़ना चाहिये।

प्रश्न : सुनते हैं कि बाहुबलि मुनिराज के मन में यह शल्य थी कि मैं भरत की भूमि पर खड़ा हूँ। इसी कारण उनको एक वर्ष तक महान् तपश्चरण करने पर भी केवलज्ञान नहीं हुआ ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 90)

उ र : उपर्युक्त किंवदन्ती आगम से मेल नहीं खाती है। श्री महापुराण के अनुसार तो बाहुबली मुनि के हृदय में यह रहता था कि भरतेश्वर अर्थात् महाराज भरत मेरे द्वारा सं लेश को प्राप्त हुये हैं अर्थात् मैंने उनको कष्ट €यों दिया ? और इसी कारण महाराजा भरत के पूजा करते ही उनको केवलज्ञान उत्पन्न हो गया था।

प्रश्न : भरतेश वैभव में लिखा है कि महाराजा भरत ने बाहुबली पर चक्र नहीं चलाया था, जबकि अन्य सभी शास्त्रों में चक्र चलाये जाने का वर्णन मिलता है। फिर हमें €या मानना चाहिये ?
(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 92)

उ र : भरतेश वैभव के रचयिता रत्नाकर वर्णी थे। यह ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं है, €योंकि इसमें अन्य और भी बहुत सारे प्रसङ्ग आगमविरुद्ध कहे गये हैं। रत्नाकर वर्णी जन्मजात जैन थे, बाद में लिङ्गायत हिन्दू बन गये थे अर्थात् वे स्वयं भी प्रामाणिक नहीं थे। अत: उनका कथन स्वीकार नहीं करना चाहिये।

आदिपुराण के रचयिता आ. जिनसेन महाराज महान् वीतरागी साधु और पर परागत उपदेश के अनुसार लिखनेवाले आचार्य थे। उन्होंने आदिपुराण में महाराजा भरत के द्वारा क्रोध के आवेग में आने पर चक्र चलाने का स्पष्ट वर्णन किया है, अत: यही कथन प्रामाणिक है।

प्रश्न : मरुदेवी आदि तीर्थङ्कर भगवान् की माताएँ, रजस्वला अर्थात् मासिक धर्म से सहित होती हैं या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 95)*

उ र : इस स बन्ध में विभिन्न मत पाये जाते हैं-

1. पं0 मु तार साहब, पं0 जगन्मोहनलाल जी शास्त्री, कटनी तथा पं0 पन्नालाल जी, सागर के अनुसार तीर्थङ्करों की मातायें रजस्वला नहीं होती हैं, वे पुष्पवती होती हैं।

2. पं0 रतनलाल जी कटारिया, केकड़ी के अनुसार अर्हदास जी कृत मुनिसुव्रत काव्य, पुण्यास्रव कथाकोश, रामचरित (संस्कृत), भूधरदास जी कृत पार्श्वपुराण में तीर्थङ्कर की माता के रजस्वला होने का उल्लेख पाया जाता है, अत: तीर्थङ्कर भगवान् की मातायें रजस्वला होती हैं।

प्रश्न : य श्रेणिक महाराज स य€त्वसहित नरक में गये थे ? उनका अकालमरण हुआ था या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 97)*

उ र : राजा श्रेणिक को क्षायिक स य€त्व था। क्षायिक स य€त्व होने के बाद नहीं छूटता है। अत: वे क्षायिक स य€त्व सहित ही प्रथम नरक गये थे। उन्होंने यशोधर महाराज के गले में सर्प डालते समय नरकायु का बन्ध कर लिया था। नियम यह है कि जिनका आगामी आयु का बन्ध हो

जाता है, उनका अकालमरण नहीं होता। इसलिये नरकायु का बन्ध पूर्व में हो जाने के कारण उनका मरण अकालमरण नहीं था।

प्रश्न : सीता का जीव समाधिमरणपूर्वक मरण करके सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र बना। प्रथमानुयोग के अनुसार वह प्रतीन्द्र नीचे तीसरे नरक में रावण और लक्ष्मण के जीव को स बोधन करने के लिये गया था। €या यह प्रकरण सत्य माना जाये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 99)*

उ□ ार : रावण और लक्ष्मण किस नरक में गये, इस स बन्ध में दो मत हैं– कोई आचार्य उनका गमन तीसरे नरक में भी मानते हैं, परन्तु त्रिलोकसार व तिलोयपण्णžाी के अनुसार रावण तथा लक्ष्मण चतुर्थ नरक में गये हैं। सिद्धान्त के अनुसार देखा जाये, तो बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देव चित्रा पृथ्वी से नीचे नहीं जाते हैं, अत: सीता के जीव का नरक में जाना सिद्ध नहीं होता है और कोई भी देव तीसरे नरक से नीचे नहीं जा सकता है, अत: इस नियम के अनुसार भी सीता का जीव चौथे नरक नहीं जा सकता।

जिन आचार्यों ने रावण और लक्ष्मण को तीसरे नरक गये, ऐसा माना है, उनकी मान्यता भी इस नियम के अनुसार कि बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देव नीचे नरकों में नहीं जाते हैं, ठीक नहीं बैठती है। इस स बन्ध में जब आचार्यश्री से प्रश्न किया गया, तो उन्होंने बताया कि यह सामान्य नियम है कि बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देव नीचे नरकों में स बोधन के लिये नहीं जाते। कोई शक्ति की हीनता तो नहीं है। इसलिये विशेष रागवशात् यदि चले भी गये हों (अन्य आचार्यों के अनुसार) तो इसमें आपि□ ा नहीं माननी चाहिये।

चरणानुयोग
चारित्र सामान्य

प्रश्न : सिद्धों में कौनसा चारित्र होता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 579)*

उ□ ार : साधन और साध्य के भेद से चारित्र दो प्रकार का होता है। जब तक अष्टकर्म से रहित द्रव्यमोक्ष नहीं होता, तब तक साधनरूप चारित्र रहता है और द्रव्यमोक्ष हो जाने पर साध्यरूप चारित्र हो जाता है। चारित्र के जो सामायिक आदि पाँच भेद किये हैं, वे सब साधनरूप चारित्र के हैं। साध्यरूप चारित्र तो एक ही प्रकार का है और उसमें कोई भेद नहीं है। साधनरूप चारित्र कर्मनिर्जरा का कारण है, किन्तु साध्यरूप चारित्र कर्मनिर्जरा का कारण नहीं है।

यद्यपि यथा यात चारित्र का हो जाना मोक्षमार्ग की उत्कृष्ट दशा है। तेरहवें गुणस्थान में यथा यात चारित्र हो जाता है, परन्तु परमयथा यात चारित्र न होने से मोक्ष नहीं हो पाता। इसलिये चौदहवें गुणस्थान में होनेवाले रत्नत्रय को और चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होनेवाले परमयथा यात चारित्र को साक्षात् मोक्ष का कारण कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि सामायिक आदि पाँच प्रकार का चारित्र साधनरूप है और सिद्धों का चारित्र साध्यरूप है। परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि सिद्धों में चारित्र होता ही नहीं है। उनमें अर्थात् सिद्धों में चारित्र तो पाया जाता है, पर वह इन पाँच नामों से नहीं कहा जा सकता है। सिद्धों में चारित्रमोहनीय कर्म के नष्ट होने से सदैव रहनेवाला क्षायिक चारित्र नामक क्षायिक भाव रहता है। इसका कोई नाम न होने से इसे अव्यपदेश चारित्र भी कहा जाता है।

प्रश्न : क्षायिक चारित्र और यथा यात चारित्र में €या अंतर है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 583-84)*

उ□ ार : इनके अन्तर को इस प्रकार कहा जा सकता है-

1. क्षायिक चारित्र तो चारित्रमोहनीय के क्षय से प्राप्त होता है, किन्तु उपशान्तमोह गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम से भी यथा यात चारित्र होता है।

2. यथा यात चारित्र ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है, परन्तु क्षायिक चारित्र बारहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक और सिद्धों में भी होता है।

3. यथा यात चारित्र, चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम से भी होता है और क्षय से भी होता है, जबकि क्षायिक चारित्र मात्र क्षय से ही होता है।

4. यथा यात चारित्र का स्वामी उपशम स यग्दृष्टि भी हो सकता है, किन्तु क्षायिक चारित्र का स्वामी क्षायिक स यग्दृष्टि ही होता है।

5. ग्यारहवें गुणस्थानवाला यथा यात चारित्री जीव नीचे गिरता है, जबकि क्षायिक चारित्रवाला जीव उसी भव से मोक्ष प्राप्त करता है।

प्रश्न : €या चारित्र धारण न करने पर स यग्दर्शन और स यग्ज्ञान कार्यकारी नहीं कहे जाते ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 584-85)

उ□ ार य़दि स यग्दर्शन और स यग्ज्ञान के अनुकूल मनुष्य का आचरण नहीं होता है, तो वह ज्ञान व्यर्थ है। जैसे- दीपक को रखनेवाला पुरुष भी यदि कुएँ में गिरता है, तो उसका दीपक रखना कार्यकारी €या हुआ ? इसी प्रकार चारित्र के बल से रागद्वेषादि विकल्परूप असंयम भाव से यदि ज्ञानी जीव अपने को नहीं हटाता है, तो श्रद्धान और ज्ञान उसका कुछ भी नहीं कर सकते। समयसार गाथा 72 की टीका में कहा भी है कि आत्मा और आस्रव में भेदज्ञान होने पर भी यदि वह आस्रवों से दूर नहीं होता है, तो उसका ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स यग्दर्शन और स यग्ज्ञान का फल चारित्र होता है। चारित्र धारण न करने पर स यग्दर्शन और स यग्ज्ञान कार्यकारी नहीं कहे जाते।

प्रश्न : सातिशय पुण्यबन्ध €या होता है और वह किनके होता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 586)

उ□ ार मिथ्यादृष्टि जीवों के जो पुण्यबन्ध होता है, वह सातिशय नहीं होता, €योंकि वह संसार के सुख का कारण होता है। स यग्दृष्टि के जो पुण्यबन्ध होता है, वह सातिशय पुण्यरूप होता है, पर परा से मोक्ष का कारण होता है, संसार का कारण नहीं होता तथा देवेन्द्र, चक्रवर्ती, तीर्थङ्कर आदि श्रेष्ठ पदों को प्राप्त करानेवाला होता है। भावपाहुड गाथा 113 में लिखा है कि मोक्ष का कारण होने से निदानरहित तीर्थङ्कर नामक सातिशय पुण्यप्रकृति का आस्रव उपादेय है। मोक्ष का कारण होने से तीर्थङ्कर नाम कर्म का चारों प्रकार का बन्ध उपादेय है। जो लोग ऐसा कहते हैं कि पुण्यबन्ध सर्वथा हेय है, उनको यह प्रसङ्ग अच्छी प्रकार समझना चाहिये।

प्रश्न : €या अणुव्रत और महाव्रत आदि व्रत विभाव हैं, हेयरूप हैं अथवा आस्रव में कारण हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 589)

उ□ ार पाँच पापों से दूर होना व्रत है और वह स यग्ज्ञानी का चारित्र है। वह चारित्र दो प्रकार का है- महाव्रतरूप तो सकल चारित्र है और अणुव्रतरूप एकदेश चारित्र है, जो क्रमशः मुनियों तथा गृहस्थों के होता है। महाव्रत तो महानता के कारण हैं, इसीलिये तीर्थङ्करों ने इनका आश्रय लिया है। देवता भी इनको नमस्कार करते हैं, ये महाव्रत मोक्षसुख और ज्ञान का कारण होने से ही महाव्रत कहलाते हैं। इन व्रतों के कारण ही स यग्दृष्टि के प्रतिसमय असं यातगुणी निर्जरा होती है। अविरत स यग्दृष्टि के व्रत न होने के कारण प्रतिसमय असं यातगुणी निर्जरा नहीं होती। इसलिये ये व्रत न तो विभाव हैं, न हेयरूप हैं, न आस्रव-बन्ध के कारण हैं, किन्तु मोक्ष के कारण होने से उपादेयरूप हैं।

प्रश्न : शुभराग व शुभोपयोग में या अन्तर है और इन दोनों के स्वामी कौन होते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 590)

उ र : शुभराग का अर्थ प्रशस्तराग है। सराग स यग्दर्शन अथवा सराग स यक्चारित्र को शुभोपयोग कहते हैं। शुभोपयोग में वीतरागता और सरागता मिश्रितरूप से रहती है। जिसमें वीतरागता मिश्रित न हो, ऐसा अकेला शुभराग तो मिथ्यादृष्टि के होता है, जिससे संवर-निर्जरा नहीं होती, मात्र पुण्यबन्ध होता है, जो पर परा से संसार का ही कारण है। यद्यपि समयसार की टीका में आचार्य जयसेन महाराज ने मिथ्यादृष्टि के अरहंतभक्ति आदि शुभराग को कहीं पर शुभोपयोग भी कह दिया है, किन्तु प्रवचनसार गाथा 9 और बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा 34 की टीका में प्रथम, द्वितीय व तृतीय गुणस्थान में अशुभोपयोग ही कहा है।

निष्कर्ष यह है कि मात्र शुभराग तो निरतिशय मिथ्यादृष्टि के होता है, जिससे पुण्यबन्ध होता है और संवर, निर्जरा नहीं होते। उपशम स य€त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि के तथा स यग्दृष्टि के वीतराग मिश्रित शुभराग होता है, जिसको शुभोपयोग कहते हैं। यह शुभोपयोग, द्रव्यानुयोग की अपेक्षा चौथे गुणस्थान से छठे तक और सप्तम में भी होता है। करणानुयोग की अपेक्षा शुभोपयोग चौथे से दसवें गुणस्थान तक होता है। इस शुभोपयोग के द्वारा बन्ध कम होता है और निर्जरा अधिक होती है। श्री जयधवला (1/9) में कहा भी है कि अरिहंत नमस्कार से तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असं यातगुणी निर्जरा होती है।

प्रश्न : मद्य, मांस के सेवन करनेवालों को स यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 92-93)

उ र : अष्ट मूलगुण धारण किये बिना जैनधर्म के उपदेश की पात्रता भी नहीं आती है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक 74) में कहा है कि दु:खदायक अत्यन्त कठिन एवं पापों के स्थान मद्य, मांस, मधु तथा पाँच उदु बर फलों को त्याग करके निर्मल बुद्धिवाला पुरुष ही जिनधर्म के उपदेश का पात्र होता है। प्रथमोपशम स य€त्व से पूर्व पाँच लŽधयाँ होती हैं। उनमें दूसरी विशुद्धिलŽध है अर्थात् परिणामों में विशुद्धि का होना। मद्य, मांस आदि पदार्थों का सेवन करनेवाले मनुष्य के परिणामों में विशुद्धता आ ही नहीं सकती। इनका भक्षण तो स यग्दर्शन का विरोधी है। श्री कषायपाहुड़ में कहा है कि स यग्दर्शन की उत्पŽा के लिये मनुष्य के पीत लेश्या का जघन्य अंश होना चाहिये, €योंकि अशुभ लेश्याओं के साथ स यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता है। अत: मद्य, मांस का सेवन करनेवाले जीव को स य€त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।

प्रश्न : €या अष्ट मूलगुणधारी श्रावक रात्रि में बना हुआ भोजन और अशुद्ध दवाओं का सेवन कर सकता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 595)*

उ□ ार : किन्हीं आचार्यों ने मद्य, मांस, मधु का त्याग, रात्रि भोजन त्याग, पंच उदु बर फल त्याग, देवदर्शन, जीवदया तथा छानकर पानी पीना इन आठ को श्रावक के मूलगुण कहा है अर्थात् ऐसे श्रावक को, जिसने अष्ट मूलगुण धारण किये हैं, रात्रि में भोजन करना तथा रात्रि में बना ाोजन करना उचित नहीं है। जिन दवाओं में मद्य, मांस आदि का प्रयोग किया गया हो, ऐसी दवाओं का, ऐसे श्रावक को प्रयोग नहीं करना चाहिये। वह स यग्दृष्टि है, अत: जानबूझकर ऐसे पदार्थों का सेवन कैसे करेगा?

प्रश्न : €या करुणा भाव या जीवदया करना धर्म है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 596)*

उ□ ार : ग्रपद्मनंदी पंचविंशतिका (श्लोक क्र. 7) में कहा है ''धर्मो जीवदया'' अर्थात् जीवदया धर्म है। श्री धवला पु. 13 में कहा है- ''करुणा जीव का स्व ाव है।'' अतएव उसे कर्मजनित मानने में विरोध आता है। स्वभाव कर्मजनित नहीं होता है, कर्मजनित तो विभाव होता है, इसलिये जीवदया या करुणाभाव धर्म है।

प्रश्न : सप्त व्यसन का सेवन करनेवाला □ या तद्भवमोक्षगामी हो सकता है? □ या एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर प्रभाव पड़ता है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 597)*

उ□ ार : ग्रपरस्त्री, मद्य, मांस आदि परद्रव्य हैं, तथापि उनके सेवन से आत्मपरिणामों में इस प्रकार की मलिनता उत्पन्न होती है कि स यग्दर्शनरूपी आत्मगुण प्रकट नहीं हो सकता। ऐसा एकान्त नहीं है कि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर प्रभाव न पड़ता हो, इसीलिये तो आचार्यों ने मद्य, मांस आदि भक्षण करनेवालों को जिनधर्म के उपदेश का पात्र भी नहीं माना है। यदि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर असर नहीं पड़ता, तो भगवान् की मूर्ति के दर्शन □ यों करते हैं? मूर्ति देखकर चि□ ा में कषायों की मन्दता □ यों होती है? बिना तीर्थङ्कर के पादमूल के परिहारविशुद्धि चारित्र €यों नहीं होता? बिना प्रथम संहनन के मोक्ष □ यों नहीं मिलता? इन सब बातों से सिद्ध है कि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर प्रभाव पड़ता है। परन्तु यदि कोई सप्तव्यसनसेवी सप्तव्यसनों का त्याग कर, विशुद्ध परिणामी हो और मुनि बनकर पुरुषार्थ करे, तो तद्भवमोक्षगामी हो सकता है। जैसे- अञ्जन चोर आदि।

प्रश्न : €या वर्णव्यवस्था आगमस मत है? **€**या इसका मोक्षप्राप्ति पर प्रभाव पड़ता है?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 825)

उ□ ार : ग्रजैसे एक बीज भूमि के अनुसार अन्य-अन्य प्रकार फल देता है, उसी प्रकार वर्ण आदि भी अपना-अपना प्रभाव रखते हैं। जैसे-

1. प्रवचनसार गाथा 210 में कहा है कि लौकिकजनों की संगति से संयत भी असंयत हो जाता है। इसलिये यदि साधु दु:ख से छूटना चाहता हो, तो उसे समान गुणवाले या अधिक गुणवाले मुनि के साथ निवास करना चाहिये।

2. प्रथम संहनन के अभाव में महान् तपश्चरण करने पर सातिशय पुण्यबन्ध तो स भव है, परन्तु मोक्ष प्राप्ति स भव नहीं है।

3. प्रवचनसार में स्पष्ट कहा है कि जो पुरुष ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्ण में से एक वर्णवाला हो, निरोग हो, तप की क्षमता रखता हो, आदि गुणवाला ही जिनदीक्षा के योग्य है।

4. दिग बर मत के अनुसार द्रव्यस्त्री कभी मुक्ति का पात्र नहीं होती।

5. प्रथम संहननवाला ही मोक्ष पा सकता है। प्रथम तीन संहननवाले ही उपशम श्रेणी चढ़ सकते हैं, अन्तिम तीन संहननवाले जीव सप्तम गुणस्थान से आगे नहीं जा सकते।

इन सब उदाहरणों से सिद्ध है कि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर असर होता है, परन्तु एक द्रव्य कभी भी पलटकर अन्य द्रव्यरूप नहीं हो जाता, यह नियम है। वर्ण-व्यवस्था आगमस मत है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण में उत्पन्न मनुष्य ही जिनदीक्षा के योग्य है।

भक्ष्याभक्ष्य

प्रश्न : दही और छाछ की मर्यादा कितनी माननी चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 603)*

उ□ ार : अमितगति श्रावकाचार, षट्प्राभृतसंग्रह, चारित्रपाहुड, प्रश्नोŏार श्रावकाचार आदि ग्रन्थों में गर्म दूध के दही की मर्यादा तीनों ऋतुओं में सोलह पहर अर्थात् अड़तालीस घण्टे की कही है। मौसम आदि के कारण या अन्य किसी परिस्थितिवश इससे पूर्व भी रस चलित हो जाये, तो वह अभक्ष्य हो जाता है।

प्रश्न : शुद्ध दही किस प्रकार जमाना चाहिये ?

उ□ ार : दही का जामन बनाने के लिये पहले एक कटोरी शुद्ध दूध में कुछ मुन□ के डालकर अथवा लाल मिर्च डालकर उस दूध को जमाना चाहिये। उसमें कुछ मोटे कपड़े की पट्टियाँ या बादाम या मार्बल पत्थर के टुकड़े डाल देने चाहिये। बाद में दही जम जाने पर उन कपड़े की पट्टियों या बादाम आदि को झटकाकर सुखा लेना चाहिये। अब यह हमारा शुद्ध जामन तैयार हो गया। अब जब भी हमें दही जमाना हो, तब मर्यादित दूध में अर्थात् कढ़े हुये दूध को अड़तालीस मिनट के अन्दर गर्म करके उसमें मोटे कपड़े की एक पट्टी या तीन चार बादाम डाल देने पर शुद्ध दही जम जाता है। विशेषता यह है कि एक बार जामन के रूप में प्रयोग की गई कपड़े की पट्टी, बादाम, मार्बल के टुकड़े, नारियल का कड़ा भाग आदि जब तक सूख न जायें, तब तक वे पुन: प्रयोग करने के योग्य नहीं होते हैं। यदि दही में से गीली पट्टी निकालकर दूसरे दूध में डालकर दही जमाया जायेगा, तो वह दही शुद्ध नहीं होगा, उसमें जीव होंगे ही। अत: जब भी दही जमायें, तब पहले प्रयोग की गई सूखी हुई कपड़े की पट्टी या बादाम का प्रयोग करना चाहिये।

प्रश्न : म□ खन भक्ष्य है या अभक्ष्य ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 604)*

उ□ ार : ा आचार्यों ने विभिन्न श्रावकाचार ग्रन्थों में म€खन को अभक्ष्य कहा है। यदि दही में से लौनी निकाली जाये और दो मुहूर्त के अन्दर उसको तपा लिया जाये, तो उससे बना घी शुद्ध रहता है अर्थात् लौनी का सेवन दो मुहूर्त तक किया जा सकता है। कच्चे दूध को मथकर जो क्रीम निकाली जाती है, वह तो अभक्ष्य ही है, €योंकि कच्चे दूध की मर्यादा मात्र एक मुहूर्त है।

प्रश्न : पिसे हुये सेंधा नमक की कितनी मर्यादा माननी चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 604)*

उ□ ार : वर्तमान में पूरी जैन समाज पिसे हुये सेंधा नमक की मर्यादा अन्तर्मुहूर्त मानती है, परन्तु पं0 मु तार साहब ने धवला पुस्तक एक पृष्ठ 272 पर मूलाचार के आधार से जो लिखा है, उसके अनुसार पिसा हुआ, सेंधा नमक बहुत समय तक ा भक्ष्य रहता है। पं0 मु तार साहब ने लिखा है कि जिस प्रकार संगमरमर पत्थर का चूरा अचिžा हो जाने के पश्चात् पुनः सचिžा नहीं होता, उसी प्रकार नमक पिस जाने पर अचि□ ा हो जाता है, वह अन्तर्मुहूर्त बाद सचि□ ा□ यों हो जायेगा ? यदि नमक में पानी का संयोग हो जाये, तो सचिžा होना स भव है। पं0 मु तार साहब के अनुसार यह मनमानी कल्पना है कि पिसे हुये नमक की मर्यादा एक मुहूर्त की है।

प्रश्न : सप्रतिष्ठित लौकी, ककड़ी आदि के खाने में अनन्त स्थावर जीवों का घात होता है और आलू, प्याज खाने में भी अनन्त स्थावर जीवों का घात होता है। तब तो दोनों के खाने में कोई अन्तर नहीं रहा, हमें कैसे मानना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 605)*

उ□ ार : वनस्पति के दो भेद होते हैं- प्रत्येक तथा साधारण। प्रत्येक वनस्पति के दो भेद होते हैं- सप्रतिष्ठित प्रत्येक तथा अप्रतिष्ठित प्रत्येक।

1. सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति- जिस वनस्पति के आश्रय से अनन्त बादर निगोद जीव रहते हैं, जैसे- कच्ची लौकी, पतली-पतली ककड़ी आदि तथा जितने भी आलू, प्याज आदि जमीकन्द हैं, वे भी सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहलाते हैं। आलू आदि को साधारण वनस्पति नहीं कहते। कोई भी वनस्पति साधारण वनस्पति नहीं होती।

2. अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति- जिस वनस्पति में शास्त्रों में बताये गये सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति के लक्षण न हों, वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है। जैसे- पकी हुई लौकी, भिण्डी आदि।

यहाँ प्रश्न यह है कि आलू खाने में तथा कच्ची लौकी, ककड़ी, भिण्डी आदि खाने में, दोनों के सप्रतिष्ठित होने से अनन्त जीवों का घात होता है, तो □ या दोनों का खाना समान माना जाये ? उ□ ार यह है कि आलू, मूली आदि जमीकन्द तो सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति हैं, अनन्तानन्त निगोदिया जीव इनके आश्रित रहते हैं। ये कभी भी अप्रतिष्ठित प्रत्येक नहीं बनते। इनकी पहचान भी सुगम है, परन्तु लौकी,

भिण्डी, ककड़ी आदि सप्रतिष्ठित होते हुए भी बाद में अप्रतिष्ठित हो जाते हैं। इनकी पहचान सरल नहीं। साथ ही आलू आदि जमीकंद तामसिक आहार में आते हैं, ये प्रमादवर्धक हैं। अत: दोनों में समान दोष नहीं मानना चाहिये।

प्रश्न : साधारण वनस्पतिकाय किसे कहते हैं ?

उ र :एक साधारण शरीर में जो अनन्तानन्त की सं या में रहते हैं, जिनका आहार और श्वासोच्छ्वास एक साथ होता है, जो एक साथ अनन्त मरते हैं और एक साथ अनन्त जन्म लेते हैं, जिनकी जघन्य आयु क्षुद्रभव प्रमाण और उत्कृष्ट आयु अन्तर्मुहूर्त होती है, उन जीवों को साधारण वनस्पतिकाय में लिया गया है। हम कंदमूल के अलावा किसी वनस्पति को चिह्नित कर उसे साधारण वनस्पति नहीं कह सकते। ये साधारण वनस्पतिकायिक निगोदिया जीव पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों के शरीर, देव और नारकियों के शरीर, केवली के शरीर एवं आहारक शरीर को छोड़कर अन्य सब शरीरों में पाये जाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं- बादर और सूक्ष्म। जो शरीरों के आधार से रहते हैं, वे बादर निगोदिया जीव हैं और जो तीनों लोकों में भरे हुये हैं, वे सूक्ष्म निगोदिया जीव हैं।

प्रश्न : जैसे सूखी अदरक को सौंठ बनाकर तथा हरी जमीकंद हल्दी को सुखाकर हल्दी बनाकर खाया जाता है, उसको भक्ष्य मान लिया गया है, तो फिर आलू को भी सुखाकर खाने में या दोष है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 606)*

उ र :ऐसा तर्क ठीक नहीं है, €योंकि सूखी हल्दी तथा सौंठ का ग्रहण अल्पमात्रा में औषधिरूप में होता है, ये दोनों वस्तुएँ वात व कफ की नाशक हैं, हड्डी आदि को बल प्रदान करती हैं, अत: बहुत थोड़ी मात्रा में खाई जाती हैं और इनके खाने में राग की अधिकता भी नहीं है, जबकि आलू, प्याज आदि का भक्षण रसना इन्द्रिय की विशेष लोलुपता के कारण विशेष राग के साथ किया जाता है, इसीलिए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक क्र. 73) में अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है कि ये जमीकंद आदि काल पाकर सूख भी जायें, फिर ी उनके भक्षण में विशेष राग होने से हिंसा कही जाती है।

प्रश्न : सप्रतिष्ठित प्रत्येक आलू आदि खाने में भी अनन्त जीवों की हिंसा होती है और मांस खाने में भी अनन्त जीवों की हिंसा होती है, तब तो दोनों में हिंसा समान रही ?

उ र :सभी वनस्पति के भक्षण में अनन्त जीवों की हिंसा नहीं होती है। जो पके फल या वनस्पति होते हैं अर्थात् अप्रतिष्ठित होते हैं, उनके भक्षण में अनन्त वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा

नहीं होती, सं यात या असं यात जीवों का घात होता है। तरकारी बनाने पर अर्थात् साग बनाने पर वे जीव मर जाते हैं, परन्तु उनके शरीर को मांस नहीं कहा जा सकता है, □ योंकि स्थावर जीवों के शरीर में धातु, उपधातु अर्थात् मांस, रुधिर आदि नहीं होते, अत: इन जीवों का घात होने पर भी मांसभक्षण जैसा महान् दोष नहीं लगता। मांसभक्षण में तो अनंत स्थावर तथा त्रस जीवों का घात होता है। अत: दोनों के भक्षण में होनेवाली हिंसा में बहुत अंतर है।

प्रश्न : हमारी थाली में एक कटोरी में लौकी की स□ जी है और एक कटोरी में आलू की स□ जी है। दोनों में से किसमें जीव ज्यादा हैं ?

उ□ ार द्रोनों सं□ जयों में से किसी भी स□ जी में साग बनाने के बाद जीव नहीं रहते। दोनों जीवरहित हैं। यहाँ यदि कोई पूछे कि तब तो फिर दोनों का भक्षण करना समान ही तो हुआ, इसका उ□ ार है कि आलू की स□ जी बनाने में अनन्तानन्त जीवों की हिंसा हुई है, जबकि लौकी की स□ जी बनाने में अप्रतिष्ठित प्रत्येक होने से सं यात या असं यात जीवों का घात हुआ है। इसलिये दोनों के भक्षण में महान् अन्तर है।

प्रश्न : सचि□ ा वनस्पति को मुनिराज आहार में नहीं लेते हैं। फिर उसको अचि□ ा कैसे बनाया जाये ?

उ□ ार : जिस वनस्पति में जीव होते हैं, उसे सचि□ ा वनस्पति कहते हैं और जिस वनस्पति में से जीव निकल जाते हैं, उसे अचि□ ा वनस्पति कहते हैं। बाजार में जो सेव, अंगूर आदि मिलते हैं, वे सब सचिž ा हैं। कुछ लोग पेड़ के पके आम या अमरूद आदि को अचिž ा मानते हैं, परन्तु उनकी धारणा गलत है। पके हुये फल अप्रतिष्ठित प्रत्येक तो कहे जा सकते हैं, परन्तु अचिž ा नहीं कहे जा सकते। ऐसे सेव, अमरूद आदि फलों को मुनिराज को आहारदान में देना हो, तो श्रेष्ठ मार्ग यह है कि उनकी स□ जी बनाकर दिया जाये, अथवा उनको गर्म पानी में पन्द्रह मिनट तक इस प्रकार रखा जाये, ताकि वे अन्दर तक गर्म हो जायें। इस क्रिया से वे अचिž ा हो जाते हैं। अमरूद या सेव आदि के स बन्ध में कोई ऐसा भी मानते हैं कि इसके चार पीस कर देने पर ये अचिž ा हो जाते हैं। यह धारणा भी ठीक नहीं है □ योंकि इन फलों में पाये जानेवाले जीवों की अवगाहना सुई की नोंक से भी छोटी होती है, अत: कितने ही टुकड़े □ यों न कर लें, ऐसे फल अचि□ ा नहीं होते। संतरे आदि का निकला हुआ जूस अथवा आम का अमरस कपड़े से छान लेने पर अचि□ ा होता है, परन्तु यदि उसमें संतरे की फाँक की एक भी कली आ जाये, तो उसमें असं यात जीव कहे गये हैं। यदि अमरूद आदि की चटनी पीस ली जाये, तो वह भी अचि□ ा हो जाती है। इस प्रकार हरी वनस्पति को अचि□ ा करके ही साधु या व्रतियों को आहार में देना चाहिये। अनार के दानों को प्लास्टिक की चलनी में रखकर यदि उबलते पानी की भाप

में गर्म कर लिया जाता है, तो वे अनार के दाने अचि ा हो जाते हैं। नारियल का पानी भी सचि ा होता है। उसमें लौंग, काली मिर्च आदि डाल देने पर वह अचि ा हो जाता है। ग्वार की फली आदि सूखने पर अचि ा हो जाती हैं, गन्ने का निकला एवं छना हुआ रस अचि ा होता है।

प्रश्न : दूध भक्ष्य है या अभक्ष्य ? असंयत स यग्दृष्टि जीव मिल्क पाउडर ले सकता है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 602)

उ र द्रूध भक्ष्य है। षट्रस में दूध भी एक रस है। यदि गाय या भैंस का स पूर्ण दूध उनके बच्चों को पिला दिया जावे, तो बच्चों को बड़ा कष्ट होता है और मृत्यु तक हो सकती है। दूध निकालने से गाय या भैंस को कष्ट नहीं होता, यदि दूध न निकाला जावे, तो कष्ट होता है। शास्त्रों में पाँच रस कहे हैं- तेल, घी, दूध, दही तथा मट्ठा। इनमें से एकाधिक का त्याग करना रसपरित्याग नामक तप होता है। यदि दूध अभक्ष्य होता, तो उसके सर्वथा त्याग का उपदेश होता। इससे सिद्ध है कि गाय-भैंस का दूध भक्ष्य है।

अविरत स यग्दृष्टि जीव शरीर और भोगों से विरक्त रहता है, अत: वह शरीर या भोगोपभोग के लिए अभक्ष्य का सेवन नहीं करता। यदि मिल्क पाउडर में अशुद्ध पदार्थ का मेल है, तो अविरत स यग्दृष्टि जीव उसे ग्रहण नहीं कर सकता है।

दान

प्रश्न : आत्मा तो खाता नहीं है, ऐसा शास्त्रों में लिखा है। तब दान €यों करना चाहिये ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 608)

उ र निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा नहीं खाता है, तो निश्चय की दृष्टि से आत्मा दान भी नहीं देता है। किन्तु अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा कर्मबद्ध होने के कारण अशुद्ध हो रहा है। कर्म उदय का निमिž पाकर आत्मा रागद्वेष भी करता है और औदारिक आदि शरीरों को धारण भी करता है। अशुद्ध होने के कारण आत्मा के अनादि काल से आहार आदि चार संज्ञाएँ लगी हुई हैं। आत्मा के दस प्राण भी हैं। इन प्राणों की रक्षा के लिये कर्मोदय के कारण स्वयं आहार ग्रहण भी करता है और आहारदान देकर दूसरों के प्राणों की रक्षा भी करता है। आहार आदि दान देने में परद्रव्य से मूर्च्छा का भी त्याग होता है। कहा भी है- ''बिन दान श्रावक साधु दोनों लहें नाहीं बोध को।'' इसलिये प्रशस्त पुण्य उपार्जन के लिये तथा गृहविरत साधु आदि की संयम साधना के लिये आहारदान देना कहा गया है। श्रावक के षट्कर्मों में आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने ''दाणं पूजा मु€खं सावय ध में'' इस प्रकार कहा है।

प्रश्न : दान कितने प्रकार का होता है और उनमें सर्वश्रेष्ठ दान कौनसा है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 608)

उ र : दान चार प्रकार का कहा गया है- आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान और अभयदान। चारों ही दान स्वपरकल्याणकारी हैं, अत: अवसर के अनुसार चारों दान उ म हैं। आहारदान देने से आहारदान तो हो ही गया, क्षुधारूपी रोग शान्त होने से औषधिदान भी हो गया, जीवरक्षा होने से अभयदान भी हुआ और आहारदान मिलने पर ही इन्द्रियाँ व मन ज्ञान की आराधना कर पाते हैं, अत: ज्ञानदान भी हुआ। चारों प्रकार के दान यद्यपि श्रेष्ठ हैं, फिर भी आचार्यों ने ज्ञानदान को श्रेष्ठ कहा है, योंकि अन्य तीन दान तो कुछ समय तक कार्यकारी दिखाई पड़ते हैं, जबकि ज्ञानदान भव-भव में कार्यकारी होता है।

प्रश्न : चार प्रकार का आहार कौन-कौनसा है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 609)*

उ र : श्री धवला पुस्तक 13/55 में आहार के चार भेद कहे गये हैं-

1. अशन- जिससे भूख मिटती हो। जैसे- रोटी आदि।
2. पान- पीनेयोग्य पदार्थ। जैसे दूध, पानी, रस आदि।
3. खाद्य- लड्डू आदि पदार्थ।
4. स्वाद्य- इलायची, सौंफ आदि।

किन्हीं श्रावकाचारों में खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय ये चार भेद भी किये हैं। इनमें खाद्य के अर्थ में समस्त भोज्य पदार्थ रोटी, लड्डू आदि गर्भित हैं और लेह्य में चाटे जानेवाले पदार्थ चटनी आदि आते हैं।

प्रश्न : पात्र कितने प्रकार के होते हैं और उनका लक्षण €या है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 610)*

उ र : पात्र तीन प्रकार के होते हैं- पात्र, कुपात्र और अपात्र। इनमें से पात्र तीन प्रकार के होते हैं-

1. उ म पात्र- अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करनेवाले स यग्दृष्टि मुनि महाराज उ म पात्र हैं। आचार्य और उपाध्याय भी उ म पात्र हैं।

2. मध्यम पात्र- स य€त्व सहित पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक धारण करनेवाले व्रती श्रावक या श्राविकाएँ, क्षुल्लक या क्षुल्लिका, ऐलक तथा आर्यिकाएँ मध्यम पात्र हैं।

3. जघन्य पात्र- स यग्दर्शनसहित परन्तु व्रतरहित (प्रतिमा रहित) साधर्मी जन जघन्य पात्र हैं।

कुपात्र- जो व्रत, तप और शील से सहित हैं, किन्तु स यग्दर्शन से रहित हैं, वे कुपात्र हैं।

अपात्र- जो स यग्दर्शन, शील और व्रत इनसे रहित हो, वह अपात्र है।

प्रश्न : तीन प्रकार के पात्रों की कितनी भक्तियाँ होती हैं ?

उ□ ार :भक्तियाँ नौ होती हैं। 1. पड़गाहन, 2. उच्चासन, 3. पादप्रक्षालन, 4. पूजन, 5. नमस्कार, 6. मनशुद्धि, 7. वचनशुद्धि, 8. कायशुद्धि और 9. आहारशुद्धि। तीनों पात्रों में से उ̌ाम पात्र नवधा भक्ति के योग्य होते हैं। एक भी भक्ति कम होने पर वे आहार ग्रहण नहीं करते। मध्यम पात्र में क्षुल्लक, क्षुल्लिका, ऐलक तथा आर्यिकाओं की पादप्रक्षालन और पूजन के अलावा सात भक्तियाँ होती हैं। इनमें से आर्यिकाओं को वन्दामि तथा अन्य तीनों को इच्छामि कहा जाता है अर्थात् इच्छामि कहकर नमस्कार किया जाता है। उ̌ाम पात्र की तो पड़गाहन के उपरान्त तीन प्रदक्षिणा भी की जाती है, जबकि आर्यिका आदि मध्यम पात्र की प्रदक्षिणा नहीं दी जाती है। प्रतिमाधारी श्रावकों एवं श्राविकाओं की भक्तियाँ नहीं होतीं, उनको निमन्त्रण एवं आहारशुद्धि कहा जाता है। जघन्य पात्र को निमन्त्रण तो दिया जाता है, पर भक्ति आवश्यक नहीं होती।

कुपात्र और अपात्र के कोई भक्तियाँ नहीं होतीं। ये भक्तियों के योग्य नहीं हैं। उ̌ाम पात्र को दान देने से उ̌ाम भोगभूमि, मध्यम पात्र को दान देने से मध्यम भोगभूमि और जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य भोगभूमि प्राप्त होती है। कुपात्र को दान देने से कुभोगभूमि तथा अपात्र को दिया गया दान कोई उ̌ाम फलदायक नहीं होता। वह व्यर्थ रहता है अथवा दु:ख एवं कुगति का कारण होता है। स यग्दृष्टि जीव यदि पात्रदान करता है, तो उसके तिर्यञ्च एवं मनुष्यायु का बंध न होने के कारण देव पर्याय प्राप्त होती है।

प्रश्न : मुनि महाराज के जो तीन प्रदक्षिणा देने का विधान है, वह नवधाभक्ति में नहीं आता। तो €या तीन प्रदक्षिणा देना आवश्यक नहीं है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 612)*

उ□ ार :यह ठीक है कि मुनियों की तीन प्रदक्षिणा देना नवधाभक्ति में गर्भित नहीं है, परन्तु प्रथमानुयोग के महापुराण आदि में तथा चरणानुयोग के वसुनन्दि श्रावकाचार व चारित्रसार आदि ग्रन्थों में प्रदक्षिणा देने का स्पष्ट विधान मिलता है, अत: उनकी तीन प्रदक्षिणा देना आगमस मत है।

प्रश्न : जब आर्यिका माताजी का ग्राम या नगर में प्रवेश होता है, तो बहुत से साधर्मी भाई अपने घर या दुकान के द्वार के आगे उनको रोककर उनका पाद-प्रक्षालन तथा आरती करते हैं। यह कार्य आगमस मत है या नहीं ?

उ□ ार :आरती उतारना पूजा का प्रतीक है। पूजा तो नव देवताओं की होती है, अन्य की नहीं। आर्यिका माताजी नवदेवताओं में नहीं आतीं, अत: उनको घर या दुकान के आगे रोककर या अन्य कहीं भी पादप्रक्षालन, आरती करना अथवा अर्घ्य समर्पित करना आगमस मत कार्य नहीं है। ऐसा कभी नहीं करना चाहिये। उनको जो श्रीफल समर्पित किया जाता है, वह स मान का सूचक है, पूजा

का नहीं। श्रीफल समर्पित करते समय कोई दोहा अथवा श्लोक आदि तथा मन्त्र नहीं बोलना चाहिये।

प्रश्न : कौन पात्र स यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि ? कौनसे मुनिराज द्रव्यलिङ्गी हैं या भावलिङ्गी ? हमारी सामर्थ्य यह सब जानने की नहीं है, फिर दान कैसे दिया जाये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 612)*

उ□ ार द्रव्यलिङ्ग या भावलिङ्ग की पहचान मति-श्रुतज्ञान के द्वारा स भव नहीं है। उनके स य€त्व या मिथ्यात्व भाव का ज्ञान भी नहीं हो सकता है। दान का वर्णन चरणानुयोग में है, अत: हमको पात्र की चर्या देखकर उनके पात्र या कुपात्रपने का निर्णय कर लेना चाहिये। जो मुनिराज स यग्दृष्टि के समान चर्यावाले हों अर्थात् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के अलावा अन्य की वन्दना न करते हों, न कराते हों तथा अपने पद योग्य मूलगुणों का आगम के अनुसार पालन करते हों, उनको उǯाम पात्र मानकर भक्तिभाव से आहार देना हमारा कǯाव्य है। परिणामों की सूक्ष्मता इतनी है कि कौन मुनिराज कब किस गुणस्थान में आ जायें और चले जायें, इसका ज्ञान होना हमें स भव नहीं है। जिन मुनिराजों की चर्या आगम के अनुसार नहीं है, उनको उǯाम पात्र कैसे कहा जा सकता है ?

प्रश्न : व्रती को प्रतिदिन द्वारापेक्षण करके अतिथि को आहार देकर भोजन करना चाहिये। वर्तमान में पात्र मिलते नहीं हैं, तब €या करना उचित है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 613)*

उ□ ार मुनियों के अभाव में और उनकी आशा के अभाव में द्वारापेक्षण करना आवश्यक नहीं है, किन्तु मुनियों की आहारबेला को टालकर श्रावक को भोजन करना चाहिये। भोजन से पूर्व भावना भानी चाहिये कि यदि मुनियों को आहार देने का शुभ अवसर प्राप्त होता, तो उ□ ाम था। किन्तु मैं ऐसे निकृष्ट क्षेत्र व काल में उपस्थित हूँ कि जहाँ पर पात्र का समागम प्राप्त नहीं हो रहा है। मेरी भावना है कि मध्यलोक में जितने भी सत्पात्र हैं, उनका निरन्तराय आहार हो।

पात्र न मिलने पर कुǯो या गाय आदि को रोटी खिलाना करुणादान है, उससे पात्रदान की पूर्ति नहीं हो सकती।

प्रश्न : करुणादान करने का आगम में उल्लेख मिलता है या नहीं ? हमें करुणादान करना चाहिये या नहीं ?

उ□ ार द्रान के अन्य प्रकारों का वर्णन सागारधर्मामृत आदि शास्त्रों में मिलता है। इन शास्त्रों के अनुसार हमको पात्रदान के अतिरिक्त अन्य दान भी अवसर के अनुसार देना चाहिये। जैसे गरीबों की सहायता करना, भूखों को भोजन कराना, प्याऊ लगवाना आदि करुणादान में आते हैं। व्रत आदि स पन्न होने पर साधर्मियों को भोजन करना ''समदǴादान'' कहलाता है। मरण से पूर्व अपनी सारी स पǴि अपने पुत्र या अन्य स बन्धियों को दे देना ''अन्वयदǴि'' कहलाता है।

शास्त्रों में यह भी वर्णन मिलता है कि बहुत से अजैनों की बजाय एक जैन की सहायता करना श्रेष्ठ है। हाईस्कूल या कॉलेज खुलवाने की बजाय एक धार्मिक पाठशाला खुलवाना श्रेष्ठ है। अत: दान करते समय धार्मिक प्रसङ्गों को ही प्राथमिकता देनी चाहिये। वास्तव में अपनी वस्तु का या धन का त्याग करने में जो ममत्व भाव घटाया जाता है, उसी का नाम दान है।

अभिषेक-पूजा-भक्ति-स्वाध्याय

प्रश्न : जिनप्रतिमा की पूजा हमने ब्राह्मण या हिन्दूधर्मवालों से ली है या यह पर परा हमारी अपनी है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 614)*

उ□ ार ज़ैन समाज में जिनप्रतिमा की पूजा एवं स्थापना अनादिकाल से है। तीर्थङ्कर भगवान् अनादिकाल से होते आये हैं और उनके समवसरण में मानस्त भ आदि में जिनप्रतिमाएँ हमेशा से होती आई हैं। नन्दीश्वर द्वीप और पंचमेरु आदि के चैत्यालय अनादिकाल से हैं, जिनकी इन्द्र आदि देव अभिषेक व पूजा करते रहते हैं। इसलिये जैनधर्म में जिनप्रतिमा की पूजा का विधान अनादिकाल से है।

अन्य सभी धर्मों में से सबसे प्राचीन हिन्दूधर्म है, □ योंकि बौद्धधर्म पच्चीस सौ वर्ष पुराना है, ईसाई धर्म दो हजार वर्ष पुराना है, मुस्लिम धर्म चौदह सौ वर्ष पुराना है। इन सब धर्मों से हिन्दूधर्म प्राचीन है। परन्तु हिन्दूधर्म के आद्य शास्त्र वेदों में मन्दिर बनाना, मूर्ति विराजमान करना, पूजा-पाठ, आरती आदि करना, अभिषेक करना आदि का कोई विधान उपलŽध नहीं है। वेदों में तो मात्र यज्ञ करने का विधान है। जितने ाी प्राचीनतम हिन्दू मन्दिर वर्तमान में हैं, उनमें से अधिकांश पहले जैन मन्दिर ही थे। इससे सिद्ध है कि जिनप्रतिमा की स्थापना एवं पूजा करना अनादिकाल से जैनधर्म में ही उल्लिखित पाया जाता है।

प्रश्न : □ या आर्ष ग्रन्थों में द्रव्यपूजा का कथन पाया जाता है ?*(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1339)

उ□ ार द्रव्यपूजा का सविस्तार कथन आर्ष ग्रन्थों में पाया जाता है। श्री मूलाचार 1/26 में और उसकी टीका में स्पष्ट कहा है कि लाये हुये प्रासुक गन्ध, पुष्प, धूपादिकों से जिनेश्वरों के चरणों को पूजना चाहिये। इसी मूलाचार जी में 7/98 की टीका में कहा है कि अपने वैभव और वि□ ा के अनुसार देवपूजा करनी चाहिये। इसके अलावा वराङ्गचरित्र, उपासकाध्ययन आदि ग्रन्थों में द्रव्यपूजा का वर्णन प्राप्त होता है। द्रव्यपूजा की पर परा हमने किसी अन्य धर्म से नहीं ली है। अनादिकाल से इन्द्रादि देवगण अष्टाह्निका पर्व के दिनों में नंदीश्वर द्वीप में स्थित जिनालय और जिनबि बों की तथा समवसरण में स्थित मानस्तंभ में विराजमान जिनबि बों की अभिषेक पूर्वक पूजा करते हैं। अत: जैनागम के अनुसार यह द्रव्य पूजा अनादिकालीन है।

प्रश्न : देवदर्शन करना यों आवश्यक है और या आगम में इसका उल्लेख मिलता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1360)

उ र : मूलाराधना गाथा 300 की टीका में कहा गया है कि हे मुनिगण! आप अरहंत और सिद्ध की अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिमाओं की भक्ति करो। जैसे शत्रुओं की अथवा मित्रों की फोटो दिख पड़ने पर द्वेष और राग उत्पन्न होता है, यद्यपि उस फोटो ने उपकार अथवा अनुपकार कुछ भी नहीं किया है फिर भी वह शत्रुवत् अपकार और मित्रवत् उपकार स्मरण होने में कारण है। उसी प्रकार अरहंत और सिद्धों के अनंतज्ञानादि गुण यद्यपि अरहंत प्रतिमा और सिद्ध प्रतिमा में नहीं हैं तथापि उन गुणों का स्मरण होने में वे प्रतिमा कारण होती हैं। €योंकि अरहंत और सिद्धों का उन प्रतिमाओं से सादृश्य है । यह गुणस्मरण अनुराग स्वरूप होने से ज्ञान और श्रद्धान को उत्पन्न करता है और इससे नवीन कर्मों का अपरिमित संवर और पूर्व बंधे हुये कर्मों की महानिर्जरा होती है। इसलिये हे मुनिगण ! शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति होने में सहायक ऐसी चैत्यभक्ति हमेशा करो।

चारित्रसार पृ. 150 पर कहा है कि जिनबि ब, भव्य लोगों की भक्ति के अनुसार स्वर्ग और मोक्ष पद देते हैं। जिस प्रकार गरुड़ मुद्रा से विष दूर हो जाता है उसी प्रकार जिनबिंब के दर्शन मात्र से पापों का नाश हो जाता है। इसलिये जिनबिंब की वंदना करनी चाहिये और जिनबिंब के आश्रय होने से चैत्यालय की ी वंदना करनी चाहिये।

उपर्युक्त प्रकार देवदर्शन के संबंध से प्रचुर प्रमाण विभिन्न शास्त्रों में प्राप्त होते हैं। जिसके अनुसार देवदर्शन दिन में तीनबार या एकबार करना परमावश्यक है।

प्रश्न : हथियार या आभूषणवाली मूर्ति पूजने योग्य है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 616)

उ र : जैनधर्म में तो वीतराग मूर्ति की पूजा एवं आराधना बतलाई गई है, यों कि वीतराग मूर्ति की पूजा से परिणामों में वीतरागता आती है। हथियारसहित मूर्ति की पूजा करने से वीतरागता नहीं आती, क्रूरता आती है। आभूषणसहित मूर्ति की पूजा से वीतरागता नहीं, सरागता आती है। अत: श्वेता बरों की आभूषणसहित मूर्तियाँ, चाहे वे किसी भी भगवान् की हों, पूज्य नहीं हैं। जैनधर्म में तो पंच परमेष्ठी, जिनधर्म, जिनागम, जिनमंदिर और जिनमूर्ति ये नवदेवता ही पूजा के योग्य कहे गये हैं। इनके अलावा धरणेन्द्र, पद्मावती आदि देव या देवियों की मूर्तियाँ पूज्य नहीं हैं।

प्रश्न : पद्मावती देवी के सिर पर भगवान् पार्श्वनाथ बनाये जाते हैं। ऐसी मूर्तियाँ पूज्य हैं या नहीं ?

उ र : किसी भी शास्त्र में या पुराण आदि में यह वर्णन नहीं मिलता कि पद्मावती देवी ने

भगवान् पार्श्वनाथ को सिर पर उठाया हो। कथा तो यह है कि अवधिज्ञान द्वारा भगवान् पार्श्वनाथ पर उपसर्ग जानकर धरणेन्द्र ने भगवान् के ऊपर सर्प का रूप धारण कर और फण फैलाकर उपसर्ग निवारण किया था। पद्मावती देवी ने धरणेन्द्र के ऊपर छत्र लगाया था। भगवान् पार्श्वनाथ की ऐसी प्राचीनतम मूर्तियाँ एलोरा, बादामी गुफाएँ तथा ऐहोले आदि स्थानों पर आज भी विद्यमान हैं, जो एक हजार से पन्द्रह सौ वर्ष तक प्राचीन हैं। पद्मावती देवी के सिर पर भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति बनाना तो सौ-दो सौ वर्ष पहले ही शुरू हुआ है। विशेष यह भी है कि ऐसी मूर्तियों का पंचकल्याणक नहीं होता, अत: पद्मावती देवी के मस्तक पर विराजमान भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति न तो दर्शनीय है, न वन्दनीय है और न ही पूजनीय है।

प्रश्न : जिनालय में विराजमान जिनबि ब को किस अवस्था का मानना चाहिये ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1339)

उ□ ार :जिनमंदिर में जो प्रतिमा हैं वे मु यरूप से अरहंत व सिद्धावस्था की हैं किन्तु गौणरूप से पांचों परमेष्ठियों की हैं €योंकि पांचों परमेष्ठी पूजनीय हैं। नमस्कार मंत्र में भी पांचों परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। अत: अरहंत व सिद्ध परमेष्ठी की मूर्ति को पंच परमेष्ठी की मूर्ति मानना उचित है।

प्रश्न : शास्त्रों में कहा गया है कि केवलज्ञान होने से पूर्व ही सभी उपसर्ग समाप्त हो जाते हैं। मन्दिर जी में विराजमान मूर्तियाँ केवली या सिद्धावस्था की होती हैं, तो फिर भगवान् पार्श्वनाथ की फणसहित मूर्ति को, बेलों सहित भगवान् बाहुबली की मूर्ति को मुनि अवस्था की मूर्ति माना जाये या केवली अवस्था की ?

उ□ ार :यह सच है कि केवलज्ञान होने से पूर्व समस्त उपसर्ग दूर हो जाते हैं और यह भी सच है कि मन्दिर जी में विराजमान मूर्तियाँ केवली या सिद्धावस्था की होती हैं। वास्तव में तो भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति फणसहित नहीं बननी चाहिये थी और भगवान् बाहुबली की मूर्ति पर भी बेलें चढ़ी हुई नहीं होनी चाहिये थी, परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ ने भयङ्कर उपसर्ग सहन किया था। वे महान् उपसर्ग-विजेता थे, यह बताने के लिये फणसहित मूर्ति का निर्माण हुआ। बाहुबली महाराज भी एक वर्ष तक पाषाणवत् खड़े रहे थे, इसी कारण उनके शरीर पर बेलें भी चढ़ गई थी। उनकी इस महान् तपस्या को बताने के लिये बेलों सहित मूर्तियाँ बनाने की पर परा प्रार भ हुई। ये दोनों पर परायें हजार पन्द्रह सौ वर्ष पुरानी है। इस प्रकार की मूर्तियों की बड़े-बड़े आचार्यों ने प्रतिष्ठा और वन्दना की है, अत: हमको भी संशयरहित होकर इन मूर्तियों को केवली अवस्था की मानते हुए तथा इनकी महान् तपस्या का चिन्तन करते हुए पूजन, वन्दन, स्तवन आदि करना उचित है।

प्रश्न : €या प्रतिमा का अभिषेक करना आगम स मत है ? €या अभिषेकपूर्वक ही पूजन करनी चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 615)*

उ र यशस्तिलक च पू में सोमदेव महाराज ने कहा है कि गृहस्थियों को देवसेवा के अन्तर्गत अभिषेक, पूजन, स्तोत्र पाठ, जाप, ध्यान तथा शास्त्र स्वाध्याय ये क्रियाएँ करने योग्य हैं। अन्य आचार्यों ने भी इसी प्रकार कहा है। अत: प्रतिदिन पूजन से पूर्व अभिषेक करना आवश्यक है। नन्दीश्वर आदि द्वीपों में भी इन्द्रादि देवगण अभिषेकपूर्वक पूजन करते हैं।

प्रश्न : प्रतिमा जी का अभिषेक एक दिन में कितने बार होना चाहिये ? €या मूर्ति को कई घण्टों तक अभिषेक के लिये रखे रहने देना उचित है ?

उ र सही विधि तो यह है कि सभी पूजा करनेवाले साधर्मी भाई अभिषेक का एक निश्चित समय तय कर लें। उसी निश्चित समय के अन्तर्गत सभी पुजारियों को अभिषेक कर लेना चाहिये। आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने प्रतिमा जी का अभिषेक एक बार ही होने का कथन किया है। पूज्य आचार्यश्री के अनुसार भी जिस वेदी पर अभिषेक हो चुका हो और पूजन प्रार भ हो गई हो, वहाँ पुन: अभिषेक करना उचित नहीं है। इससे अन्य पुजारियों की पूजा में व्यवधान होता है। मूर्ति को घण्टों तक अभिषेक के लिये रखे रहने देना उचित नहीं है। या भगवान् के द्वारा अपना इन्तजार करवाना उचित कहा जा सकता है ? कभी नहीं। जिनका अ िषेक करने या देखने का नियम है, वे मन्दिर जी में निश्चित समय पर आयें। ऐसा भी समझना ठीक नहीं है कि जब तक मूर्ति का अभिषेक न हो जाये, पूजन नहीं की जा सकती। कभी किसी को अभिषेक के समय से पूर्व ही पूजन करनी हो, तो की जा सकती है। परन्तु श्रेष्ठ तो यही है कि अभिषेकपूर्वक पूजन की जाये।

प्रश्न : अभिषेक के समय या बोलना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 616)*

उ र अभिषेक के समय अभिषेक पाठ ही बोलना चाहिये। क्रिया के अनुरूप पाठ होना चाहिये। बहुत से स्थानों पर जन्मकल्याणक का पाठ बोलकर अभिषेक किया जाता है, जो उचित नहीं है। भगवान् की मूर्ति जन्मावस्था की नहीं है, अत: जन्मकल्याणक का पाठ बोलकर अभिषेक नहीं करना चाहिये। अभिषेक के बाद भी जन्मकल्याणक से स बन्धित भजन या आरती नहीं करना चाहिये। यदि अभिषेक के बाद शान्तिधारा करनी हो, तो शान्तिधारा का पाठ बोलते हुये अभिषेक करना चाहिये।

प्रश्न : भगवान् की आरती कब और कैसे करनी चाहिये ?

उ र यदि आरती करनी हो, तो सायंकाल सूर्यास्त के समय करनी चाहिये। रात्रि में जीवों की

उत्पिf। बहुत होती है, अत: रात्रि में आरती नहीं करनी चाहिये। आरती करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि घी मर्यादित हो, बाजार से अशुद्ध घी लाकर आरती करना उचित नहीं है। ऐसे अशुद्ध घी में त्रस जीव भरे होते हैं, उनकी हिंसापूर्वक आरती कैसे की जाये ? यह भी ध्यान रखना चाहिये कि उतना ही घी लिया जाये, जो आरती करने में समाप्त हो जाये। आरती के बाद घण्टों तक दीपक जलते रखना उचित नहीं है। अखण्ड दीप की पर परा भी जैन शास्त्रों में नहीं कही गई है। धार्मिक कार्यों में तो जितनी हिंसा कम हो, उतना श्रेष्ठ है। कर्पूर से आरती करना भी उचित कहा जाता है।

प्रश्न : वेदी में भगवान् की प्रतिमा स्थापित है, तो ठोने में स्थापना करनी चाहिये या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 617)

उ ार इस स बन्ध में पं0 मु तार साहब जी का कथन है कि यदि पूजन में आह्वान आदि का पाठ हो, तो ठोने में स्थापना कर ले, अन्यथा नहीं। किन्तु ठोने की स्थापना को प्रतिमा नहीं जानना। प्रतिमा जी में पंच परमेष्ठी के रूप का निश्चय कर ध्यान, पूजन आदि करना चाहिये। इस स बन्ध में श्री रत्नकरण्डक श्रावकाचार के श्लोक नं. 119 की पं0 सदासुखदास जी की टीका में इस प्रकार भी कहा है कि यदि कोई कहे कि जिस तीर्थङ्कर की प्रतिमा हो, उनकी पूजा करनी चाहिये, अन्य की नहीं और अन्य की पूजा करनी हो, तो चावलों में स्थापना करके करे। इसका उ ार यह है कि यदि ऐसा ही उचित माना जाता, तब आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् चन्द्रप्रभ की मूर्ति के सामने स्वय भूस्तोत्र कैसे पढ़ा ? बिना भगवान् आदिनाथ की मूर्ति के भक्तामर स्तोत्र कैसे पढ़ा जा सकेगा ? अत: ऐसा कहना उचित नहीं। तदाकार प्रतिमा में ध्यान जोड़ने के लिए पंच परमेष्ठी के स्वरूप का प्रतिमा में निश्चय कर ध्यान, पूजन, स्तवन करना योग्य है।

प्रश्न : निर्माल्य द्रव्य या है ? उसका या उपयोग होना चाहिये ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 619)

उ ार: जिनेन्द्र भगवान् की पूजा या दर्शन करने में जो द्रव्य चढ़ा दिया गया है, वह निर्माल्य कहलाता है। उस द्रव्य में किसी प्रकार से भी अपना स्वामित्व मानना उचित नहीं है। जब स्वामित्व ही नहीं है, तब उसके उपयोग का प्रश्न ही नहीं बनता। वर्तमान में भी ऐसा चढ़ा हुआ द्रव्य मन्दिर के कर्मचारी का होता है। परन्तु उस कर्मचारी को हमें उचित वेतन भी देना चाहिये अन्यथा निर्माल्य द्रव्य बेचने का दोष लग सकता है। ऐसा निर्माल्य द्रव्य गरीबों को दिया जा सकता है, पक्षियों को खिलाया जा सकता है अथवा बिक्री करके इसका द्रव्य गौशाला आदि में दिया जा सकता है, परन्तु अपने उपयोग में कदापि नहीं लेना चाहिये। मुनिराज को अर्घ्य में चढ़ाये हुये श्रीफल या आर्यिका माताजी आदि के स मान में समर्पित श्रीफल दुबारा उपयोग में नहीं लेने चाहिये। ये तो कर्मचारी के होते हैं।

भगवान् के आगे चढ़ाये गये रुपये पैसे भी कमेटी के नहीं होते, कर्मचारी के होते हैं। गोलक में प्राप्त धन कमेटी का होता है, उससे मन्दिर की व्यवस्था होती है, लेकिन गोलक की राशि से खरीदे गये द्रव्य के द्वारा पूजन करना उचित नहीं है। पूजन के लिये शास्त्रकथित मार्ग के अनुसार तो नित्य अपने घर से द्रव्य लेकर जाना चाहिये। यदि यह स भव न हो, तो पूजन सामग्री के लिये अलग राशि एकत्र करनी चाहिये और उससे ही पूजा की सामग्री खरीदनी चाहिये।

प्रश्न : कुदेव कौन होते हैं ? □ या ये पूजा के योग्य हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 619)*

उ□ ार : पूज्यता की अपेक्षा श्री अरहन्त भगवान् को सुदेव और रागी-द्वेषी देवताओं को कुदेव कहा गया है। चतुर्निकाय के देवों के देवायु आदि का उदय होने से उनको देव कहा गया है। पूज्यता की अपेक्षा से उनको देव नहीं कहा गया है। श्री अरहन्त देव या श्री सिद्धदेव के अतिरिक्त अन्य किसी देव की पूजा का विधान आगम में नहीं है। पंचकल्याणक आदि महापूजाओं में किसी प्रकार की विघ्न-बाधा न आ जाये, इसलिये सहयोग के लिये उन स यग्दृष्टि दिग्पाल आदि का आह्वान किया जाता है। श्री अरहन्त देव के समान उनको भी देव मानकर उनकी पूजा नहीं की जाती है। पद्मावती आदि देवियाँ पंच परमेष्ठी में गर्भित नहीं होती, इसलिये परमेष्ठी की तरह वे पूजनीय नहीं हैं। वे जैनधर्म की अनुयायी हैं, साधर्मी हैं, इसलिये आदरणीय हैं।

किसी भी रागी-द्वेषी देवी-देवता की मूर्ति को भगवान् की वेदी में विराजमान नहीं करना चाहिये। उनको भगवान् के समकक्ष कैसे विराजमान किया जा सकता है ? जिन प्रतिमा के साथ एक थाली में रखकर किसी भी देवी-देवता की मूर्ति का अभिषेक नहीं करना चाहिये।

प्रश्न : हम पहले अरहन्त भगवान् को नमस्कार करते हैं और बाद में सिद्ध भगवान् को, जबकि अरहन्त भगवान् चार कर्मों से रहित हैं और सिद्ध भगवान् आठों कर्मों से रहित है। ऐसा □ यों ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 620)

उ□ ार : श्री धवला पु. 1/53 में इस प्रश्न के उ□ ार में कहा गया है कि यदि अरहंत परमेष्ठी न होते, तो हम लोगों को आप्त, आगम और पदार्थ का परिज्ञान नहीं हो सकता अर्थात् अरहन्त परमेष्ठी के प्रसाद से हमें इस बोध की प्राप्ति हुई है। इसलिये उपकार की अपेक्षा अरहन्तों को पहले नमस्कार किया जाता है।

प्रश्न : पूजा भक्ति आदि कार्यों से आस्रव-बन्ध ही होता है या संवर-निर्जरा भी होती है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 621-30)

उ□ ार : भगवान् की पूजा, भक्ति आदि करने से शुभ कर्मों का आस्रव-बन्ध होता है तथा अशुभ

कर्मों का संवर और निर्जरा होती है। जिस प्रकार सराग स य€त्व और सराग संयम से आस्रव-बन्ध और संवर-निर्जरा भी होते हैं तथा ये मोक्ष के भी कारण हैं। मिथ्यादृष्टि जीवों के द्वारा की गई जिनेन्द्रपूजा आदि मात्र पुण्य बन्ध के कारण होती हैं, €योंकि मिथ्यादृष्टि जीव को जिनेन्द्र के गुण वीतरागता आदि का ज्ञान नहीं है। वह अतीन्द्रिय सुख को भी नहीं जानता, मात्र इन्द्रिय जनित सुख को सुख जानता है और उसी सुख के लिये वह पूजन, दान आदि करता है। ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों को मात्र पुण्यास्रव होता है, जिसके फलस्वरूप इन्द्रिय सुख तो मिल जाता है, संवर-निर्जरा नहीं होती। स यग्दृष्टि की देवपूजा आदि को जो सर्वथा आस्रव व बन्ध का कारण मानते हैं, वे एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं। इसी प्रकार यदि कोई जिनपूजा आदि से अल्प कर्मबन्ध भी स्वीकार न करे तथा समस्त कर्मों की निर्जरा माने, तो वह भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। महान् ग्रन्थराज धवला (10/289) आदि में जिनपूजा, वन्दना और नमस्कार से भी बहुत कर्मप्रदेशों की निर्जरा कही गई है। स्वाध्याय अन्तरङ्ग तप है और तप से भी कर्मों का क्षय होता है, इसलिये स्वाध्याय भी निर्जरा का कारण है।

प्रश्न : पूजा आदि शुभ कार्यों को पुण्यबन्ध का कारण होने से हेय कहने की अपेक्षा €या है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 628)*

उ□ ार ग्रीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित जीव के शुद्धोपयोग की अपेक्षा स यग्दृष्टि की देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा और पूजा तथा अनुक पा अर्थात् करुणा भाव को भी हेय कहा गया है, €योंकि वीतराग निर्विकल्प समाधि में उपर्युक्त प्रकार के विकल्प नहीं रहते। अर्थात् शुद्धोपयोगी जीवों के लिये उपर्युक्त अपेक्षा से कथंचित् पूजा आदि शुभभावों को हेय कहा गया है। हम गृहस्थियों के लिये शुद्धोपयोग तो स भव नहीं है, अत: ागवान् की पूजा, भक्ति आदि रूप शुभ भावों को उपादेय मानना चाहिये। जिस अपेक्षा से जो कथन किया गया है, उसी अपेक्षा से वह कथन सत्य है, किन्तु उस कथन को, जो सर्वथा मान लेते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं।

प्रश्न : प्रभु भक्ति से अपने प्रयोजन की सिद्धि होती है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 630)*

उ□ ार भगवान् की भक्ति, पूजा आदि करने से विशुद्ध परिणाम होने से मन्द बन्ध होता है। यदि विशुद्ध परिणाम प्रबल हों, तो पूर्व में जो तीव्र बन्ध हुआ था, वह भी मन्द पड़ जाता है, जिसके कारण सांसारिक दु:ख देनेवाले कर्मों का अनुभाग घट जाने से तथा अशुभ कर्मों का शुभरूप संक्रमण हो जाने से दु:खों का अभाव एवं लौकिक सुख की प्राप्ति होती है। स्तोत्र आदि के पाठ द्वारा प्रयोजन सिद्धि होने की बहुत सी कथाएँ सर्वविदित हैं। स्तोत्र-पाठ आदि के द्वारा पुण्यबन्ध होने से रोगों का शमन भी हो जाता है। सत्य तो यह है कि जिसको मोक्षमार्ग रुचता है, उसको जिनेन्द्रदेव की भक्ति तो दूर रहे, स यग्दृष्टि की जो बातें हैं, वह सब उसको रुचती हैं।

प्रश्न : नवग्रह अरिष्ट निवारक या कालसर्पयोग विधान करना योग्य है या नहीं ?

उ□ ार : नवग्रह की मान्यता जैन आगम स मत नहीं है। जैन शास्त्रों में सूर्य और चन्द्रमा को ग्रहों में नहीं लिया गया है। इन ग्रहों के माध्यम से ज्योतिष विद्या द्वारा भविष्य की बातों का ज्ञान तो स भव है, परन्तु इनके द्वारा हमारा कुछ भी इष्ट या अनिष्ट नहीं होता है। ग्रहों की पूजा करना तो गृहीत मिथ्यात्व है।

आजकल कुछ लोग शनिवार को मुनिसुव्रतनाथ भगवान् की विशेष पूजा करने लगे हैं। ऐसे लोगों का कथन है कि मुनिसुव्रतनाथ भगवान् शनिग्रह का कष्ट दूर करते हैं। ऐसे लोगों का कथन भ्रमपूर्ण है और मिथ्यात्वरूप है। सारे तीर्थङ्कर समान गुणवाले हैं। किसी एक तीर्थङ्कर में कोई विशेष योग्यता का कथन करना अज्ञानता का सूचक है।

कालसर्पयोग कुछ भी नहीं होता है। अत: कालसर्पयोग का कष्ट दूर करने के लिये विधान कराना मिथ्यात्व है, नव रात्रियों को भी शुभ दिन मानकर उन दिनों में विशेष पूजा-पाठ करने का कोई वर्णन जैन शास्त्रों में नहीं मिलता है। नवरात्रि में विशेष पूजा करना वैदिक पर परा का सूचक है। हमको इन सबसे दूर रहकर अपने स य€त्व को सुरक्षित रखना चाहिये।

प्रश्न : स्वाध्याय करने का □ या लाभ है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 639)*

उ□ ार : पहले संस्कृत और प्राकृत के ही ग्रन्थ हुआ करते थे। पाण्डुलिपियाँ होती थी, जिनका समझना कठिन होता था। परन्तु वर्तमान में चारों अनुयोगों के ग्रन्थों का सरल अनुवाद तथा प्रिंटिंग प्रेसों में प्रकाशन होने लगा है। इन ग्रन्थों को साधारणजन भी सरलतापूर्वक समझ सकते हैं। यदि स्वाध्याय नहीं करेंगे, तो सात त□ व, नौ पदार्थ, आठ कर्म, निज और पर का भेदविज्ञान आदि कैसे समझ पायेंगे ? अत: स्वाध्याय परम आवश्यक है। इससे मन-वचन-काय एकाग्र होता है। स्वाध्याय के समय जो कर्मबन्ध होता है, वह भी पाप कर्मों का मन्द और पुण्य कर्मों का तीव्र अनुभाग लिये होता है। पहले बँधे हुये ज्ञानावरण आदि कर्मों का तीव्र अनुभाग भी संक्रमण या अपकर्षण को प्राप्त होकर मन्द अनुभागरूप हो जाता है। स्वाध्याय के काल में प्रतिसमय असं यातगुणी कर्मनिर्जरा भी होती है। स्वाध्याय से अज्ञानरूपी अंधकार दूर होता है।

जब भी शास्त्र-स्वाध्याय करें, विनयपूर्वक करना चाहिये। पवित्रता का भी पूरा ध्यान रखना चाहिये। स्वाध्याय के समय मुखशुद्धि भी होनी चाहिये। स्वाध्याय प्रार भ करने से पूर्व मङ्गलाचरण करें, उसके बाद स्वाध्याय करें और अन्त में जिनवाणी-स्तुति करके यथास्थान (सही स्थान) शास्त्र जी को विराजमान करना चाहिये। प्रतिदिन एक ही शास्त्र का स्वाध्याय करना चाहिये और क्रमपूर्वक करना चाहिये। चाहे जिस शास्त्र को उठाकर स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

प्रश्न : स्वाध्याय का क्रम □ या होना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 640)*

उ□ ार :देखा जाता है कि दस-बीस साल से स्वाध्याय सभा में निरन्तर बैठने पर भी कुछ महानुभावों को बिल्कुल भी ज्ञान नहीं हो पाता। इसका कारण है अक्रमपूर्वक स्वाध्याय करना। स्वाध्याय के लिये सर्वप्रथम बालबोध की पुस्तकों का तथा छहढाला का पूर्ण ज्ञान करें। इसके बाद रत्नकरण्डकश्रावकाचार, द्रव्यसंग्रह तथा मोक्षशास्त्र का इसी क्रम से अध्ययन करें। इतना अध्ययन कर लेने पर अब आपको शास्त्रों के समस्त प्रसङ्ग समझ में आने लगेंगे। आचार्य समन्तभद्र महाराज ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में जिनवाणी को प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगों में विभक्त किया है। हमको इसी क्रम में अध्ययन करना चाहिये। स्वाध्याय में रुचि बनाने के लिये तथा पुण्य और पाप आदि का फल जानने के लिये प्रथमानुयोग पढ़ें। चार गति, कालचक्र तथा लोकालोक का ज्ञान करने के लिये करणानुयोग पढ़ें। गृहस्थ और मुनियों के आचरण का ज्ञान करने के लिये चरणानुयोग के ग्रन्थ पढ़ें। इन तीनों का अध्ययन होने के उपरान्त फिर आत्मतŠव का सूक्ष्म ज्ञान करने के लिये परमात्मप्रकाश, प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रन्थ पढ़ें। यदि कोई अन्य अनुयोगों का अ यास किये बिना समयसार आदि द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ पढ़ने लगेगा, तो वह आचार्यों के अभिप्राय को नहीं जान सकेगा। वर्तमान में यही देखा जा रहा है और उसी के कारण त□ वज्ञान में भूल हो रही है। अत: क्रमपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिये।

प्रश्न : स्वाध्याय करने के लिये या आगमज्ञान प्राप्त करने के लिये □ या व्यवस्था बनाई जाये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 643)*

उ□ ार :शास्त्र-अध्ययन के लिये श्रेष्ठ विधि तो यह है कि प्रत्येक गाँव में पाठशालाएँ हों, जिनमें शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान् पुरुष या महिलाएँ पढ़ाने का कार्य करें। यदि ऐसा न हो, तो कोई विद्वान् बाहर से बुलाकर रखना चाहिये। यदि उसके वेतन आदि देने की सामर्थ्य न हो, तो अपने गाँव में या शहर में धार्मिक शिक्षण शिविर लगवाना चाहिये और उनमें क्रम से अध्ययन करना चाहिये। यदि शिविर लगाने के लिये अन्य लोग तैयार न हों, तो जहाँ शिक्षण शिविर लग रहे हों, वहाँ जाकर क्रम से अध्ययन करना चाहिये।

प्रश्न : स्वाध्याय कैसे करना चाहिये ?

उ□ ार :जिनको शास्त्रज्ञान में रुचि है, उन्हें अपना ग्रन्थ खरीदकर स्वाध्याय करना चाहिये। स्वाध्याय करते समय हाथ में पेंसिल लेकर मु य विषयों को रेखाङ्कित करना चाहिये। स्वाध्याय कर चुकने के बाद उन रेखाङ्कित नवीन विषयों को डायरी में नोट करना चाहिये। इस तरह करने से वह विषय याद हो जायेगा। जो प्रसङ्ग समझ में न आयें, उनको एक अलग कॉपी में उस विषय के शास्त्र

और पृष्ठ सहित लिखकर रखना चाहिये। जब भी कोई विशेष विद्वान् या साधु का समागम हो या उनके दर्शन करने कभी जाएँ, तब उनसे चर्चा करके उन प्रश्नों का समाधान कर लेना चाहिये और उसे भी डायरी में नोट कर लेना चाहिये। थोड़ा अध्ययन होने के पश्चात् अपने से कम अध्ययनवालों को पढ़ाना भी चाहिये, ताकि विषय स्मरण में रहा आवे।

यह अवश्य ध्यान रखें कि शास्त्र स्वाध्याय का फल तब ही प्राप्त होगा, जब पढ़े हुये विषय का निरन्तर चिन्तन भी करेंगे और तदनुसार अपने आचरण को भी सुधारेंगे।

प्रश्न : स्वाध्याय करने का काल कौनसा होना चाहिये ? €या अष्टमी चतुर्दशी को तǍवार्थसूत्र, भक्तामरस्तोत्र आदि नहीं पढ़ना चाहिये ?

उ□ ार :विभिन्न शास्त्रों में शास्त्राध्ययन करने के लिये कालशुद्धि का वर्णन आया है अर्थात् किन समयों में शास्त्राध्ययन नहीं करें, इसका वर्णन है। यह वर्णन सामान्य शास्त्रों के लिये नहीं है। यह वर्णन सूत्रग्रन्थ अर्थात् षट्खण्डागम, कसायपाहुड तथा इनकी धवला, जयधवला और महाधवला टीकाओं के पढ़ने के लिये कहा गया है अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी आदि कालों में उपर्युक्त महान् ग्रन्थों को नहीं पढ़ना चाहिये, शेष ग्रन्थों के पढ़ने के लिये काल का नियम नहीं है। तǍवार्थसूत्र या भक्तामरस्तोत्र पाठ उचित शुद्धिपूर्वक दिन या रात में कभी भी किया जा सकता है। ग्रहण आदि के समय इन ग्रन्थों का स्वाध्याय करने का निषेध नहीं कहा गया है।

प्रश्न : गृहस्थों को अङ्गपूर्व पढ़ने का अथवा श्री धवला आदि टीकाओं को पढ़ने का अधिकार है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 642)*

उ□ ार :गृहस्थों को अङ्गपूर्व पढ़ने का अधिकार नहीं है। आगम में किसी भी क्षुल्लक या ऐलक को अङ्गपूर्व आदि का ज्ञान होने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। आर्यिकाओं को चतुर्थकाल में एकादश अङ्गों का ज्ञान होने के प्रमाण शास्त्रों में उपलǴध हैं, लेकिन क्षुल्लक-ऐलकों को नहीं। पूज्य आचार्यश्री के अनुसार तथा अन्य श्रावकाचारों के अनुसार धवला आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय करने का अधिकार गृहस्थों को नहीं है। उनको कदाचित् कोई प्रसङ्ग किसी धवला की पुस्तक का देखना हो, तो केवल विनयसहित पूजा के वस्त्रों में वह प्रसङ्गमात्र देखना चाहिये। पूज्य आचार्यश्री धवला आदि की वाचना के समय गृहस्थों को सुनने के लिये भी नहीं बैठने देते हैं।

यह भी जानना चाहिये कि वर्तमान में कोई भी अङ्ग या पूर्व उपलǴध नहीं है। श्वेता बर पर परा में जिन अङ्गपूर्वों का प्रकाशन किया गया है, उनमें कोई भी वास्तविक नहीं हैं, सभी कल्पित शास्त्र हैं।

प्रश्न : स यग्दृष्टि की पूजा, स्वाध्याय आदि क्रियाएँ बुद्धिपूर्वक होती हैं या अबुद्धिपूर्वक ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 644)

उ□ ार इस प्रश्न के उǯार में पहले हमको बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक परिणामों की बात समझनी चाहिये। जो रागादि परिणाम मन के द्वारा बाह्य विषयों का आल बन लेकर होते हैं और जो जीवों को स्वयं ज्ञात होते हैं तथा दूसरों को भी अनुमान से ज्ञात होते हैं, उन परिणामों को बुद्धिपूर्वक कहा जाता है तथा जो रागादि परिणाम इन्द्रिय व मन के व्यापार के अतिरिक्त मात्र मोहोदय के निमिǯा से होते हैं, जीव को ज्ञात नहीं हो पाते हैं, वे अबुद्धिपूर्वक हैं। इन अबुद्धिपूर्वक परिणामों को प्रत्यक्षज्ञानी जानते हैं। स यग्दृष्टि की क्रियाएँ अर्थात् पूजा, स्वाध्याय आदि इच्छापूर्वक अर्थात् जानबूझकर होती हैं। अत: निचली अवस्था में स यग्दृष्टि की क्रियाओं को बुद्धिपूर्वक कहा गया है, परन्तु उसकी जो मुक्त होने की ाावना सतत् बनी रहती है, उसकी अपेक्षा उस भावना को अबुद्धिपूर्वक कहा जाता है। इस प्रकार अपेक्षाकृत भेद होने से स यग्दृष्टि की क्रियाएँ बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक भी होती हैं। निर्विकल्प समाधि से पूर्व जो आहार, विहार, धर्मोपदेश आदि क्रियाएँ होती हैं, वे मनोव्यापार द्वारा होती हैं तथा स्व-पर दोनों को ज्ञात होती हैं, अत: वे क्रियाएँ बुद्धिपूर्वक हैं। निर्विकल्प समाधि में जो योगरूप क्रिया होती है, वह कर्मोदय जनित होती है तथा स्वपर को ज्ञात नहीं होती है, अत: वह क्रिया अबुद्धिपूर्वक होती है।

प्रश्न : सोनगढ़ से प्रकाशित द्रव्यदृष्टि प्रकाश के पृष्ठ तेईस पर लिखा है कि ''भगवान् की वाणी सुनने से अपना नाश होता है। जिनवाणी परस्त्री के विषय समान है।'' €या यह कथन उचित है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 648)

उ□ ार ाआचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने तथा आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने जिनवाणी को समस्त जीवों का हितकारी, परमार्थरसिकजनों के मन को हरनेवाली तथा शङ्कादि दोषों को दूर करनेवाली कहा है। जबकि स्त्रियाँ संसार की उत्पǯि के लिये बीज के समान, दु:खों से भरी हुई, ग भीर खार के समान तथा पापरूपी मैल के भण्डार के समान कही हैं। इससे स्पष्ट है कि जिनवाणी और परस्त्री कदापि समान नहीं हैं। जिनवाणी हितकर है, मोक्ष का कारण है। परस्त्री अहितकर है और संसार का कारण है। जिनवाणी के बिना कुमार्ग से बचना स भव नहीं और मोक्षमार्ग को पाना भी स भव नहीं है। अत: भव्य पुरुषों को भक्तिपूर्वक आगम के अध्ययन और श्रवण में मन लगाना चाहिये। उपर्युक्त पुस्तक बिल्कुल गलत है।

अव्रती की क्रियायें, सूतक-पातक, यज्ञोपवीत

प्रश्न : सूतक-पातक का विधान मानना चाहिये या नहीं ? €या यह वैदिक मत की पर परा है या इसके प्रमाण जैन शास्त्रों में भी हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 651)*

उ□ ार ग्सूतक मानने का वर्णन जैन शास्त्रों में कहा गया है। मूलाचार के अनुसार जो मृतक को श्मशान में जलाकर आया है, ऐसा मृतक-सूतकवाला व्यक्ति इस दिन आहार देने के योग्य नहीं है। त्रिलोकसार में कहा है कि जो सूतक होने पर भी आहारदान करता है, वह कुभोगभूमि को प्राप्त होता है। और भी अन्य शास्त्रों में सूतक-पातक का वर्णन मिलता है। परन्तु बहुत से स्थानों पर इसकी मान्यता की अलग-अलग पर पराएँ हैं। कुछ स्थानों पर मरण के सूतक के बारह दिन तक परिवार के लोग मन्दिर नहीं जाते हैं, कुछ लोग तीन दिन तक मंदिर नहीं जाते हैं, जबकि आगम में मंदिर नहीं जाने का कोई विधान नहीं मिलता है। आगम के अनुसार सूतक के दिनों में मंदिर के शास्त्र, बर्तन आदि नहीं छूने चाहिये। भगवान् की अष्टद्रव्य से पूजा नहीं करनी चाहिये। मंदिर की दरी आदि पर नहीं बैठना चाहिये, गन्धोदक स्वयं नहीं लेना चाहिये। अन्य के द्वारा दिये जाने पर गंधोदक लगाया जा सकता है। पति के मरने पर विधवा को मंदिर जाने का निषेध किसी शास्त्र में नहीं है। कर्नाटक में सूतक के दिनों में भगवान् का नाम लेना भी पाप समझा जाता है, यह गलत पर परा है। पूज्य आचार्यश्री के अनुसार ''जो पर पराएँ आगमस मत न हों और हमें धर्म से दूर रखती हों, उनको बदल देना चाहिये।'' अत: सूतक की पर परा को अच्छी तरह विचारकर हमें आगम के अनुसार बदलने में संकोच नहीं करना चाहिये।

प्रश्न : सूतक-पातक में पीढ़ी कैसे गिनना चाहिये ?

उ□ ार ग्यदि परिवार में किसी का जन्म हुआ हो, तो पीढ़ी नीचे से गिनी जाती है और यदि किसी का मरण हुआ हो, तो पीढ़ी का गिनना ऊपर से होता है। (इसका चार्ट इस ग्रंथ के अंत में दिया हुआ है।) तीन पीढ़ी तक जन्म-मरण का सूतक दस दिन, बारह दिन पूरा लगता है। चौथी पीढ़ी में छ: दिन लगता है। पाँचवीं, छठी पीढ़ी में चार दिन लगता है। अगर सारे लोग एक रसोई में भोजन करते हों, तो फिर सूतक पूरा लगता है, चाहे कोई भी पीढ़ी हो। सूतक का पूरा विधान पूजन की पुस्तकों में दिया हुआ है। उसी प्रकार मानना चाहिये।

प्रश्न : पुस्तक में आत्महत्या का सूतक छ: माह का लिखा है। वह कैसे मानना चाहिये ?

उ□ ार ग्शास्त्रों में इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं मिलता है। विद्वानों की गोष्ठी में इसका निर्णय ऐसा किया गया कि यदि कोई अपने पुत्र, पुत्रवधू की या अन्य किसी की हत्या करता है, तो उसको छ: माह का सूतक लगेगा, लेकिन उसका सगा भाई यदि उससे अलग रहता है, तो उसको मात्र बारह

दिन का सूतक लगेगा। यदि किसी व्यक्ति ने बीमारी के कारण या आर्थिक नुकसान होने के कारण स्वयं आत्महत्या कर ली हो, तो परिवार के लोगों को मात्र बारह दिन का सूतक लगेगा।

प्रश्न : मुहूर्त आदि देखकर कार्य करना मिथ्यात्व है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 653)*

उ र यात्रा आदि के लिये शुभ तिथि, मुहूर्त आदि देखकर प्रस्थान करना चाहिये। जैनाचार्यों ने ज्योतिष ग्रन्थों की भी रचना की है, उसमें शुभ मुहूर्त, तिथि आदि के बारे में पूरा वर्णन है। प्रथमानुयोग के शास्त्रों में शकुन आदि का वर्णन भी पाया जाता है, मकान बनवाते समय वास्तु का भी विचार रखना चाहिये, इसका वर्णन भी जैन शास्त्रों में मिलता है। जैन मुनिराज भी शुभ तिथि आदि देखकर ही विहार करते हैं, दीक्षा आदि देते हैं। अत: ये सब मिथ्यात्व नहीं हैं।

प्रश्न : यज्ञोपवीत (जनेऊ) पहनना आगमस मत है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 654)*

उ र आदिपुराण में यज्ञोपवीत संस्कार का वर्णन मिलता है। महाराजा भरत ने व्रतियों की अलग पहचान के लिये यज्ञोपवीत पहनने का रिवाज प्रार भ किया था, लेकिन आदिपुराण में ही भगवान् आदिनाथ ने अपनी दिव्यध्वनि में इस प्रथा को अनुचित कहा है। वर्तमान में कुछ मुनिराजों का कहना है कि जो यज्ञोपवीत नहीं पहनता है, वह शूद्र है, हम उसके हाथ से आहार नहीं लेंगे। परन्तु उनका ऐसा कहना आगम स मत नहीं है। किसी भी श्रावकाचार में ऐसा वर्णन नहीं मिलता। यज्ञोपवीत पहनने की जहाँ पर परा हो और उसके अनुसार यदि कोई यज्ञोपवीत पहनता है, तो उसके मिथ्यात्व का दोष नहीं लगता, परन्तु प्रत्येक जैनी को पहनना आवश्यक नहीं है।

प्रश्न : शुद्ध आचरणवाला कोई हरिजन या ब्राह्मण हमको छना हुआ पानी दे, तो ग्रहण करना उचित है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 659)*

उ र शुद्ध आचरणवाला ब्राह्मण यदि छना हुआ शुद्ध पानी दे, तो ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। परन्तु जिनका जन्म उच्चकुलीन परिवार में न हो, जिनका खान-पान उ म न हो, जिनकी सङ्गति, निवासस्थान, व्यापार, सर्विस आदि उǯम न हों, ऐसे जीवों के परिणाम उǯम नहीं हो सकते। उनके हाथ का भोजन या जल ग्रहण नहीं करना चाहिये। भगवती आराधना में कहा है कि झूठा भोजन, अशुद्ध भूमि में रखा भोजन, शूद्रों के द्वारा छुआ भोजन या जल और उनके द्वारा लाया गया जल, नोनवेज खानेवालों का भोजन, नीच कुलीन के घर से लाया गया भोजन सेवन करने योग्य नहीं है। नोनवेज होटल में शाकाहारी भोजन बनता है, वह भी अभक्ष्य है। वर्तमान में बड़ी-बड़ी शादी आदि की दावतों में भोजन परोसनेवाले (बैरे) शूद्र होते हैं, अत: ऐसी पार्टियों का भोजन खाने योग्य कैसे कहा जा सकता है ? कहा भी है- ''जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।'' अशुद्ध भोजन से मन भी अपवित्र रहता है, अत: शूद्र व्यक्ति के हाथ का भोजन खाने योग्य नहीं है।

देशचारित्र

प्रश्न : श्रावक किसे कहते हैं ? श्रावक श□ द का अर्थ □ या है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 661-62)

उ□ ार : श्रावक श□ द के विभिन्न अर्थ हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

1. विद्वज्जन कहते हैं कि जो श्रद्धावान्, विवेकवान् और क्रियावान् हो, उसे श्रावक कहते हैं।

2. श्रावकधर्मप्रकाश / गाथा 2 की टीका के अनुसार जो स यग्दृष्टि हो, अणुव्रती हो, प्रतिदिन साधुओं से गृहस्थ और मुनियों के आचार धर्म को सुनता हो, वह श्रावक कहलाता है।

3. एक अन्य परिभाषा के अनुसार जो श्रद्धापूर्वक जिनवाणी सुनता हो, धन का दान देता हो, स यग्दृष्टि हो, पुण्य के कार्य करता हो और व्रतों को धारण करे, उसे श्रावक कहते हैं।

4. मोक्षमार्गप्रकाशक के अनुसार पंचम गुणस्थानवर्ती जीव को श्रावक कहा गया है।

प्रश्न : □ या उपवास वाले दिन शाम को प्रासुक जल लिया जा सकता है ?

उ□ ार : उपवास का अर्थ चारों प्रकार के आहार त्याग करके दिनभर आत्मकल्याण के कार्यों में लगे रहना है। यदि उपवास वाले दिन जल ग्रहण किया जाता है, तो पेय पदार्थ ले लेने से वह उपवास नहीं रहा, अनुपवास कहलाता है। जो महिला या पुरुष उपवास वाले दिन गृहस्थी का आर भ आदि कार्य अथवा नौकरी, दुकान जाना आदि कार्य करते हैं, उनको भी उपवास का पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता।

प्रश्न : तिर्यञ्च तो मांसाहारी होते हैं, उनमें विवेक नहीं होता। वे अणुव्रतधारी कैसे बन सकते हैं?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 660-61)

उ□ ार : अणुव्रती तिर्यञ्चों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। आचार्यों ने तिर्यञ्चों के पंचम तक गुणस्थान कहा है। अणुव्रती बाह्य पदार्थ में मूर्च्छा को सीमित करके परिग्रह परिमाण अणुव्रत का पालन करता है। वह दलमला (झरने का) पानी पीता है। सूर्य की धूप से तप्त जल पीता है, □ योंकि कपड़े के द्वारा जल छानना उसके लिये श€य नहीं है। पार्श्वपुराण में भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व भव हाथी की पर्याय का वर्णन मिलता है। उस हाथी के अणुव्रत धारण करने की चर्या इस प्रकार कही है- हाथी त्रस जीवों को नहीं मारता था, हृदय में समता परिणाम और क्षमा रखता था, इन्द्रियों को वश में रखता था, सूखे प□ े आदि खाता था, जीवरहित मार्ग पर चलता था, बिना देखे कदम नहीं रखता था, किसी भी हथिनी की ओर नहीं जाता था। उपसर्गों को सहता था, खोटा चिन्तन नहीं करता था। ऐसा आचरण €यों था ? €योंकि अनन्तानुबन्धी और अप्रत्या यानावरण कषाय का अनुदय होने से पंचम गुणस्थान हो गया था। स्वय भूरमण समुद्र में असं यात पंचम गुणस्थानवर्ती मच्छ हैं। वे जीव जन्तु

नहीं खाते, बल्कि समुद्र में उत्पन्न होनेवाले पेड़-पÅौ आदि का भक्षण करते हैं। इतना विशेष है कि यह सब होने पर भी उनको प्रतिमाधारी अथवा श्रावक नहीं कहा जा सकता है। €योंकि ये विशेषण मनुष्य को ही प्राप्त होते हैं।

प्रश्न : शूद्र कितने प्रकार के होते हैं और €या वे मुनि पद धारण कर सकते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 663)

उ र : शूद्र दो प्रकार के होते हैं- 1. स्पृश्य, 2. अस्पृश्य। स्पृश्य शूद्र वो हैं, जिनकी छुई हुई वस्तु को हम इस्तेमाल कर लेते हैं। जैसे- धोबी के द्वारा धुले हुये कपड़े, कु हार के द्वारा बनाये गये बर्तन। अस्पृश्य शूद्र वे हैं, जिनसे छू जाने पर स्नान करना पड़ता है। जैसे- मेहतर, श्मशान में रहनेवाले चाण्डाल आदि।

इन दोनों प्रकार के शूद्रों में से स्पृश्य शूद्र जैनी बन सकते हैं, प्रतिमा धारण कर सकते हैं, शुद्ध वस्त्र पहनकर मन्दिर में प्रवेश कर सकते हैं, परन्तु भगवान् का अभिषेक नहीं कर सकते। मुनिराज को दान नहीं दे सकते। ये क्षुल्लक तक बनने की योग्यता रखते हैं, परन्तु मुनि पद धारण नहीं कर सकते। यद्यपि शास्त्रों में चतुर्थकाल के समय में शूद्रों द्वारा मुनि पद धारण करने के प्रसङ्ग कहे गये हैं, परन्तु पंचम काल में उनको मुनि दीक्षा के योग्य नहीं माना है। जो अस्पृश्य शूद्र हैं, वे भी व्रतों को धारण कर सकते हैं, पर क्षुल्लक आदि नहीं बन सकते। उनको मन्दिर में प्रवेश की अनुमति नहीं है। वे यदि योग्य शुद्धिपूर्वक जैनधर्म धारण कर लें, तो उनको मानस्त भ में विराजमान अथवा मन्दिर के शिखर में विराजमान प्रतिमाओं के दर्शन करने का विधान है।

प्रश्न : अपनी स्त्री के सेवन करने में ब्रह्मचर्याणुव्रतधारी को €या पाप नहीं लगता होगा ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 663)

उ र : अपनी स्त्री के सेवन करने में भी पाप अवश्य लगता है, किन्तु उससे अनन्तगुणा पाप परस्त्रीसेवन में है। इसलिये तो ब्रह्मचर्य के स बन्ध में सबसे पहले परस्त्री का त्याग कराया जाता है (परस्त्री सेवन व्यसन का त्याग), उसके बाद अपनी स्त्री के अलावा समस्त अन्य स्त्रियों को त्याग करने का नियम लिया जाता है (ब्रह्मचर्याणुव्रत), उसके बाद स्त्रीमात्र के सेवन का त्याग किया जाता है (ब्रह्मचर्य प्रतिमा) और अन्त में स्त्री मात्र का मन, वचन, काय, कृत, कारित व अनुमोदना से त्याग किया जाता है (ब्रह्मचर्य महाव्रत)। ब्रह्मचर्याणुव्रत का मतलब यह नहीं है कि स्वस्त्रीसेवन की अनुमति दी गई हो, इसका अभिप्राय स्वस्त्री के अलावा अन्य समस्त स्त्रियों का त्यागरूप है। व्रत ग्रहण में त्याग का कथन है, भोग का नहीं।

प्रश्न : प्रतिमा धारण करना, व्रत लेना रागरूप है या वीतरागतारूप है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 665-66)

उ□ ार प्रतिमा या व्रत लेने में रागादि से निवृ□ ा होती है। इसी का नाम तो व्रत कहा गया है। रागादि को छोड़ना वीतरागता का माप है, राग का नहीं। प्रतिमा या व्रतों का ग्रहण करना आत्मा का स्वरूप है, अत: इसको राग का माप नहीं कहा जा सकता। इसके कारण तो प्रतिसमय निर्जरा होती है। व्रती जीव ने जितना त्याग किया है, उसके कारण आस्रव-बन्ध नहीं होता है। कुछ लोग कहते हैं कि महाव्रत ग्रहण, आस्रव-बन्ध में कारण है, पर उनका कथन गलत है। सच यह है कि महाव्रत तो मात्र संवर-निर्जरा के कारण हैं, आस्रव-बन्ध के नहीं। हाँ! महाव्रती के शेष कषायों द्वारा आस्रव-बन्ध होता है।

प्रश्न : भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित उपासकाध्ययन ग्रन्थ के पृ. 191 पर ब्रह्मचर्याणुव्रत के धारी को वेश्यासेवन करने की अनुमति □ यों दी गई है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 599)*

उ□ ार ब्रह्मचर्याणुव्रत का धारी सप्तव्यसन का त्यागी तो होता ही है, वह वेश्यासेवन कैसे कर सकता है ? यथार्थता यह है कि उपासकाध्ययन के उस श्लोक का अर्थ लगाने में थोड़ी असावधानी हुई है। इस श्लोक में 'वधुविǯा' का अर्थ विǯास्त्री या वेश्या न लगाकर जिसके साथ विवाह होना निश्चित हो गया है, ऐसी स्त्री लेना चाहिये। ऐसा अर्थ करने पर वेश्यासेवन का प्रकरण समाप्त हो जाता है।

प्रश्न : चारों कषायों का □ या कार्य है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 814)*

उ□ ार गो॰ मटसार कर्मकाण्ड, गो॰ मटसार जीवकाण्ड तथा पंचसंग्रह ग्रन्थ में चारों कषायों का कार्य इस प्रकार कहा है-

1. अनन्तानुबन्धी कषाय स॰ यग्दर्शन का घात करती है।
2. अप्रत्या॰ यानावरण कषाय देशचारित्र का घात करती है अर्थात् नहीं होने देती है।
3. प्रत्या॰ यानावरण कषाय सकल चारित्र का घात करती है।
4. संज्वलन कषाय यथा॰ यात चारित्र का घात करती है।

यदि यहाँ यह पूछा जाये कि €या अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्र का घात नहीं करती ? इसका उǯार यह है कि अनन्तानुबन्धी कषाय का स॰ बन्ध मिथ्यात्व से है और मिथ्यात्व को अनन्त कहते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय में स॰ यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। अत: इसे स॰ य€त्व की घातक कहा है। यह कषाय अप्रत्या॰ यानावरण व प्रत्या॰ यानावरणादि अन्य कषायों के प्रवाह को अनन्तरूप बनाये रखती है। अत: इसको चारित्र का प्रतिबन्धी भी कहा है, परन्तु अनन्तानुबन्धी कषाय किसी चारित्र का घात नहीं करती है।

प्रश्न : देशव्रती के या प्रतिमाधारी के आ र्त-रौद्र ध्यान होता है या नहीं ? उसके निदान आ र्त ध्यान तो नहीं होना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 668)*

उ र देशव्रती के परिस्थिति अनुसार आ र्त रौद्र ध्यान होते रहते हैं। आचार्यों ने मुनिराजों के भी इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज तथा वेदना स बन्धी आर्त्तध्यान छठवें गुणस्थान तक कहे हैं। चार रौद्रध्यान पाँचवें गुणस्थान तक कहे हैं। गृहस्थी में रहने से आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का प्रसङ्ग बना ही रहता है, अत: उसके दोनों ध्यान बन जाते हैं।

इस भव में या अगले भव में स पत्ति आदि की इच्छा करना निदान आर्त्तध्यान है। यह भी कथञ्चित् श्रावक के स भव है। किसी श्रावक के तीन पुत्रियाँ हैं। वह दीक्षा लेना तो चाहता है, परन्तु जब तक पुत्रियों की शादी न हो जाये, दीक्षा कैसे ले ? ऐसी परिस्थिति में उसका मन यह कहता है कि किसी तरह कुछ रुपये प्राप्त हो जाएँ, आमदनी अधिक हो जाये, तो मैं पुत्रियों के विवाह कर दीक्षा ले लूँ। ऐसा चिन्तन भी निदान आर्त्तध्यान में आयेगा और यह गृहस्थ श्रावक के स भव है।

प्रश्न : क्या तीर्थङ्कर भगवान् गृहस्थ अवस्था में पहले अणुव्रत धारण करते हैं और बाद में महाव्रत धारण करते हैं या अणुव्रत धारण नहीं करते, सीधे महाव्रत धारण करते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 668)

उ र तीर्थङ्कर भगवान् गृहस्थावस्था में अणुव्रत धारण नहीं करते। उनके तो आठ वर्ष आयु होते ही अप्रत्य यानावरण कषाय का अनुदय हो जाने से देशसंयम हो जाता है। वे तो महापुरुषार्थी हैं, अत: महाव्रतों को ही धारण करते हैं।

प्रश्न : कितनी प्रतिमा तक श्रावक खेती कर सकता है, नौकरी कर सकता है, व्यापार कर सकता है, युद्ध लड़ सकता है अथवा राज्य संचालन कर सकता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 669-72)

उ र रत्नकरण्डकश्रावकाचार में आर भत्याग नामक आठवीं प्रतिमा का स्वरूप इस प्रकार कहा है- ''जो जीव हिंसा के कारणभूत नौकरी, खेती, व्यापार आदि आर भ के कार्यों से विरक्त होता है, वह आर भत्याग नामक अष्टम प्रतिमाधारी कहलाता है।'' इससे स्पष्ट है कि सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा तक का धारी नौकरी, खेती, व्यापार तथा युद्ध एवं राज्य संचालन आदि कार्य कर सकता है अर्थात् इन कार्यों के करते हुये सातवीं प्रतिमा तक के व्रत पालन कर सकता है। आर भत्याग वाला व्रती अपने वस्त्रों को पानी में निचोड़कर सुखा तो सकता है, परन्तु साबुन प्रयोग नहीं कर सकता, र्योंकि साबुन प्रयोग में जीवहिंसा होती है। वह आहार आदि बनाना, पूजा का पानी खींचकर लाना, सामग्री बनाना आदि कार्य भी स्वयं नहीं करता है।

प्रश्न : या प्रतिमाधारी को प्रतिदिन देवपूजा के बाद ही भोजन करना चाहिये ? यदि रेलमार्ग ल बा हो, तो €या वह रेल में फल या मेवा खा सकता है या नहीं ?

उ र प्रतिमाधारी व्रतियों को देवपूजा के बाद ही चारों प्रकार का आहार ग्रहण करना होता है। यदि रेलमार्ग ल बा है, तो या तो वह उस दिन उपवास रखेगा अथवा उस रेलमार्ग को दो हिस्सों में पूरा करेगा। बीच में एक स्थान पर उतरेगा, स्नान पूजा करके और फिर भोजन करके आगे चलेगा। व्रती रेल में जल भी ग्रहण नहीं करते हैं, फिर फल या मेवा की तो चर्चा ही नहीं है। रेल में सामायिक भी नहीं होती, अत: व्रती बीच में रुककर पूजा-भोजन व सामायिक करके आगे प्रस्थान करते हैं। जहाँ मन्दिर नहीं होता, वहाँ व्रती नहीं जाते हैं, या योंकि उनके आवश्यक कैसे पलेंगे ?

प्रश्न : श्रावकाचार ग्रन्थों में सामायिक के काल में श्रावक को महाव्रती कहा है। इससे या तात्पर्य लेना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 669)*

उ र :श्रावक के प्रत्या यानावरण कषाय का उदय है, अत: उसके महाव्रत नहीं होते। सामायिक आदि के काल में स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के हिंसादि पापों का त्याग हो जाने से उसे उपचार से महाव्रती कहा है। उपचार का अर्थ होता है- जो हो तो नहीं, पर कह देना अथवा उसके समान। अत: उसके, उस समय विशुद्धि बढ़ जाने से, उसे महाव्रती कहा है। जब तक रंचमात्र भी वस्त्र है, श्रावक के महाव्रत नहीं हो सकते और संयम भी नहीं हो सकता है।

प्रश्न : मौन कब-कब रखना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 670)*

उ र :सागार धर्मामृत 4/38 के अनुसार सामायिक आदि छह आवश्यकों में, मलमूत्र क्षेपण में, मैथुन आदि पाप के कार्यों में, स्नान के समय, भोजन के समय और वमन के समय मौन रखना चाहिये। वचन स बन्धी बहुत से दोषों को दूर करने के लिये निरन्तर मौन रखना चाहिये। मौन के साथ भोजन करते समय इशारे आदि नहीं करना चाहिये।

प्रश्न : गृहस्थ का मन एकाग्र नहीं हो पाता। सामायिक आदि के काल में मन स्थिर करने के लिये या करना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 670)*

उ र :आपका कहना उचित है। भावसंग्रह में कहा है कि गृहस्थ को घर में कितने ही व्यापार करने पड़ते हैं। उसका मन बिना अवल बन के स्थिर रह नहीं सकता है। जब वह अपने नेत्र बन्द करके ध्यान करने बैठता है, तब उसके सामने गृहस्थी में करने योग्य कार्य आने लगते हैं। भावसंग्रह 3/82 में तो आचार्य ने यहाँ तक कह दिया है कि यदि कोई पुरुष गृहस्थों के निश्चल, निराल ब और शुद्ध ध्यान मानता है, तो समझना चाहिये कि वह पुरुष मुनियों के द्वारा रचित शास्त्रों को नहीं मानता है। अत: गृहस्थ को सामायिक जप, ध्यान आदि काल में मन एकाग्र करने के लिये विभिन्न आल बनों का सहारा लेना चाहिये। द्रव्यसंग्रह / गाथा 49 में कहा है कि पंच परमेष्ठीवाचक विभिन्न मंत्रों का जाप

और ध्यान करो। गुरु के उपदेशानुसार अन्य मन्त्र भी जाप और ध्यान के योग्य होते हैं। अरिहंत आदि पदों का उच्चारण करते समय, उनके स्वरूप का चिन्तन, उनकी मूर्ति या चित्र का स्मरण, सिद्धशिला आदि का ध्यान, समवसरण आदि का चिन्तन, स मेदशिखर की टोंकों का स्मरण आदि करने से मन में एकाग्रता आती है। श्री धवला के अनुसार एकाग्रता के लिये णमोकार मंत्र का सीधा, उल्टा अथवा यत्र-तत्ररूप चिन्तन या उच्चारण भी कार्यकारी होता है।

प्रश्न : पहली प्रतिमाधारी जीव के अन्याय और अभक्ष्य के सेवन का त्याग होता है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 660)

उ र पहली प्रतिमाधारी जिनेन्द्र भगवान् के चरणों की शरणवाला होता है तथा स यग्दृष्टि होता है। संसार, शरीर व भोगों से विरक्त होता है। ऐसा जीव अन्याय के कार्य तथा अभक्ष्य का सेवन कैसे कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता।

प्रश्न : पहली प्रतिमाधारी को या नियम लेने होते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 660)*

उ र जो स यग्दृष्टि हो और पहली प्रतिमा धारण करे, वह सप्त व्यसन का त्यागी होता है। तथा अष्ट मूलगुण धारण करनेवाला होता है। वह इनमें अतिचार भी नहीं लगाता। श्रावक के षट्कर्मों का पालन करनेवाला होता है। अनीति, अन्याय और अभक्ष्य का त्यागी होता है। छना पानी पीता है तथा रात्रि भोजन नहीं करता है। बाजार का भोजन, दावतों का भोजन, अभक्ष्यभक्षण करनेवालों का भोजन वह ग्रहण नहीं करता। गुटखा, त बाकू आदि मादक पदार्थों का सेवन नहीं करता, ऐलोपैथिक तथा अशुद्ध दवाएँ भी नहीं लेता। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का परम भक्त होता है। प्रतिमाओं का ग्रहण किन्हीं आचार्य या मुनियों से किया जाता है।

प्रश्न : दूसरी प्रतिमावाले को या करना होता है ?

उ र दूसरी प्रतिमा धारण करनेवाला व्रती, पहली प्रतिमा नियमों सहित धारण करता हुआ पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत को धारण करता है। उसके व्रत प्रतिमा होती है।

प्रश्न : या श्रावक एकान्त में नग्न होकर सामायिक कर सकते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 738)

उ र इस स बन्ध में विभिन्न मत हैं- पं0 मु तार साहब एवं पं0 हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री के अनुसार श्रावक एकान्त में नग्न होकर सामायिक कर सकते हैं, परन्तु पं0 रतनलाल जी कटारिया, केकड़ीवालों के अनुसार नग्नता का अ यास नहीं होता। जैसे खड़े होकर हाथ में भोजन करने का

खेलरूप में भी अ यास नहीं होता। इसीलिये नग्नता और स्थितिभोजन का निषेध आर्यिका एवं क्षुल्लकों के लिये है। रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक नं. 139 में सामायिक प्रतिमा में जो यथाजात होना कहा है, उसका अर्थ नग्न होकर नहीं है, बल्कि आत्माधीन होना, सा यभाव धारण करना है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने इस श्लोक की टीका में यथाजात शŸद का अर्थ ''बाह्य आ यन्तर परिग्रह चिन्ता व्यावृत'' ऐसा किया है, नग्न होना नहीं किया है। रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक नं. 102 में ''**चेलोपसृष्टमुनिरिव**'' पद से भी स्पष्ट है कि सामायिक में गृहस्थ कदापि नग्न नहीं हो सकता।

प्रथमानुयोग में सेठ सुदर्शन चरित्र में सेठ सुदर्शन के अष्टमी एवं चतुर्दशी को श्मशान में जाकर नग्न होकर सामायिक और ध्यान करने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। वह प्रसङ्ग भी इस उ□ ार में ध्यान रखने योग्य है।

प्रश्न : सामायिक शिक्षाव्रत और सामायिक प्रतिमा तथा प्रोषधोपवास व्रत एवं प्रोषध प्रतिमा में □ या अन्तर है ?

उ□ ार :सामायिक शिक्षाव्रत में दिन में दो बार सामायिक करना कहा गया है, परन्तु यहाँ सामायिक अ यासरूप है, नियमरूप नहीं। कभी छूट भी सकता है, अतिचार भी लगते रहते हैं। परन्तु सामायिक प्रतिमा नियमरूप है, इसके धारी को सुबह, दोपहर, सायंकाल कम से कम दो घड़ी सामायिक करने का नियम है। इसी तरह प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत अ यासरूप होता है, जबकि प्रोषध प्रतिमा नियमरूप होती है।

प्रश्न : प्रोषधोपवास श□ द का □ या अर्थ है ? यह कितनी प्रकार किया जा सकता है ?

उ□ ार :प्रोषध श□ द का अर्थ एकाशन है और उपवास श□ द का अर्थ चारों प्रकार के आहार का त्याग करना होता है। इसकी विधि विभिन्न शास्त्रों में अलग-अलग प्रकार से कही गई है। सामान्यत: सप्तमी को और नवमी को एकाशन तथा अष्टमी को उपवास करना उ□ ाम प्रोषधोपवास है। अष्टमी या चतुर्दशी को उपवास करना मध्यम है। तथा प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी को एकाशन करना जघन्य प्रोषधोपवास है। प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी को प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी को प्रोषधोपवास करना होता है।

प्रश्न : पंचम सचिžात्याग प्रतिमाधारी का €या स्वरूप है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 671)*

उ□ ार :पंचम प्रतिमाधारी जीव सचिž जल, फल आदि का भक्षण नहीं करता है। वह उबला हुआ पानी लेता है, अचिž फल और सŸजी ग्रहण करता है। ''सचिž विवेचन'' के अनुसार कोई भी फल या स□ जी अग्नि पर पकने पर ही अचि□ ा होती है। अनार आदि का रस कपड़े से छना हुआ अचि□ ा कहा गया है। नारियल का पानी काली मिर्च, लौंग आदि डालने से अचि□ ा होता है। इस प्रतिमाधारी

को स्नान के लिये अचिǯा जल प्रयोग करने का नियम शास्त्रों में नहीं कहा है। फिर भी व्रतों की वृद्धि के लिये उसे अचि□ ा जल से स्नान करना उचित है।

प्रश्न : प्रतिमाधारी श्रावक लश की लैट्रीन में जा सकता है या नहीं ?

उ□ ार पूज्य आचार्यश्री ने इस प्रश्न के उǯार में कहा था कि प्रतिमाधारियों को वास्तव में लश की लैट्रीन में जाना नहीं चाहिये, €योंकि त्रस जीवों की हिंसा साक्षात् दिखती है। परन्तु आजकल शहरों में रहनेवाले व्रतियों को लश में ही जाने की मजबूरी होती है। अत: यह अपवाद मार्ग है, पर श्रेष्ठ नहीं। व्रती कुएँ के छने जल से ही वस्त्रों को धोता है एवं स्नान करता है। कदाचित् वस्त्रों में साबुन लगाना पड़े, तो उस पानी को नाली, लश आदि में नहीं डालता है। जीवरहित छत आदि पर अथवा सूखी प्रासुक मिट्टी आदि देखकर उसमें डालता है। वह टी.वी. पर क्रिकेट आदि मैच देखने का त्यागी होता है।

प्रश्न : छठी प्रतिमा के दो नाम पढ़ने में आते हैं। कहीं पर रात्रिभोजनत्याग और कहीं दिवस मैथुनत्याग। ऐसा €यों ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 671)*

उ□ ार श्रावकाचार में छठी प्रतिमा के उपर्युक्त दो नाम कहे गये हैं। छठी प्रतिमाधारी के रात्रिभोजन त्याग तो प्रतिमा ग्रहण से पूर्व ही होता है। परन्तु छह प्रतिमा लेने पर वह कृत, कारित, अनुमोदना से त्यागी हो जाता है अर्थात् वह किसी अन्य को रात्रि में भोजन करने को न तो कहता है, न अनुमोदना करता है। स्त्रीसेवन में आसक्ति घटाने के लिये किन्हीं आचार्यों ने दिवसमैथुनत्याग नाम भी दिया है, जो उचित है।

प्रश्न : ब्रह्मचारी संज्ञा किस प्रतिमा से प्रार भ होती है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 672)*

उ□ ार जिन्होंने आजीवन व्रत ग्रहण कर लिया है, परन्तु घर में रहते हैं, उनको भी उपचार से ब्रह्मचारी कहा जाता है। जो आजीवन ब्रह्मचर्य लेकर संघ में रहते हैं, वे चाहे दो चार प्रतिमा के धारी हों, फिर भी ब्रह्मचारी भैयाजी कहलाते हैं। वास्तव में तो जो सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी होता है, वह ब्रह्मचारी है। चारित्रसार ग्रन्थ में पृ. 42 पर ब्रह्मचारी के पाँच भेद कहे गये हैं, उनका भी ज्ञान कर लेना चाहिये।

प्रश्न : वर्णी कौन होते हैं ? इनकी कितनी प्रतिमा होती हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 674)*

उ□ ार श्रावक की ग्यारह प्रतिमा होती हैं। उनमें से आदि की छह प्रतिमा के धारी तो गृहस्थ हैं। सातवीं आठवीं और नौवीं प्रतिमाधारी वर्णी अर्थात् ब्रह्मचारी कहलाते हैं और दसवीं, ग्यारहवीं प्रतिमा के धारी भिक्षुक कहलाते हैं। इसी तरह एक से छह प्रतिमाधारियों को जघन्य श्रावक, सात से नौ

प्रतिमाधारियों को मध्यम श्रावक तथा दस और ग्यारह प्रतिमाधारियों को उत्कृष्ट श्रावक कहा जाता है। शास्त्रानुसार क्षुल्लक को अपने लिये वर्णी शŸद का प्रयोग करना उचित नहीं है।

प्रश्न : प्रतिमाधारी व्रती कार आदि की सवारी कर सकता है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 673)

उ र ग़्चारित्र चक्रवर्ती ग्रन्थ के अनुसार आचार्य शान्तिसागर जी महाराज ने इस प्रश्न के उŸार में कहा है कि अष्टम प्रतिमा में आर भ का त्याग हो जाता है। अत: आठ प्रतिमाधारी और उससे बड़े व्रतियों को वाहन त्याग करना चाहिये।

मु तार साहब ने लिखा है कि कार्Ÿिकेय स्वामी तथा आचार्य समन्तभद्र महाराज ने जो आठवीं प्रतिमा का स्वरूप कहा है, उससे यह प्रतीत होता है कि अष्टम प्रतिमा में आजीविका स बन्धी आर भ का त्याग है। धर्मकार्य स बन्धी आर भ का त्याग नहीं होता। धर्मकार्य के लिये अष्टम प्रतिमाधारी सवारी में बैठ सकता है। तीर्थयात्रा आदि के लिये जा सकता है। नवीं प्रतिमा में परिग्रह का भी त्याग हो जाता है। उसके पास रुपया-पैसा नहीं होता, अत: वह किराया देकर धर्मकार्य के लिये सवारी में कैसे जा सकता है। फिर भी यदि कोई श्रावक नवम और दशम प्रतिमाधारी को अपने साथ सवारी में धर्मकार्य के लिये ले जाये, तो वे जा सकते हैं। किन्तु वे स्वयं याचना नहीं करेंगे। पंचकल्याणक प्रतिष्ठा धर्मकार्य है, अत: उसके लिये भी वे वाहन में बैठ सकते हैं। क्षुल्लक समस्त परिग्रह और आर भ के त्यागी होते हैं। अत: उनको सवारी में नहीं बैठना चाहिये।

प्रश्न : परिग्रहत्याग नवम् प्रतिमा है। इसका स्वरूप €या है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 673)*

उ र ग़्परिग्रहत्याग प्रतिमा का धारी अपने पास धर्म के साधन रखता है। अपनी आवश्यकता अनुसार कम से कम वस्त्र तथा घर, बर्तन आदि रखता है, शेष का त्याग कर देता है। वह अपने पास रुपया-पैसा बिल्कुल नहीं रखता। अपना भोजन स्वयं नहीं बनाता है। किसी के निमन्त्रण पर भोजन कर लेता है।

प्रश्न : अनुमतित्याग प्रतिमाधारी का €या स्वरूप है ?

उ र द्वसवीं प्रतिमा का धारी रत्नकरण्डक श्रावकाचार की टीका के अनुसार मन्दिर में रहता है। किसी के निमन्त्रण पर भोजन के लिये जाता है। अपना पूरा समय स्वाध्याय, ध्यान आदि शुभ कार्यों में बिताता है। किसी भी आर भ परिग्रह, घर-गृहस्थी तथा लोक स बन्धी कार्यों में अनुमति नहीं देता है।

प्रश्न : उद्दिष्टत्याग प्रतिमा का €या स्वरूप है ? इसके धारी कौन होते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 674)

उ र ग्यो दस प्रतिमा के धारी होने के बाद केवल लंगोट और दुपट्टे के अलावा समस्त परिग्रह के त्यागी होते हैं, घर में नहीं रहते हैं, पिच्छी कमण्डलु रखते हैं, निमन्त्रण से भोजन नहीं करते हैं तथा उद्दिष्ट अर्थात् अपने लिये कहकर भोजन नहीं बनवाते हैं, ऐसे क्षुल्लक और क्षुल्लिका होते हैं। इनको केशलोंच करने का नियम नहीं है, परन्तु चाहें तो केशलोंच कर सकते हैं। जिनके पास केवल एक लंगोट होता है, जो केशलोंच करते हैं, बैठकर हाथ में भोजन ग्रहण करते हैं, वे ऐलक कहलाते हैं।

प्रश्न : जो चर्या ऐलक की है, वही चर्या आर्यिका की भी होती है। तो या दोनों को समान माना जाये ?

उ र आर्यिका भी मात्र सोलह हाथ की साड़ी पहनती है, केशलोंच करती है और बैठकर हाथ में भोजन ग्रहण करती है, परन्तु उपचार से महाव्रतों का पालन करने के कारण ऐलकों से बड़ी मानी जाती हैं। इनका भी गुणस्थान पाँचवाँ ही होता है। विशेष यह भी है कि आर्यिका दिग बर बनने का भाव तो रखती है, परन्तु वस्त्र छोड़ने में असमर्थ होने के कारण दिग बर नहीं हो सकती। जबकि ऐलक वस्त्र छोड़ सकते हैं, परन्तु अभी नहीं छोड़ पा रहे हैं। इसलिये ऐलक से आर्यिका बड़ी मानी जाती है।

प्रश्न : पंचम गुणस्थान में सबसे ज्यादा निर्जरा क्षुल्लक-ऐलक की मानी जाये या आर्यिका की ?

उ र क्षुल्लक और ऐलक से सामान्यत: आर्यिका की निर्जरा अधिक होती है, परन्तु पंचम गुणस्थान की उत्कृष्ट निर्जरा का स्वामी वह ऐलक या क्षुल्लक होता है, जो तुरन्त ही जिनदीक्षा लेने जा रहा है, उसके उस समय पंचम गुणस्थान स बन्धी उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

प्रश्न : क्षुल्लक की आहारचर्या का शास्त्रों में €या विधान है ?

उ र श्रावकाचार शास्त्रों में क्षुल्लकों के पड़गाहन का विधान दृष्टिगोचर नहीं होता। उनके लिये लिखा है कि वे चर्या के समय अपना पात्र लेकर और 'धर्मलाभ' बोलकर पात्र में भिक्षा ग्रहण करें। यदि पहले घर से पर्याप्त भोजन न मिला हो, तो वे पाँच-सात घरों में जा सकते हैं। पर्याप्त भोजन मिलने पर जब कोई श्रावक उनसे अपने यहाँ बैठकर भोजन करने की प्रार्थना करे, तो वहाँ बैठकर भोजन कर लेते हैं। यदि श्रावक प्रार्थना न करे, तो अपने स्थान पर आकर भोजन करते हैं। पानी की व्यवस्था श्रावक कर देते हैं। यह चर्या क्षुल्लकों की आगमस मत है। वर्तमान में जो क्षुल्लकों का पड़गाहन होता है, यह पर परा कब से प्रार भ हुई ? यह नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न : क्या क्षुल्लक को देवपूजा करना आवश्यक है ? क्या वह आहारदान कर सकता है ? क्या विद्याधर लोग प्रतिमा धारण कर सकते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 673)*

उ र क्षुल्लक के लिये दान व पूजन का विधान लाटी संहिता ग्रन्थ में मिलता है। परन्तु वह काष्ठा संघ की अपेक्षा से है। श्रावकाचार ग्रन्थों की अपेक्षा से विभिन्न ग्रन्थों में ऐसा वर्णन तो है कि क्षुल्लक को जो भिक्षा प्राप्त हुई हो, उसका वह स्वामी हो जाता है। उसमें से वह दान करने का अधिकारी है। ऐलक तथा आर्यिकायें मुनिराज को आहार नहीं दे सकती हैं। किसी अन्य मुनि या आर्यिका की अस्वस्थता की दशा में वे आहारदान देने वाले को समझा तो सकते हैं, पर अपने हाथ से स्वयं आहार देने के अधिकारी नहीं हैं। क्षुल्लक के द्वारा पूजा करने का कोई विधान नहीं मिलता। विद्याधर लोग अपने पास विद्या रखकर प्रतिमा धारण तो कर सकते हैं, परन्तु मुनि बनने से पूर्व समस्त विद्याओं का त्याग करना होता है।

प्रश्न : ग्यारह प्रतिमाधारियों के कितने असंयम या अव्रत होते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 674)

उ र संयम के दो भेद हैं- 1. इन्द्रिय संयम 2. प्राणी संयम। इन्द्रिय संयम के छः भेद हैं अर्थात् पाँच इन्द्रिय और मन को वश में रखना। प्राणी संयम के भी छह भेद हैं अर्थात् पाँच स्थावर और एक त्रस अर्थात् छह काय के जीवों की रक्षा करना। इस बारह प्रकार के संयम में से क्षुल्लकों के केवल त्रसकायिक की हिंसा से विरतिरूप एकमात्र संयम होता है। शेष ग्यारह प्रकार के असंयम या अविरत होते हैं। वे इनसे बचने का यथाशक्ति पालन करते हैं, परन्तु व्रत नहीं होते।

प्रश्न : क्षुल्लक या मुनियों के लिये जो आहार बनाया जाता है, वह उन्हीं के उद्देश्य से तो बनाया जाता है। फिर उस भोजन को उद्दिष्ट भोजन क्यों न माना जाये ?

उ र उद्दिष्ट दोष दो प्रकार का होता है। यदि कोई श्रावक किन्हीं मुनि या क्षुल्लक के उद्देश्य से भोजन बनाता है, तो वह श्रावक का उद्दिष्ट नाम का दोष है। तथा यदि कोई मुनि या क्षुल्लक अपने लिये कुछ कहकर भोजन बनवाते हैं, तो वह मुनि या क्षुल्लक स बन्धी उद्दिष्ट दोष है। जब कोई मुनिसंघ धर्मशाला या मंदिर जी में आता है, तो श्रावक को अत्यन्त प्रसन्नता होती है। वह सोचता है कि इतने दिन से अतिथिसंवि ाग नहीं हो पा रहा था। अब नित्य होगा। जो अव्रती जीव हैं, वे भी अतिप्रसन्न होते हैं कि जब तक महाराज हैं, तब तक हम भी शुद्ध भोजन करेंगे और महाराज को करायेंगे। ऐसे भोजन में न तो श्रावक को और न ही मुनि को उद्दिष्ट दोष लगता है। श्रावक ने तो अपने लिये शुद्ध भोजन बनाया है। यदि महाराज आते हैं, तो आहारदान हो जायेगा और नहीं आते हैं, तो स्वयं भोजन कर लेगा। यदि किसी श्रावक ने मुनिसंघ के लिये अलग भोजन बनाया हो, और अपने लिये अलग

भोजन बनाया हो, तो उस भोजन में श्रावक को उद्दिष्ट का दोष लगेगा। यदि ऐसा नहीं मानेंगे, तो फिर विहार के समय मुनिसंघ के लिये आहार व्यवस्था कैसे बनेगी ?

प्रश्न : आर्यिकाओं के वस्त्र श्रावकों को किस प्रकार धोने चाहिये ? क्षुल्लकों और ऐलकों के वस्त्र श्रावकों को किस प्रकार धोने का विधान है ?

उ□ ार :आर्यिकाओं के वस्त्र श्राविकाओं द्वारा धोये जाते हैं, परन्तु ध्यान यह रखना चाहिये कि वस्त्र कुएँ के छने हुए अचिž जल से धोये जायें। उनके धोने के लिये धोबी न रखे जायें। क्षुल्लक और ऐलक अपने वस्त्र स्वयं भी धो सकते हैं। पर यदि श्रावक धोते हैं, तो वे स्वयं धोयें, महिलाओं से न धुलवाएँ। उपर्युक्त सभी वस्त्रों का धुला हुआ जल मोरी में न जाकर, किसी सूखे खेत आदि स्थान में जाना चाहिये, ताकि जीव हिंसा न हो।

प्रश्न : जो अव्रती हैं अर्थात् प्रतिमाधारी नहीं है, उनको प्रतिक्रमण करना चाहिये या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 646)

उ□ ार :व्रत में लगे दोषों का पश्चाताप करना प्रतिक्रमण है तथा आगामी काल के लिये दोषों का त्याग करना प्रत्या यान है। जहाँ पर प्रतिक्रमण होता है, वहाँ पर प्रत्या यान भी अवश्य होता है। €योंकि वास्तविक प्रतिक्रमण वही है, जहाँ भविष्य में दोष न लगने की भावना हो। जो अव्रती हैं, जिनके एक भी प्रतिमा आदि नहीं हैं, उनके व्रत नहीं होते, जिसमें कि दोष लगें। अत: ऐसे अव्रतियों के लिये प्रतिक्रमण आवश्यक नहीं होता। आचार्यों ने प्रतिमाधारी श्रावकों तथा महाव्रती मुनियों के लिये प्रतिक्रमण पाठ रचे हैं। किसी भी आचार्य ने अव्रती के लिये प्रतिक्रमण पाठ नहीं रचा। अत: अव्रती को प्रतिक्रमण न करके आलोचना पाठ आदि बोलना चाहिये।

प्रश्न : चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयत जीव के पापों का त्याग होता है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 646)

उ□ ार :चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयत जीव के पाँच पापों का त्याग नहीं होता है। उसकी पाप कार्यों में रुचि या आसक्ति नहीं होती, वे कार्य उसको करने पड़ते हैं। यदि वह पाँच पापों का एकदेश त्याग कर दे, तो उसके पंचम गुणस्थान हो गया। यदि स पूर्ण त्याग कर दे, तो सकल संयमी हो जाता है। चतुर्थ गुणस्थान तक पापों का त्याग न होने से चारित्र भी नहीं होता है।

प्रश्न : €या स यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि मुनि को नमस्कार करता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 647)

उ र आचार्य कुन्दकुन्द ने दर्शनपाहुड गाथा 13 में स्पष्ट कहा है कि जो जानते हुए भी लज्जा, भय, गारव आदि के कारण मिथ्यादृष्टि मुनि की विनयादि करते हैं, उनके चरण छूते हैं, उनको भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति नहीं होती है। €योंकि वे मिथ्यात्वरूप पाप की अनुमोदना करते हैं। जो वस्त्ररहित हों, परन्तु अट्ठाईस मूलगुणों का पालन न होने से जिनके द्रव्य संयम नहीं है, उनके भावसंयम भी नहीं है। ऐसे मुनि वन्दना के योग्य नहीं होते। हमको मुनिराज का गुणस्थान ज्ञात नहीं हो सकता, अत: हमको तो जो मुनि अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हों, उनकी भावसहित वन्दना करनी चाहिये।

प्रश्न : €या अव्रती पिच्छी रख सकता है ? केशलोंच कर सकता है ? स्नान त्याग कर सकता है ? उसका ऐसा करना आगमबाह्य है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 649)*

उ र असंयमी के लिये उपर्युक्त सभी क्रियाएँ आगमबाह्य हैं। दसवीं प्रतिमाधारी तक व्रतियों को पिच्छी रखने की आगम में आज्ञा नहीं है। वे स्नान त्याग भी नहीं कर सकते, उनका केशलोंच करना भी आगम स मत नहीं है। जिनको भविष्य में मुनिपद लेना हो, ऐसे ब्रह्मचारी भाई आचार्य की आज्ञानुसार केशलोंच कर सकते हैं। वर्तमान में जितने भी भट्टारक हैं, उनके प्रतिमाएँ नहीं होती, अत: उनके द्वारा पिच्छी कमण्डलु रखना या केशलोंच करना आगमबाह्य है। ऐसे अव्रतियों की फोटो भी मंदिर में नहीं लगाना चाहिये।

ध्यान

प्रश्न : या संसारी जीव के हर समय कोई एक ध्यान रहता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 675)

उ र इस प्रश्न के उŸार में मु तार साहब लिखते हैं कि ध्यान का लक्षण एकाग्रचिन्तानिरोध है, जो किसी भी जीव के हर समय नहीं रहता, अधिकतर भावना रहती है। यहाँ 'एक' का अर्थ प्रधान और 'अग्र' का अर्थ आल बन है। अर्थात् एक वस्तु को प्रधान करके उसे आल बन बनाकर चिन्तवन का रुक जाना ध्यान है। ऐसा ध्यान किसी भी संसारी जीव के हर समय नहीं रहता। इस प्रश्न के उ र में पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज का कथन है कि प्रत्येक जीव के प्रतिसमय कोई न कोई ध्यान अवश्य रहता है। ध्यानरहित कोई भी संसारी जीव कभी भी नहीं होता। इस तरह यद्यपि दो मत हैं, परन्तु आगमप्रमाण किसी भी मत का उपलŸध नहीं है।

प्रश्न : आŸर्ध्यान कौनसा भाव है और रौद्रध्यान के गुणस्थान कौनसे हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 676)

उ□ ार छद्मस्थ का ज्ञान क्षायोपशमिक भाव है। अत: ध्यान भी क्षायोपशमिक भाव है और ज्ञान की निश्चलता को ध्यान कहते हैं। छद्मस्थ के सभी ध्यान, ज्ञान की पर्यायविशेष होने के कारण क्षायोपशमिक हैं। इनके गुणस्थान इस प्रकार हैं- इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, वेदनाजन्य ये तीन आर्ंध्यान प्रथम से छठे गुणस्थान तक होते हैं। निदान नामक आर्ंध्यान प्रथम से पाँचवें गुणस्थान तक होता है। चारों रौद्र ध्यान पहले से पाँचवे गुणस्थान तक पाये जाते हैं। आर्ंध्यान दु:ख के क्षणों में होता है और रौद्रध्यान प्रसन्नता के क्षणों में होता है।

प्रश्न : पाँचवें और छठे गुणस्थान में आर्ं और रौद्र ध्यानों का वर्णन है। पाँचवें और छठे गुणस्थान में पीत, पद्म और शु€ल लेश्या कही गयी है, अशुभ लेश्याएँ नहीं कही हैं। तो €या ये आर्ं-रौद्रध्यान शुभ लेश्याओं में भी होते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 676)*

उ□ ार इस प्रश्न के उ्ार में मु तार साहब का कथन है कि यह कोई नियम नहीं है कि आर्ं और रौद्र ध्यान अशुभ लेश्याओं में ही होते हैं। शु ा लेश्याओं में भी हो जाते हैं, किन्तु अधिकतर अशुभ लेश्या में होते हैं। अत: ऐसा कह दिया जाता है कि ये दोनों ध्यान अशुभ लेश्या में होते हैं।

ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्र महाराज का कथन इससे भिन्न है- ज्ञानार्णव के अनुसार ये दोनों ध्यान अशुभ लेश्या का आश्रय लेकर ही होते हैं और इनके आल बन भी अशुभ हैं। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में छठे गुणस्थान में भी अशुभ लेश्याओं का कथन किया है। उनके अनुसार वकुश व प्रतिसेवना कुशील मुनियों के कदाचित् पुस्तक एवं पिच्छी कमण्डलु आदि के अवल बन से अशुभ लेश्या बन जाती है। इससे ऐसा लगता है कि उन मुनियों के उसी अशुभ लेश्या के काल में आ□ ध्यान होता होगा। □ योंकि आ□ ध्यान के काल में शुभ लेश्या कैसे रह पायेगी। अत: सामान्यत: पाँचवें और छठे गुणस्थान में शुभ लेश्याएँ ही रहने से यथास भव आर्ं व रौद्र ध्यान नहीं होते होंगे और कदाचित् प्रसङ्गवश अशुभ लेश्या होने पर ये अशुभ ध्यान हो जाते होंगे, ऐसा मानना उचित प्रतीत होता है।

प्रश्न : उपयोग के तीन भेद हैं- शुभ, अशुभ एवं शुद्ध। इनके गुणस्थान कौन-कौनसे हैं ?
(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 677)

उ□ ार प्रवचनसार गाथा नौ की टीका में आचार्य जयसेन ने तथा बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 34 की टीका में ब्रह्मदेव सूरि ने उपयोग में गुणस्थान इस प्रकार कहे हैं-

1. अशुभोपयोग - पहले से तीसरे गुणस्थान तक (मिथ्यात्व तथा कषाय दोनों होने से)
2. शुभोपयोग - चार से छठे गुणस्थान तक (कषाय रहने से)
3. शुद्धोपयोग - सातवें से बारहवें गुणस्थान तक। (बुद्धिपूर्वक कषाय का अभाव होने से तथा कषाय रहित होने से)

प्रश्न : वर्तमान में शुद्धोपयोग होता है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1342)

उ□ ार : भाव तीन प्रकार के कहे गये हैं- शु ा, अशुभ एवं शुद्ध। आर्ा और रौद्र ध्यान अशुभ हैं और ध र्यध्यान शुभ ााव हैं। प्रवचनसार पृ. 315 पर कहा गया है कि सर्वपरित्याग परमोपेक्षा संयम, वीतरागचारित्र और शुद्धोपयोग ये एकार्थवाची हैं। आजकल परमोपेक्षासंयम नहीं है इसीलिये शुद्धोपयोग भी नहीं है। ऐसा मु तार साहब का कथन है।

कुछ अन्य विद्वान् एवं वर्तमान आचार्यों की मान्यता है कि शुद्धोपयोग सातिशय अप्रम□ ा विरत गुणस्थान से होता है इससे पूर्व स्वस्थान अप्रमžाविरत में नहीं होता। सातिशय अप्रमžाविरत श्रेणी आरोहण करने के पूर्व ही होता है। वर्तमान में आचार्यों ने श्रेणी आरोहण का अभाव लिखा है अत: वर्तमान काल में शुद्धोपयोग नहीं होता। लेकिन इन आचार्यों और विद्वानों ने कोई आगम प्रमाण नहीं दिया है, अत: यह मान्यता आगमस मत नहीं है।

इस संबंध में पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज का कथन इस प्रकार है कि जिस प्रकार पञ्चम् काल में शु□ लध्यान का स्पष्ट निषेध आचार्यों ने कहा है उस प्रकार किसी भी आचार्य ने पंचमकाल में शुद्धोपयोग का निषेध किसी भी ग्रंथ में नहीं किया है। अत: यह कैसे स्वीकार किया जाये कि पंचमकाल में शुद्धोपयोग नहीं होता। पू. आचार्य श्री के अनुसार पंचम काल के भावलिङ्गी साधुओं को □ वचित् कदाचित् अल्प समय के लिये शुद्धोपयोग मानना उचित प्रतीत होता है।

प्रश्न : यदि चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान में मात्र शुभोपयोग कहा गया है, तो €या आर्ा-रौद्र ध्यान के समय में भी शुभोपयोग रहता होगा ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 677)*

उ□ ार : चौथे से छठे गुणस्थान तक के जीवों के स य€त्वसहित प्रवृžि होने से इन अशुभ ध्यानों के समय में मन-वचन-काय की प्रवृि□ ारूप योग तो अशुभ हो जायेगा, परन्तु उपयोग तो शुभ ही रहेगा। इसीलिये यद्यपि आर्ाध्यान को तिर्यञ्च गति का कारण और रौद्र ध्यान को नरक गति का कारण कहा है। फिर भी स यग्दृष्टि जीवों के आर्ा और रौद्र ध्यान, स य€त्व होने के कारण अशुभ गति के बन्ध में कारण नहीं होते।

प्रश्न : रौद्रध्यान के हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी ये चार भेद किये हैं। परन्तु कुशीलानन्दी भेद □ यों नहीं किया ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 678)*

उ□ ार : चौथे रौद्रध्यान का नाम तžवार्थसूत्रकार ने परिग्रहानन्दी न देकर विषयसंरक्षणानन्दी दिया है अर्थात् पंचेन्द्रिय के विषयों के संरक्षण में और भोगने में आनन्द मानना विषयसंरक्षणानन्दी रौद्रध्यान है। कुशील का विषय स्पर्शन इन्द्रिय स बन्धी है, अत: विषयसंरक्षणानन्दी रौद्रध्यान में कुशील स बन्धी रौद्रध्यान का अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रश्न : निदान शल्य, निदान आ□ र्त ध्यान और निदानबन्ध में □ या अन्तर है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 678)

उ□ ार इनके अन्तर समझने से पूर्व तीनों की परिभाषाओं पर विचार किया जाता है–

1. निदान शल्य– शल्य का अर्थ है पीड़ा देनेवाली वस्तु और इस जन्म में या अगले जन्म में भोगों की लालसा होना निदान है। अत: निरन्तर इस भव में या आगामी भव में भोगों की प्राप्ति के लिये पीड़ा का अनुभव करना निदान शल्य है।

2. निदान आ□ र्त ध्यान– भोगों की आकांक्षा के प्रति आतुर हुए व्यक्ति का निरन्तर चिन्तातुर रहना निदान आ□ र्त ध्यान कहलाता है।

3. निदान बन्ध– आगामी पर्याय स बन्धी आकांक्षा के अनुसार गति का बन्ध हो जाना निदान बन्ध है। इस प्रकार तीनों में अन्तर है।

प्रश्न : हम लोगों के चौबीस घण्टे में कौनसा ध्यान सबसे अधिक रहता है ?

उ□ ार दु:खी अवस्था में आर्त्तध्यान होता है। सुखी अवस्था में रौद्रध्यान होता है। परिणामों की विशुद्धिसहित पूजा, भक्ति, स्वाध्याय, जप आदि के समय धर्मध्यान होता है। जो लोग रि□ शा चलाते हैं, मजदूरी करते हैं, दिनभर परिश्रम करके आजीविका उपार्जन करते हैं, उनके आ□ र्त ध्यान की प्रमुखता है। हम और आप जैसे लोग, जिनको विभिन्न सुविधाएँ उपल□ ध हैं और उन सुविधाओं के भोग में मौज से रहते हैं, उनके रौद्रध्यान की प्रमुखता है। जो स यग्दृष्टि जीव हैं, भेदविज्ञानी हैं, संसार की असारता को जान लेने से समतापरिणामी हैं, उनके पूजा, भक्ति, स्वाध्याय आदि के काल में ध र्यध्यान होता है। ऐसे आत्मकल्याण की भावना रखनेवाले जीव तो विरले हैं। अत: निष्कर्ष यह है कि हम लोगों के चौबीस घण्टे में से अधिकांश समय रौद्रध्यान ही रहता है, आर्त्तध्यान और धर्मध्यान तो कुछ समय ही होते हैं। यह भी ज्ञातव्य है कि आर्त्तध्यान तिर्यञ्च गति का और रौद्रध्यान नरक गति का कारण है।

प्रश्न : ध र्यध्यान कितने प्रकार का होता है ? उनका स्वरूप एवं स्वामी कौन हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 683)

उ□ ार धर्म से युक्त प्रवृत्ति को ध र्यध्यान कहते हैं। इसके भेद शास्त्रों में कई प्रकार से वर्णित हैं–

1. तत्त्वानुशासन में मु य और उपचार ये दो भेद कहे गये हैं। मु य ध र्यध्यान सप्तम गुणस्थान में होता है जबकि उपचार ध र्यध्यान चार, पाँच और छह गुणस्थान में कहा गया है।

2. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में उपायविचय, अपायविचय आदि ध र्यध्यान के दस भेद कहे गये हैं।

3. तǎवार्थसूत्रकार ने चार भेद कहे हैं, जिनका स्वरूप इस प्रकार है–

(अ) सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रधान करके पदार्थों का स यक् प्रकार चिन्तन करना आज्ञाविचय ध र्यध्यान है।

(ब) जिस ध्यान में कर्मों का नाश और उसके उपाय का चिन्तन किया जाता है, वह अपायविचय ध र्यध्यान है।

(स) कर्मों के उदयरूप विभिन्न प्रकार के कर्मफलों का चिन्तन करना विपाकविचय ध र्यध्यान है।

(द) लोक के आकार आदि का चिन्तन करना संस्थानविचय ध र्यध्यान है। संस्थानविचय ध र्यध्यान के चार भेद कहे गये हैं–

1. पिण्डस्थ ध्यान– भगवान् के शरीर आकृति आदि का लोक के आश्रय सहित चिन्तन करना।

2. पदस्थ ध्यान– पंच परमेष्ठी वाचक मंत्र, वा€यों का चिन्तन करना।

3. रूपस्थ ध्यान– अपनी आत्मा का पुरुषाकार चिन्तन करना।

4. रूपातीत ध्यान– ज्ञाता–द्रष्टा मात्र अपनी आत्मा का चिन्तन करना।

उपर्युक्त आज्ञाविचय आदि चार भेदों में से आज्ञाविचय और अपायविचय ध र्यध्यान चौथे से सातवें गुणस्थान तक होते हैं। विपाकविचय ध र्यध्यान पाँचवें से सातवें गुणस्थान तक होता है। संस्थान विचय ध र्यध्यान छठे और सातवें गुणस्थान वाले मुनिराजों के होता है। यह ध र्यध्यान स यग्दृष्टि जीवों के होता है। तीन शुभ लेश्याओं में होता है और क्षायोपशमिक भाव है।

प्रश्न : आचार्य वीरसेन स्वामी ने दसवें गुणस्थान तक ध र्यध्यान कहा है। जबकि अन्य आचार्यों ने सप्तम गुणस्थान तक ही कहा है। ऐसा €यों ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 682)*

उ□ ार ध् र्यध्यान के गुणस्थानों के स बन्ध में आचार्यों के दो मत हैं– सर्वार्थसिद्धि 9/36–37 की टीका में श्रेणी के पहले होनेवाले ध्यान को ध र्यध्यान और श्रेणी में होनेवाले ध्यान को शु€लध्यान कहा है। राजवार्तिककार का भी यही मत है, जबकि षट्खण्डागमकार एवं श्री वीरसेन आचार्य ने धवल पुस्तक 13 पृ. 74–75 पर दसवें गुणस्थान तक ध र्यध्यान कहा है और कषायरहित जीवों के ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक शु€लध्यान कहा है। उपर्युक्त सभी महान् आचार्य हैं, अत: यह नहीं कहा जा सकता कि कौनसा कथन युक्त है और कौनसा अयुक्त ? अत: अपेक्षानुसार दोनों मतों को स्वीकार करना चाहिये।

प्रश्न : ध र्यध्यान के गुणस्थानों में इस प्रकार के दो कथन €यों पाये जाते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 680)

उ र दोनों कथनों में मात्र विवक्षा भेद है। आचार्य पूज्यपाद और अकलङ्क स्वामी ने तो जहाँ तक बुद्धिपूर्वक कषाय होती है अर्थात् सप्तम गुणस्थान तक ध र्यध्यान कहा है। इससे ऊपर जहाँ अबुद्धिपूर्वक कषाय है अथवा कषाय का अभाव है, उन गुणस्थानों में शु€लध्यान कहा है। जबकि वीरसेन महाराज ने बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक दोनों के सद्भाव में ध र्यध्यान कहा है। अबुद्धिपूर्वक संज्वलन कषाय दसवें गुणस्थान तक रहती है, अत: उन्होंने दसवें गुणस्थान तक ध र्यध्यान कहा है। कषायरहित गुणस्थानों में सभी आचार्य एकमत हैं। अर्थात् ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक सभी आचार्य शु लध्यान ही मानते हैं।

प्रश्न : €या ध र्यध्यान को बन्ध का कारण मानना उचित है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 679)*

उ र ज्ञो जीव के परिणाम बन्ध में कारण होते हैं वे संसार के हेतु होते हैं, और जो जीव के परिणाम संवर-निर्जरा के कारण होते हैं, वे मोक्ष के हेतु होते हैं। तǎवार्थसूत्र 9/29 **'परे मोक्षहेतू'** के अनुसार परे अर्थात् बाद के दो, ध र्यध्यान और शु€लध्यान, मोक्ष के कारण कहे गये हैं। अर्थापǐा न्याय से इस सूत्र से यह भी अर्थ निकलता है कि पूर्व के आǎर्ा और रौद्र ध्यान संसार के हेतु हैं।

वास्तव में मोहनीय कर्म का उदय ही बन्ध का कारण है, जबकि ध र्यध्यान तो उस मोहनीय कर्म के क्षयोपशम तथा क्षय का कारण है, €योंकि आचार्य वीरसेन महाराज के अनुसार दसवें गुणस्थान तक ध र्यध्यान होता है और इसी ध र्यध्यान के द्वारा दसवें गुणस्थान के अन्त में मोहनीय कर्म का नाश किया जाता है। तब फिर जो ध्यान बन्ध के कारणभूत मोहनीय कर्म का नाश करता हो, उसे बन्ध का कारण कैसे कहा जा सकता है ? इतना अवश्य है कि ध र्यध्यान के काल में शेष कषायों के उदय से बन्ध भी होता है, परन्तु ध र्यध्यानरूप परिणाम बन्ध में कारण नहीं हैं।

प्रश्न : ध र्यध्यान का ध्याता कैसा होना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 685)*

उ र श्री नागसेन आचार्य ने तǎवानुशासन में ध र्यध्यान के ध्याता के स बन्ध में कहा है कि जो निकट भव्य हो, काम और भोग से विरक्त हो, समस्त परिग्रहों का त्यागी हो, जिसने जिनदीक्षा धारण कर ली हो, तप और संयम का अच्छी तरह से पालन करनेवाला हो, प्रमादरहित हो, जिसने ध्यान करने योग्य जीवादि पदार्थों का यथार्थ निर्णय कर लिया हो, आǎर्ा और रौद्र ध्यान के त्याग के कारण जिसका चिǎ सदैव निर्मल रहता हो, जिसको इहलोक और परलोक स बन्धी कोई अपेक्षा न हो, परीषहजयी हो, ज्ञान के लिये प्रयत्नशील हो, महाशक्तिशाली हो और अशुभ लेश्या व अशुभ भावनाओं का जिसने सर्वथा त्याग कर दिया हो, ऐसे महामुनिराज मु य ध र्यध्यान के ध्याता होते हैं अर्थात् चौथे, पाँचवें व छठे गुणस्थान में मु य ध र्यध्यान नहीं होता। वर्तमान पंचमकाल में उत्कृष्ट सामग्री अर्थात् सहंनन आदि का अभाव होने से उत्कृष्ट ध र्यध्यान स भव नहीं है, जघन्य और मध्यम ध र्यध्यान हो सकता है।

त्**प्रश्न :** वर्तमान में हम हीन संहननवालों का ध्यान, जघन्य और उत्कृष्ट से कितने समय तक स्थिर रह सकता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 687)*

उ□ ार वर्तमान के हीन संहननवाले जीवों का ध्यान उत्कृष्ट से एक आवली से कुछ कम तथा जघन्य से दो-चार समय तक स्थिर रह सकता है, इससे अधिक नहीं। यह ध्यान भी उत्कृष्टता की अपेक्षा मुनियों के ही स भव है। गृहस्थ के तो मु यरूप से ध र्यध्यान नहीं होता है, उसके तो आर्ा व रौद्रध्यान की मु यता है। गृहस्थ निरन्तर विभिन्न समस्याओं में उलझे रहते हैं, अत: प्राकृत भाव संग्रह के अनुसार जब वे ध्यान लगाने बैठते हैं, तब समस्त विकल्परूप चिन्तन होने लगता है, अथवा वे सोने लगते हैं। किसी किसी सद्गृहस्थ के उपचार से ध र्यध्यान होता है और वह भी बहुत अल्पकाल के लिये होता है। इसीलिये आचार्यों ने गृहस्थ के आवश्यकों में ध्यान को न लेकर दान और पूजा को लिया है। मूलाचार आदि ग्रन्थों में भी मुनियों के लिये कहा है कि ध्यानरूप अन्तरङ्ग तप होना अत्यन्त कठिन है। मन की एकाग्रता नहीं बनती। अत: साधुओं को स्वाध्याय में चि□ ा लगाना चाहिये। इसी अपेक्षा से स्वाध्याय को परम तप कहा है।

प्रश्न : □ या जप और ध्यान पर्यायवाची हैं ?

उ□ ार किसी मंत्र को बहुत बार स्मरण करना जप कहलाता है, जबकि किसी एक अक्षर के ऊपर चिर्ा का स्थिर हो जाना ध्यान कहलाता है। ध र्यध्यान में भी (पदस्थ ध्यान) पंचपरमेष्ठीवाचक मंत्रों के ध्यान करने का कथन मिलता है। इस अपेक्षा से कथंचित् जप और ध्यान एक भी कहे जा सकते हैं।

प्रश्न : जाप कितने प्रकार से दी जाती है और उनमें सर्वश्रेष्ठ जाप कौनसी कही गई है ?

उ□ ार जाप तीन प्रकार से दी जाती है-

1. जो मन्त्र की जाप, मन्द-मन्द उच्चारण सहित दी जाये।

2. जिस जाप में उच्चारण तो न हो, पर ओंठ या जीभ चलते हों।

3. जिस जाप में न होठ चलें, न जीभ चलें और न अङ्गूठा, अङ्गुलि आदि गिनने का कार्य करे। यह जाप सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। जाप दो प्रकार की भी कही गई है- 1. अन्तर्जल्प- बिना उच्चारण के और बिना होंठ आदि हिलाये जो जप होता है, वह अन्तर्जल्प कहलाता है। 2. बहिर्जल्प- उच्चारण पूर्वक अथवा जो जाप बहिरङ्ग में दिखाई पड़े, वह बहिर्जल्प कहलाता है।

प्रश्न : ध्यान के योग्य चि□ ा की निश्चलता कैसे प्राप्त हो ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1340)

उ□ ार निश्चल रहना तो चि□ ा का स्वभाव है, उस निश्चलता का घातक जो कर्म है उस कर्म का क्षय करने से चि□ ा की निश्चल अवस्था स्वयमेव प्राप्त हो जायेगी। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से मोह

उत्पन्न होता है और चारित्रमोहनीय कर्मोदय से क्षोभ उत्पन्न होता है। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म के उदया ााव में मोह और क्षोभ का अभाव हो जाता है, यह अभाव ही चिǍा की निश्चलता का कारण है। अत: मोह और क्षोभ को दूर करना चाहिये।

प्रश्न : ध र्यध्यान का फल €या है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 693)*

उ ार क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ नहीं हुए जीवों को देवपर्याय स बन्धी विपुल सुख मिलाना और गुणश्रेणीरूप कर्मों की निर्जरा होना ध र्यध्यान का फल है। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ जीवों के तो असं यात गुणश्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा होना और शुभ कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना ध र्यध्यान का फल है। ध र्यध्यान से शुभास्रव, संवर और निर्जरा होती है। कर्मरूपी बादल नष्ट हो जाते हैं। मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियों का क्षय होना तथा आचार्य वीरसेन महाराज के अनुसार सूक्ष्मसा पराय के अन्तिम समय में मोहनीय कर्म का विनाश होना ध र्यध्यान का फल है। विशेष बात यह है कि ध र्यध्यानरूप शुभ परिणामों से ही मोहनीय कर्म का क्षय होता है। जो एकान्तवादी शुभ परिणामों से मात्र आस्रव और बन्ध मानते हैं, उनको यह विषय ध्यान देने योग्य है।

प्रश्न : गृहस्थ के शुद्धात्मध्यान अथवा शुद्धोपयोग अथवा निर्विकल्प ध्यान होता है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 696-97)*

उ ार गृहस्थ के शुद्धोपयोग नहीं होता। उसके शुभोपयोग होता है। शुद्धात्मध्यान, शुद्धोपयोग तथा निर्विकल्प ध्यान ये तीनों पर्यायवाची श द हैं। अत: गृहस्थ के लिये इनमें से किसी का भी होना स भव नहीं है। ये तीनों ही द्रव्यानुयोग के अनुसार सप्तम गुणस्थान से और करणानुयोग के अनुसार ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में होते हैं। गृहस्थों के शुद्धोपयोग किसी भी आचार्य ने नहीं लिखा है। एकान्तवादियों की चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग मानने की धारणा आगमविरुद्ध है, गलत है।

प्रश्न : इस काल में मोक्ष तो होना नहीं है, फिर हम धर्मध्यान यों करें ?

उ ार बृहद्द्रव्यसंग्रह के अनुसार इस पंचमकाल में भी जो ध र्यध्यानरूप प्रवृǍि रखते हैं, वे उसके प्रभाव से अगले जन्म में देव पर्याय प्राप्त कर वहाँ भी पूर्व संस्कारों के अनुसार पूरा समय धार्मिक प्रवृǍि में बिताते हैं और महान् पुण्य का संचय करते हैं, जिसके फलस्वरूप अगले भव में मनुष्य पर्याय प्राप्तकर शलाका पुरुष आदि उच्च पदों को प्राप्त करते हैं और शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इसके विपरीत जो ध र्यध्यानरूप प्रवृǍि नहीं रखते हैं और आǍर्ा व रौद्रध्यानरूप निरन्तर बने रहते हैं, वे अधोगति को प्राप्त होते हैं और दीर्घसंसारी होते हैं।

प्रश्न : शु□ लध्यान किसे कहते हैं ? उसके भेद और स्वरूप बताएँ।

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 703)

उ□ ार ज़ो मात्र शु€ल लेश्या में होता है, कषाय का अभाव होने से शु€लरूप है, ऐसे निज शुद्ध-आत्मा में निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान को शु€लध्यान कहते हैं। इसके चार भेद हैं। शु€लध्यान का स्वरूप समझने से पहले कुछ श□ दों को समझना आवश्यक है।

पृथ€त्व- अलग-अलगपना।

वितर्क- श्रुत का आल बन।

वीचार- अर्थ, व्यंजन और योग में पलटन होना अर्थात् द्रव्य के चिन्तन से पर्याय के चिन्तन पर आना और पर्याय के चिन्तन से द्रव्य के चिन्तन पर आना अर्थसंक्रान्ति है। ऊँ के ध्यान से ह्रीं पर आना और ह्रीं से श्री पर आना व्यंजनसंक्रान्ति है। मनोयोग से ध्यान करते हुए वचनयोग पर आ जाना और वचनयोग से काययोग पर आ जाना योगसंक्रान्ति है।

अवीचार- अर्थ, व्यंजन और योग में पलटन न होना।

अब शु□ लध्यान के चार भेदों पर विचार किया जाता है-

1. पृथ€त्ववितर्कवीचार- जिस ध्यान में श्रुतज्ञान के अवल बनसहित अर्थ, व्यंजन और योग की पलटन सहित भिन्न-भिन्न वस्तु का चिन्तन होता है।

2. एकत्ववितर्क-अवीचार- जिसमें श्रुत के अवल बन से एक पदार्थ का ध्यान हो और अर्थ, व्यंजन एवं योग की पलटन न हो।

3. सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति- मनोयोग, वचनयोग के स पूर्ण समाप्त होने पर और बादर काययोग के भी समाप्त हो जाने पर जहाँ मात्र सूक्ष्म काययोग रह गया हो, उसे सूक्ष्मक्रिया कहते हैं और जहाँ से नीचे गिरना न हो, उसे अप्रतिपाती कहते हैं अर्थात् तेरहवें गुणस्थान के अन्त में जब मात्र सूक्ष्म काययोग शेष रह जाता है और जहाँ से नीचे गिरना नहीं होता, उसे सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती शु□ लध्यान कहते हैं।

4. व्युपरतक्रियानिवर्ति- जिस ध्यान में समस्त क्रियाएँ और योग न रहें अर्थात् चौदहवें गुणस्थान में योगरहित अवस्था में जो ध्यान होता है, उसे व्युपरतक्रियानिवर्ती कहते हैं।

प्रश्न : शु€लध्यान किन गुणस्थानों में होता है ?

उ□ ार शु€लध्यान के गुणस्थानों पर आचार्यों की दो पर पराएँ हैं।

1. श्री षट्खण्डागम (आचार्य वीरसेन स्वामी) के अनुसार

पृथ€त्ववितर्कवीचार	-	11 व 12
एकत्ववितर्कअवीचार	-	11 व 12

सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति	–	13वें गुणस्थान के अन्त में
व्युपरतक्रियानिवर्ति	–	14वाँ गुणस्थान
2. अन्य आचार्यों के अनुसार		
पृथ€त्ववितर्कवीचार	–	8वें गुणस्थान से 11वें गुणस्थान तक
एकत्ववितर्कअवीचार	–	12वाँ गुणस्थान
सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति	–	13वें गुणस्थान के अन्त में
व्युपरतक्रियानिवर्ति	–	14वाँ गुणस्थान

प्रश्न : शु€लध्यान के प्रथम दो भेदों में गुणस्थानों का अन्तर €यों है ? एकत्ववितर्कअवीचार ध्यान को ग्यारहवें गुणस्थान में €यों माना जाये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 706)*

उ□ ार : आचार्य वीरसेन स्वामी के अनुसार धर्मध्यान दसवें गुणस्थान तक कहा गया है। जब कोई क्षपकश्रेणी वाला जीव दसवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान में आता है, तो उसके बारहवें गुणस्थान में पहले पृथ€त्ववितर्कवीचार होगा, तदुपरान्त एकत्ववितर्कअवीचार होगा। अत: दोनों शु€लध्यान बारहवें गुणस्थान में होते हैं। यदि एकत्ववितर्कअवीचार ध्यान को मात्र बारहवें गुणस्थान में माना जाये, तब तो द्वितीय शु€लध्यानवाले जीव भी अप्रतिपाती हो गये, €योंकि बारहवें गुणस्थानवाला जीव नीचे नहीं गिरता है। लेकिन आचार्यों को यह मान्य नहीं है, €योंकि अप्रतिपाती विशेषण तृतीय शु□ लध्यान के साथ है, जो यह बता रहा है कि प्रथम दोनों शु□ लध्यान प्रतिपाती हैं। यदि एकत्ववितर्कअवीचार को मात्र बारहवें गुणस्थान में माना जायेगा, तो वह आचार्यों के अभिप्राय से विरुद्ध हो जायेगा अर्थात् अप्रतिपाती हो जायेगा। अत: ग्यारहवें गुणस्थान में दोनों शु€लध्यान होते हैं, यह कथन प्रामाणिक है।

प्रश्न : प्रथम शु□ लध्यान में जो अर्थ, व्यंजन और योग की पलटन होती है, वह बुद्धिपूर्वक होती है या अबुद्धिपूर्वक ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 703)*

उ□ ार : प्रथम शु□ लध्यान में जो अर्थ, व्यंजन और योग की पलटन होती है, वह बुद्धिपूर्वक नहीं होती और न यह विकल्प होता है कि पूर्व में द्रव्य का ध्यान था, अब पर्याय का ध्यान है। वहाँ तो जो ध्येय होता है, उस पर ही उपयोग एकाग्र हो जाता है। योग कौनसा है, ऐसा विकल्प भी नहीं होता। योग की पलटन भी उपयोग में नहीं आती है।

प्रश्न : शु€लध्यानवाले मुनिराज के उत्कृष्ट व जघन्य से कितना श्रुत होता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 704-05)

उ□ ार : पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील उत्कृष्टरूप से अभिन्नदशपूर्वी और कषायकुशील

व निर्ग्रन्थ (उपशान्तमोह, क्षीणमोह) उत्कृष्ट से चतुर्दशपूर्वी होते हैं। जघन्य से पुलाक का श्रुत आचारवस्तुप्रमाण होता है। वकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ का जघन्य श्रुत अष्टप्रवचनमातृकाप्रमाण (पाँच समिति और तीन गुप्ति के प्रतिपादक आगम का ज्ञान) होता है। स्नातक तो केवली होते हैं। उनके श्रुतज्ञान नहीं होता।

प्रश्न : सुनते हैं कि एक समय में एक ही योग होता है, परन्तु कहीं-कहीं तीनों योगों की एक साथ प्रवृ□ ा देखी जाती है। वह कैसे ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 705)*

उ□ ार : तीनों योगों की एक साथ प्रवृfिा होवे तो हो, परन्तु उस समय भी आत्मा का प्रयोग तो अथवा प्रयत्न तो एक ही योगरूप होता है। जिस समय आत्मा का मन-वचन-काय में से जिस रूप प्रयोग रहता है, वही योग होता है।

प्रश्न : शु□ लध्यान के लिये □ या प्रथम संहनन आवश्यक है*(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 706)*

उ□ ार : तीन हीन संहननवाले जीव (अर्द्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तासृपाटिका) श्रेणी-आरोहण नहीं कर सकते हैं। अत: तीन हीन संहननवालों के, शु€लध्यान को छोड़कर अन्य तीन ध्यान पाये जाते हैं। तीन उ्ाम संहननवाले जीव (वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच और नाराच) उपशम श्रेणी चढ़ सकते हैं, अत: इन तीन उ□ ाम संहनन के साथ प्रथम (आदि के) दोनों शु□ लध्यान हो सकते हैं। प्रथम संहननवाले जीव उपशम श्रेणी व क्षपक श्रेणी दोनों चढ़ सकते हैं। अत: उनके पृथ€त्ववितर्क, एकत्ववितर्क और सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ये तीनों हो सकते हैं। चतुर्थ शु€लध्यान चौदहवें गुणस्थान में होता है, वहाँ शरीर नामकर्म तथा किसी भी संहनन का उदय नहीं होता, □ योंकि वज्रर्षभनाराच संहनन की उदयव्युच्छिfिा तेरहवें गुणस्थान में हो जाती है।

प्रश्न : समवसरण स्थित केवली के कौनसा ध्यान होता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 707)*

उ□ ार : समवसरण स्थित केवली के कोई ध्यान नहीं होता है। वे केवली होते हैं, उनका उपयोग स पूर्ण द्रव्यपर्यायों में उपयुक्त होने लगता है, इसलिये एक द्रव्य में या एक पर्याय में एकाग्रता का अभाव देखकर उनके ध्यान का अभाव कहा है। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तीसरा शु□ लध्यान तेरहवें गुणस्थान के अन्त में केवलीसमुद्घात के बाद होता है।

प्रश्न : केवली भगवान् के समस्त द्रव्य पर्यायों का ज्ञान होने के कारण एकाग्रता न होने से ध्यान का अभाव कहा था, परन्तु फिर तीसरा और चौथा शु□ लध्यान □ यों कह दिया है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 708-09 एवं 773-74)

उ र : 13वें और 14वें गुणस्थानों में पूर्व प्रवृ ा की अपेक्षा ध्यान कहा गया है। केवली भगवान् के सर्वज्ञत्व होने के कारण उनके एकाग्रचि ानिरोधरूप ध्यान नहीं होता। ध्यान के फलस्वरूप पूर्वसञ्चित कर्मों की स्थिति के विनाश और उनके गलने को देखकर केवली भगवान् के उपचार से ध्यान कहा गया है, €योंकि निर्जरा का कारण ध्यान है और निर्जरा वहाँ पाई जाती है। अत: केवलियों के ध्यान उपचार से ही कहा गया है। (पंचास्तिकाय गाथा 152 की टीका)।

प्रश्न : शु ल ध्यान का फल या है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 708)*

उ र पृथ€त्ववितर्कवीचार शु€लध्यान का फल उपशान्तमोह गुणस्थान में आत्मा की स्थिति बनाए रखना है। एकत्ववितर्कअवीचार का फल ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का नाश करना है। तीसरे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शु ल ध्यान का फल तीन अघातिया कर्मों की स्थिति को आयुकर्म के बराबर करना है और योगों का अभाव करना है। चतुर्थ शु ल ध्यान का फल चारों अघातिया कर्मों का नाश करना है।

प्रश्न : हमने तो ऐसा पढ़ा है कि तीन अघातिया कर्मों की स्थिति केवली समुद्घात के द्वारा आयुकर्म के बराबर हो जाती है। फिर इस कार्य को तीसरे शु ल ध्यान का फल यों कहा है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 709)*

उ र : केवली समुद्घात के द्वारा आयु के अलावा अन्य तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कर दी जाती है, परन्तु आयुकर्म के बराबर नहीं की जाती। जबकि तृतीय शु€लध्यान के द्वारा वह स्थिति और घटाकर आयुकर्म के बराबर कर दी जाती है।

प्रश्न : ध र्यध्यान और शु€लध्यान में €या अन्तर है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 690)*

उ र ध्य र्यध्यान और शु€लध्यान दोनों ही ध्यानों में विषय की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। काल की अपेक्षा ध र्यध्यान एक वस्तु में स्तोक काल तक रहता है, €योंकि कषायसहित परिणाम का चिरकाल तक अवस्थान नहीं बन सकता और शु€लध्यान अकषाय परिणाम होने के कारण चिरकाल तक अवस्थित रहता है। ध र्यध्यान को प्राप्त हुए जीव के पीत, पद्म और शु€ल लेश्यायें होती हैं, जबकि शु€लध्यान में मात्र शु€ल लेश्या ही होती है। ध र्यध्यान से शुभास्रव संवर-निर्जरा और देवों के सुख आदि विपुल फल होते हैं। साथ ही मोहनीय कर्म का नाश भी ध र्यध्यान का फल है। जबकि शेष तीन घातिया कर्मों का तथा चार अघातिया कर्मों का नाश शु€ल ध्यान का फल है। ध र्यध्यान छहों संहननवाले जीवों के होता है, जबकि शु€लध्यान उ म संहननवाले जीवों के होता है। ध र्यध्यान शुभोपयोग अवस्था में होता है, जबकि शु ल ध्यान शुद्धोपयोग अवस्था में ही होता है।

अनगार चारित्र

प्रश्न : €या श्रुतकेवली उसी भव से मोक्ष जाते हैं ? €या वे उसी भव में मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 710)*

उ□ ार : जो द्वादशाङ्गरूप अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य इन दोनों के ज्ञाता होते हैं, वे श्रुतकेवली कहलाते हैं। इनको सामान्य से चौदहपूर्वधारी कहा जाता है। ये सभी, दिग बर भावलिङ्गी मुनिराज होते हैं और धवला पुस्तक 9/71 के अनुसार उस भव में असंयम को प्राप्त नहीं होते और कभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होते। केवली और श्रुतकेवली में अन्तर होता है। श्रुतकेवली आचार्य परमेष्ठी होते हैं और केवली अरिहन्त परमेष्ठी होते हैं। श्रुतकेवलियों को उसी भव से मोक्ष जाने का नियम नहीं है, जबकि केवली उसी भव से मोक्ष जाते हैं।

प्रश्न : अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट में □ या अन्तर है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 710-11)*

उ□ ार : द्वादशाङ्गरूप जिनवाणी अङ्गप्रविष्ट कहलाती है। अङ्गबाह्य की दो परिभाषाएँ हैं-

1. द्वादशाङ्ग के आधार से आरातीय (पर परा को प्राप्त) आचार्यों के द्वारा लिखे गये शास्त्र अङ्गबाह्य कहलाते हैं। जैसे- षट्खण्डागम, तǎवार्थसूत्र, समयसार आदि। इस परिभाषा के अनुसार वर्तमान में उपलǍध समस्त दिग बर जैन शास्त्र अङ्गबाह्य हैं।

2. द्वादशाङ्ग में प्रयुक्त शǍदों के अलावा बचे हुए शेष शǍदों के द्वारा गणधर देव ने जो सामायिक आदि चौदह प्रकीर्णकों की रचना की है, उनको अङ्गबाह्य कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार वर्तमान में न तो अङ्गप्रविष्ट उपल□ ध हैं और न अङ्गबाह्य ही उपल□ ध हैं।

प्रश्न : उपाध्याय परमेष्ठी के ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्वरूप पच्चीस मूलगुण होते हैं, तो सभी उपाध्याय परमेष्ठी □ या श्रुतकेवली होते हैं ?

उ□ ार : उपाध्याय परमेष्ठी की परिभाषा जो द्रव्यसंग्रह गाथा क्र. 53 में दी है, उसके अनुसार जो रत्नत्रय से सहित होते हैं, संघ के आचार्य ने जिनको पढ़ाने का कार्य सौंपा हुआ है, अतः निरन्तर धर्मोपदेश में लगे रहते हैं, वह यतियों में श्रेष्ठ आत्मा उपाध्याय कहलाती है। यदि वे उपाध्याय अङ्ग व पूर्वों के ज्ञाता हैं, तो यह उनकी विशेषता है। उपाध्याय तो श्रुतकेवली हो सकते हैं, परन्तु श्रुतकेवली उपाध्याय ही हों, ऐसा नियम नहीं है। वे आचार्य या साधु भी हो सकते हैं। सभी आचार्य और उपाध्यायों के, साधु परमेष्ठी के अट्ठाईस मूलगुण तो नियम से पाये ही जाते हैं, परन्तु छǍीस और पच्चीस मूलगुणों की पूर्णता आवश्यक नहीं है।

प्रश्न : €या सभी गणधर श्रुतकेवली होते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 710)*

उ□ ार : गणधर देव निर्ग्रन्थ मुनि होते हैं, चौंसठ ऋद्धियों में से केवलज्ञान ऋद्धि को छोड़कर

त्रेसठ ऋद्धियों के स्वामी होते हैं, तद्भवमोक्षगामी होते हैं, त्रेसठ ऋद्धियों के धारी होने से सभी गणधर नियम से श्रुतकेवली होते हैं। परन्तु सभी श्रुतकेवली गणधर नहीं होते।

प्रश्न : या शूद्र को मुनिदीक्षा दी जा सकती है? या शूद्र को अन्तिम समय मुनि बनाया जा सकता है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 713)*

उ र : सभी शूद्र नीचगोत्री होते हैं। उनके पंचम गुणस्थान से ऊपर जाना नहीं होता। नीचगोत्र का उदय पाँचवें गुणस्थान तक पाया जाता है, इससे ऊपर उच्चगोत्र का नियम है। अत: शूद्रों को मुनिदीक्षा नहीं हो सकती। योगसार प्राभृत के अनुसार जो जिनलिङ्ग ग्रहण में व्यावहारिक बाधक माने गये हैं, वे सल्लेखना के समय में भी बाधक ही रहते हैं, अबाधक नहीं हो जाते। इस वर्णन के अनुसार शूद्र को मरण समय भी मुनि नहीं बनाया जा सकता।

प्रश्न : गोत्र आदि की शुद्धि कर्मक्षय में कारण है या नहीं? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 713)*

उ र : दिग बर लिङ्ग धारण किये बिना समस्त कर्मों की निर्जरा नहीं हो सकती है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार ''णग्गो हि मो€खमग्गो'' अर्थात् नग्नता ही मोक्षमार्ग है। मोक्ष प्राप्ति के लिये द्रव्य, क्षेत्र आदि की शुद्धि परम आवश्यक है। जो इस प्रकार है-

1. द्रव्यशुद्धि- जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इनमें से एक वर्ण का धारी हो, निरोग हो और तप करने में समर्थ हो, अधिक वृद्ध या बाल न हो, जिसका मुखादि सुन्दर हो, अपवादरहित हो, मस्तक, अण्डकोष तथा लिङ्गकोष भङ्ग न हों, ऐसी मुनि की द्रव्यशुद्धि होती है।

2. क्षेत्रशुद्धि- लेच्छखण्ड में उत्पन्न जीवों के लेच्छखण्ड में रहते हुए क्षेत्रशुद्धि नहीं होती है अर्थात् वह आर्यखण्ड का निवासी हो, भोगभूमियाँ न भी हो।

3. कालशुद्धि- दु:खमा काल में उत्पन्न हुए जीवों के कालशुद्धि नहीं होती अर्थात् दु:खमा-सुखमा काल में उत्पन्न हो।

4. भावशुद्धि- क्षपक श्रेणी के योग्य रत्नत्रयस्वरूप शुद्धोपयोग होना भावशुद्धि है। इसके बिना कर्मक्षय स भव नहीं है।

5. पर्यायशुद्धि- नरक और तिर्यंच ये दोनों अशुभ पर्यायें हैं। देव पर्याय में संयम धारण की योग्यता नहीं है। भोगभूमियाँ जीव भी संयम धारण नहीं कर सकते। केवल वज्रर्षभनाराच संहनन होने पर ही समस्त कर्मों की क्षपणा स भव है।

प्रश्न : मुनि की जघन्य व उत्कृष्ट अवगाहना कितनी होती है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 714)*

उ र : भावलिङ्गी साधु की जघन्य अवगाहना साढ़े तीन हाथ और उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष कही गई है। ये दोनों ही अवगाहनाएँ भरत और ऐरावत क्षेत्रों में ही होती हैं, विदेह में

नहीं। योंकि धवला पुस्तक 4/45 के अनुसार समस्त विदेहों में भावलिङ्गी साधु के पाँच सौ धनुष की अवगाहना होने का नियम है। सात हाथ तक की अवगाहनावाले मुनिराजों का खड्गासन से ही मोक्ष होता है। इससे अधिक अवगाहनावालों का खड्गासन और पद्मासन दोनों से मोक्ष कहा गया है।

प्रश्न : या कोई मनुष्य परिवारीजनों की आज्ञा के बिना मुनिदीक्षा ले सकता है? उसकी मुनिदीक्षा लेने पर यदि परिवार अव्यवस्थित हो जाये, उसकी पत्नी को पेट भरने के लिये वेश्यावृत्ति करनी पड़े, तो या उसका दोष मुनिदीक्षा लेनेवाले को लगेगा या नहीं *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 715)*

उ र अनादिकाल से यह जीव कर्मबन्धन के कारण दु:खी है। उन दु:खों से छूटने के लिये मुनिदीक्षा धारण के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। अत: सामान्य नियम तो यह है कि परिवार की सहमतिपूर्वक ही मुनिदीक्षा लेनी चाहिये। परन्तु यदि परिवारीजन सहमति न दें, तो फिर आत्मकल्याण के लिये जिनदीक्षा धारण करने की आज्ञा शास्त्रों में है। जैसे कोई सैनिक आज ही शादी करके आया हो। यदि उसको आक्रमण हो जाने पर उसी दिन युद्ध में जाना पड़े और उसके पारिवारिक जन या पत्नी रोके, तो क्या वह रुक सकता है? नहीं। वे सब मोह के कारण उसको रोक रहे हैं। परन्तु उसका कर्त्तव्य है कि वह युद्ध पर जाये। इसी तरह मुनिदीक्षा भी परिवारीजनों की आज्ञा के बिना धारण की जा सकती है। जो जीव जैसे कर्म करता है, उसका फल उसको भोगना पड़ता है। अन्य जीव किसी अन्य को दु:खी नहीं करता। देखा जाता है कि कोई स्त्री तो पति के मरने पर सुखी हो जाती है। स्त्री, पुत्र आदि का जीवनयापन कठिन हो जाना, यह सब अपने कर्मोदय पर निर्भर है, न कि अन्य व्यक्ति पर। यदि कोई भयङ्कर रोग से पीड़ित हो जाये और उसके इलाज में सारा धन समाप्त हो जाये, तो उसमें वह रोगी दोषी नहीं है। उन सब जीवों के पाप का उदय होने से ऐसी परिस्थिति बनी है। पति के मरने पर माता चिरौंजाबाईजी ने तो अपना शेष जीवन धर्मात्मा बनकर गुजारा था। यदि ऐसी परिस्थिति में कोई अन्य स्त्री वेश्या बनकर पेट पालती है, तो उसमें मरनेवाले का या दीक्षा लेनेवाले का कोई दोष नहीं।

प्रश्न : क्या मुनिमुद्रा धारण करना बन्ध का कारण है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 717-18)*

उ र द्रव्यसंयम बन्ध का कारण नहीं है। बन्ध के कारण तो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग हैं। द्रव्यसंयम इनमें से किसी रूप में नहीं है। द्रव्यसंयम अर्थात् जिनमुद्रा तो भावलिङ्ग का कारण है। इसके बिना भावलिङ्ग नहीं होता। मात्र द्रव्यसंयम मोक्ष का कारण नहीं है। द्रव्यलिङ्ग होने पर ही भावलिङ्ग होता है और भावलिङ्ग मोक्ष का कारण है। द्रव्यलिङ्ग होने पर भावलिङ्ग हो या न हो, परन्तु भावलिङ्ग होगा, तो द्रव्यलिङ्ग होगा ही। इतना विशेष है कि द्रव्यलिङ्ग धारणकर यदि शिथिलाचार रूप प्रवृत्ति करता है, तो महान् पाप का कारण है।

प्रश्न : द्रव्यलिङ्गी मुनि का €या स्वरूप है ? उसके कौन-कौनसे गुणस्थान होते हैं ? €या भव्य और अभव्य दोनों मुनि बन सकते हैं या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 718)*

उ□ ार : त्रिलोकसार गाथा 545 के अनुसार द्रव्यलिङ्गी मुनि के पहले से पाँचवें तक गुणस्थान स भव हैं। भावलिङ्गी साधु उनको कहते हैं, जिनके मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्या यानावरण व प्रत्या यानावरण कषायों का अनुदय हो। यदि किन्हीं ाावलिङ्गी साधु के प्रत्या यानावरण का उदय हो जाय, तो वे द्रव्यलिङ्गी हो जाते हैं। उनका गुणस्थान पाँचवाँ हो जाता है। यदि भावलिङ्गी साधु के अप्रत्या यानावरण कषाय का उदय हो जाय, तो वे द्रव्यलिङ्गी हो जाते हैं और गुणस्थान चौथा हो जाता है। इन चौथे और पाँचवें गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिङ्गी मुनियों के स य€त्व तो है, परन्तु अप्रत्या यान और प्रत्या यानावरण कषायों के उदय होने से सकल चारित्र अर्थात् भावलिङ्ग नहीं है। प्रथम, द्वितीय व तृतीय गुणस्थानवर्ती मुनिराज स य€त्व रहित द्रव्यलिङ्गी होते हैं। भव्य जीवों के तो एक से चौदह तक गुणस्थान होते हैं और अभव्यों के मात्र पहला ही गुणस्थान होता है। भव्य और अभव्य दोनों ही मुनि बन सकते हैं।

प्रश्न : प्रथम गुणस्थानवर्ती मुनिराज को महाव्रती मानें या नहीं ? इनकी वन्दना करनी चाहिये या नहीं ?

उ□ ार : किसी भी जीव का गुणस्थान ज्ञात होना हमारे लिये स भव नहीं है। अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यादृष्टि जीव को केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है। अत: वन्दना आदि का व्यवहार द्रव्यलिङ्ग की अपेक्षा कहा गया है। अर्थात् यदि किसी मुनिराज के 28 मूलगुणों का पालन है, तो वे वन्दनीय ही हैं और यदि मुनिमुद्रा तो हो, परन्तु कूलर या पंखे में बैठते हों, मोबाइल रखते हों, लश में निबटने जाते हों आदि शिथिलाचाररूप प्रवृ□ ा हो तो कदापि वन्दनीय नहीं हैं।

प्रश्न : पहले द्रव्यलिङ्ग होता है या भावलिङ्ग ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 719)*

उ□ ार : सर्वप्रथम वस्त्रत्याग का भाव होता है। उसके बाद समस्त परिग्रहत्यागरूप द्रव्यलिङ्ग होता है और उसके बाद सप्तम गुणस्थानरूप भावलिङ्ग होता है। वस्त्रसहित होने का आत्मा पर बहुत प्रभाव पड़ता है। धवला पुस्तक 1/333 में वस्त्रादि के ग्रहण को भाव असंयम का अविनाभावी कारण लिखा है। अर्थात् यदि रंचमात्र भी परिग्रह है, तो भावसंयम नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि बाह्यधर्म कारण है और अन्तरङ्ग भाव कार्य हैं। बाह्य धर्म के बिना अर्थात् मुनि के योग्य जिनमुद्रा धारण किये बिना भावलिङ्गीपना हो ही नहीं सकता है।

प्रश्न : पंचमकाल में भावलिङ्गी साधु होते हैं या नहीं ? हमको उनका पिच्छीकमण्डलु मात्र देखकर उनकी वन्दना करनी चाहिये या उनकी परीक्षा करनी चाहिये ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 726-27)

उ□ ार : आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने मोक्षपाहुड की 'अज्जवि तिरयणसुद्धा' गाथा के द्वारा कहा है कि इस पंचमकाल में भी रत्नत्रय से सहित जीव आत्मा का ध्यान करके इन्द्र पद अथवा लौकान्तिक पद को प्राप्त कर वहाँ से चय करके मनुष्य बनकर मोक्ष जा सकते हैं। तिलोयपण्णǯी 4/1521-35 तक कहा गया है कि इस पंचमकाल के तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष रहने तक भावलिङ्गी मुनि होंगे, तदुपरान्त धर्म की व्युच्छि□ ा होगी। इसलिये वर्तमान में भावलिङ्गी साधुओं का सद्भाव मानना आगमस मत है।

मु तार साहब ने पृष्ठ 727 पर लिखा है कि देव-शास्त्र-गुरु की परीक्षा करना गृहस्थ का प्रथम कर्तव्य है। €योंकि उसको तो कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु की भक्ति से बचना है अर्थात् गृहस्थ को अपने स य€त्व की सुरक्षा के लिये रेवती रानी की तरह सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की वन्दना करनी चाहिये। वर्तमान के कुछ शिथिलाचारी साधु पंचमकाल में शारीरिक शक्ति के हीन होने के कारण अपनी असमर्थता बताते हुए कूलर, पंखा आदि का प्रयोग करने लगे हैं, परिग्रह रखते हैं, सचि□ ा फल खाते हैं। उनकी वन्दना करने से अपना स य€त्व दूषित होता है। वे कुछ भी कहें, यदि उनके 28 मूलगुणों का पालन नहीं हो रहा है, तो वे वन्दनीय नहीं हैं। विभिन्न श्रावकाचारों में श्रावक को मुनि की परीक्षा करने का विधान कहा है।

प्रश्न : ग्रैवेयक, अनुदिश व अनुǯारों के देव मिथ्यादृष्टि होते हैं या स यग्दृष्टि भी होते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 728)

उ□ ार : अनुदिश और अनुǯार के देव नियम से स यग्दृष्टि ही होते हैं। उनका स य€त्व अब कभी नहीं छूटेगा। ग्रैवेयक के देव भव्य और अभव्य दोनों होते हैं। उनके प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक पाया जाता है। ग्रैवेयक के देवों में से अधिकांश देव स यग्दृष्टि होते हैं, मिथ्यादृष्टि तो बहुत कम होते हैं।

प्रश्न : द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग कितनी बार हो सकते हैं ? भावलिङ्गी साधु मोक्ष जाने से पूर्व संसार में कितने भव ले सकता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 729-30)*

उ□ ार : इस जीव ने द्रव्यलिङ्गी मुनिपना अनन्त बार धारण किया है। इसलिये कोई जीव अनन्त बार द्रव्यलिङ्गी मुनि बन सकता है। परन्तु भावलिङ्गी मुनिपना 32 बार से अधिक धारण नहीं कर सकता। ब□ ीसवीं बार भावलिङ्गी मुनि जब बनेगा, तब उसी भव से मोक्ष प्राप्त करने का नियम है। किसी भावलिङ्गी साधु के अधिक से अधिक कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल तक भ्रमण करना

स भव है। इतने काल में वे भावलिङ्गी मुनि संसार में अनन्त भव धारण कर सकते हैं। नरक-निगोद को भी अपने परिणामों के अनुसार प्राप्त कर सकते हैं। ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज भी विशुद्धि नष्ट हो जाने पर उपर्युक्त प्रकार ही संसार में भ्रमण करते हुए अनन्त ाव धारण कर सकते हैं।

प्रश्न : पुलाक आदि पाँच प्रकार के मुनि द्रव्यलिङ्गी होते हैं या भावलिङ्गी ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 731)

उ र : राजवार्तिककार ने तŽवार्थसूत्र 9/47 की टीका में इन पाँचों प्रकार के साधुओं के लिये लिखा है कि ''जहाँ पर स य€त्वपूर्वक ही निर्ग्रन्थपना है, वहीं पर निर्ग्रन्थ मुनि का व्यवहार होता है। भेषमात्र को निर्ग्रन्थ नहीं कह सकते। अर्थात् पुलाक आदि पाँच भेद निर्ग्रन्थों के हैं और निर्ग्रन्थ शŽद भावलिङ्गी मुनियों के लिये ही प्रयोग किया जाता है। अत: ये पाँचों प्रकार के साधु भावलिङ्गी ही होते हैं।

प्रश्न : या मुनि एकलविहारी हो सकते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 733)*

उ र : मुनियों के आचारस बन्धी ग्रन्थ मूलाचार, मूलाचारप्रदीप, आचारसार आदि में कहा है कि यह पञ्चमकाल मिथ्यादृष्टि और दुष्टों से भरा हुआ है। इस काल में जो मुनि होते हैं, वे हीन संहनन को धारण करनेवाले और चंचलवृŽिावाले होते हैं। ऐसे मुनियों को दो, तीन, चार आदि की सं या के समुदाय में ही विहार करना चाहिये, निवास करना चाहिये और कायोत्सर्ग करना चाहिये। एकल विहार करनेवालों के व्रतादिक स्वप्न में भी निर्विघ्न नहीं पल सकते। उनके मन की शुद्धि भी कभी नहीं हो सकती और उनकी दीक्षा भी निष्कलङ्क नहीं रह सकती है। एकल विहारी साधुओं के यह लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। अतएव पञ्चमकाल में मुनियों को अकेले विहार कभी नहीं करना चाहिये। आर्यिकाओं के लिये तो हमेशा ही एकल विहार का निषेध है।

मूलाचार गाथा 28 की टीका में यह अवश्य कहा है कि जो साधु शारीरिक संहनन से सहित हो, गुप्तियों के पालन एवं परीषहजय में कुशल हो, दीक्षा और आगम से बलवान् हो अर्थात् जो तपोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध हो, तथा आचार पालन और सिद्धान्त के ज्ञान में चतुर हो, ऐसे साधु को उसके आचार्य एकल विहार की अनुमति दे सकते हैं। बीसवीं शताŽदी के पूर्वार्ध में चारित्रचक्रवर्ती आ. शान्तिसागर जी महाराज तथा आ. ज्ञानसागर जी महाराज ने भी एकल विहार किया था।

निष्कर्ष यह है कि दृढ़प्रतिज्ञ मुनिराज, आचार्य की आज्ञा के अनुसार कदाचित् एकल विहार कर सकते हैं, परन्तु आर्यिका का एकल विहार पूर्णतया आगमविरुद्ध है।

प्रश्न : €या पञ्चमकाल में भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में अवधिज्ञानी या ऋद्धिधारी मुनिराजों का सद्भाव है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 736)*

उ र वर्तमान में कोई भी अवधिज्ञानी या ऋद्धिधारी मुनिराज नहीं है। ऋद्धिधारी मुनिराज तो पंचमकाल के प्रार भ के 162 वर्षों तक हुये जिनमें अन्तिम सुपार्श्वचन्द्र मुनिराज थे। उनके बाद कोई मुनिराज अवधिज्ञानी आदि नहीं हुये। तिलोयपण्णत्ति 4/1529 के अनुसार प्रत्येक कल्की के समय में एक मुनिराज को अवधिज्ञान होता है।

पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज के अनुसार किसी भी शास्त्र में पञ्चमकाल में अवधिज्ञानी नहीं होंगे, ऐसा कथन नहीं पाया जाता है। अत: वर्तमान में भी किन्हीं को अवधिज्ञान का थोड़ा बहुत क्षयोपशम होना स भव है।

प्रश्न : क्या चातुर्मास स्थापना के बाद मुनिराज सीमित क्षेत्र से बाहर जा सकते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 738)

उ र : सिद्धान्तसार संग्रह ग्रन्थ के अनुसार वर्षाकाल में संघ के कार्य के लिये यदि मुनि 12 योजन अर्थात् 48 कोश तक कहीं भी जाते हैं, तो उसका प्रायश्चित नहीं है। यदि वाद-विवाद से महासंघ के नाश होने का प्रसङ्ग हो, तो वर्षाकाल में भी देशांतर जाना दोषयुक्त नहीं है।

मुनिराज जब चातुर्मास स्थापना करते हैं, तब क्षेत्र की सीमा तय कर लेते हैं और उससे बाहर नहीं जाते। परन्तु सल्लेखना आदि के प्रसङ्ग उपस्थित होने पर कदाचित् बाहर भी जा सकते हैं।

प्रश्न : जैन शास्त्रों के अनुसार केशलोंच के अधिकारी कौन होते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 738)

उ र : केशलोंच करने के अधिकारी 11 प्रतिमाधारी श्रावक अर्थात् ऐलक व क्षुल्लक, आर्यिका तथा मुनिराज हैं। जो ब्रह्मचारी भाई आगे मुनि बनने की भावना रखते हैं, वे भी आचार्य की आज्ञापूर्वक केशलोंच कर सकते हैं। आचार्य की आज्ञानुसार ब्रह्मचारिणी बहिनें भी केशलोंच की अधिकारी होती हैं।

प्रश्न : क्या मुनि या आचार्य अपने साथ में मोटर रखने की प्रेरणा दातारों से कर सकते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 739)

उ र : मुनि या आचार्य के समस्त परिग्रह का त्याग होता है। वे किसी से भी किसी प्रकार की याचना नहीं करते। जो ऐसा करते हैं, वे वास्तव में जैन मुनि नहीं हैं। मुनि की बात जाने दें, यदि कोई क्षुल्लक भी चन्दा करता है, पुस्तकें बेचता है, प्रेस लगाता है, मकान खरीदता है और मर मत कराता है, तो यह सब अनुचित है, क्योंकि यह सब आर भ है और आर भ में षट्काय के जीवों की हिंसा होती है। आर्यिकाओं के लिये भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये।

प्रश्न : मुनि को भोजन में बीज निकलने पर अन्तराय होता है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 739)

उ र : मूलाचार गाथा 65 की टीका में कहा है कि बीज आदि को यदि आहार से अलग करना संभव न हो, तो आहार का त्याग कर देना चाहिये। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मुनि के भोजन में बीज आ जाये और उसका अलग करना अश य हो, तो अन्तराय है। मुख में बीज आ जाने पर तो अन्तराय है ही, हाथ में बीज आ जाये, तो उसको निकाल सकते हैं और फिर अन्तराय नहीं होता। इसी प्रकार भोजन में बाल आ जाये, तो अन्तराय होता है। यदि हाथ के ऊपर भोजन से अलग बाल आ गया हो, तो उसको हटा देना चाहिये और तब अन्तराय भी नहीं होता है। दिये जानेवाले आहार में भी यदि कोई अशुद्धि है, तो उसको हटा देना चाहिये।

प्रश्न : यदि कोई मुनिराज अंधे हो गये हों, आँख से दिखाई न दे रहा हो, तो उनको या करना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 739)*

उ र : मुनिदीक्षा ग्रहण करते समय जिन व्रत, नियम व मूलगुणों को धारण किया था। उनका जीवनपर्यन्त निर्वाह करना आवश्यक है। संयमरूपी रतन खोकर जीना निरर्थक है। उन मुनिराज के लिये दो ही मार्ग हैं– 1. वे संयमसहित मरण करें अर्थात् सल्लेखना ले लें अथवा 2. मुनिधर्म को छोड़ दें। इन दोनों में सल्लेखना ग्रहण करना उǯाम मार्ग है। अंधे होकर मुनिवेश को न छोड़कर मुनिचर्या करना अधोगति का कारण है। इससे उन मुनि का भी अकल्याण होगा और अधर्म की परिपाटी का कारण होने से अन्य जीवों का भी अकल्याण होगा। जैनधर्म की अप्रभावना होगी।

प्रश्न : यदि कोई मुनि श्वासोच्छ्वास निरोध करके अपघात कर लेते हैं, तो उनका मरण पण्डितमरण अर्थात् सल्लेखनारूप माना जायेगा या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 740)*

उ र : संयम के विनाश के भय से श्वासोच्छ्वास का निरोध करके मरे हुये साधु के मरण को सल्लेखना मरण नहीं कहा जायेगा। यदि किन्हीं कारणों से साधु खड़े होकर पाणिपात्र में शोधकर भोजन नहीं कर सकें, तो वे संयम की रक्षार्थ भोजन का त्याग कर देते हैं। भोजन भोग है, भोग के त्याग के निमिǯा मुनि यथाशक्ति भोजन का त्याग करते रहते हैं, किन्तु श्वासोच्छ्वास भोग नहीं है, अत: मुनि उसका त्याग नहीं करते। उपवास आदि में भोजन का त्याग तो होता है, किन्तु श्वासोच्छ्वास का त्याग नहीं है। सल्लेखना में शरीर और कषायों को कृश किया जाता है, किन्तु श्वासोच्छ्वास निरोध से शरीर कृश नहीं होता है। इसलिये धवला पु. 1/25 पर कहा है कि संयम के विनाश के भय से श्वासोच्छ्वास का निरोध करके मरे हुये साधु के शरीर को सल्लेखना में गर्भित नहीं किया जाता, योंकि इस प्रकार से मृत शरीर को मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता है।

प्रश्न : या रोगी अवस्था में मुनिदीक्षा ली जा सकती है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 742)*

उ र : जिस समय आचार्य किसी मनुष्य को मुनिदीक्षा देते हैं, उस समय उसके शरीर की अच्छी प्रकार जानकारी लेते हैं। यदि शरीर में कहीं सफेद दाग भी हो, तो भी दीक्षा नहीं दी जा सकती, परन्तु मरणान्त उपस्थित होने पर सल्लेखना के समय रोगी अवस्था में भी दीक्षा ली जा सकती है। मुनिदीक्षा के समय केशलोंच आदि सब क्रिया आगम के अनुसार होनी चाहिये।

प्रश्न : यदि किन्हीं मुनिराज के ऊपर गर्मी में कोई पंखा चला दे या सर्दी में हीटर लगा दे, तो मुनिराज को या करना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 743)*

उ र : गर्मी के समय यदि कोई अन्य व्यक्ति पंखे से हवा करता है, बिजली का पंखा, कूलर आदि चलाता है अथवा प्राकृतिकरूप से ठण्डी वायु चलने लगती है और यदि मुनिराज उसमें रति करते हैं, तो उनको दोष है। उसी प्रकार सर्दी में कोई अंगीठी या हीटर लगा दे, या हेलोजन के बल्ब लगा दे अथवा तेज धूप निकल आये और यदि मुनिराज उसमें रति करते हैं, तो उनको दोष है। मुनिराज को चाहिये कि वे पंखा आदि चलाने पर श्रावक को मना कर दें, हीटर आदि लगाने पर समझा दें, ताकि उनको तत्स बन्धी राग हो जाने का दोष न लगे। यदि कोई मुनिराज पंखे या कूलर में बैठे हैं और किसी के पूछने पर कहते हैं कि हमने थोड़े ही चलाया है, तो इसका मतलब यह है कि उनके द्वारा उस गलत कार्य की अनुमोदना है। अत: उसका पाप उनको लगेगा।

प्रश्न : सर्वार्थसिद्धि 9/47 की टीका में पुलाक मुनि के रात्रिभोजनत्याग व्रत में विराधना होना लिखा है। यह कैसे स भव है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 743)*

उ र : रात्रिभोजन से श्रावक या छात्र आदि का उपकार होगा, ऐसा विचार कर पुलाक मुनि विद्यार्थी आदि को रात्रि में भोजन कराकर रात्रिभोजनत्याग व्रत का विराधक होता है। विद्यार्थी को रात्रि में औषधि आदि के सेवन कराने से यदि यह जीवित रह गया, तो धर्म का प्रचार और प्रभावना करेगा, इस दृष्टि से रात्रिभोजन की अनुमोदना करनेवाला होता है। मुनिराज को चाहिये कि सायंकाल इतनी देर तक कक्षा या प्रवचन न लें, जो श्रावकों को शास्त्रानुसार दिन में भोजन करने का समय न बचे। विहार के समय भी कदाचित् ऐसे दोष लग जाया करते हैं। आचार्य शान्तिसागर महाराज जी ने इस दोष से बचने के लिये आहार का त्याग कर दिया था। सायंकाल मुनिराज को सूर्यास्त के तीन घड़ी पूर्व आहार समाप्त कर देना चाहिये, ताकि उनके आहार के उपरान्त सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व ही श्रावक आहार कर सकें।

प्रश्न : या साधु चेतन या अचेतन सवारी का उपयोग कर सकता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 744)

उ ार मूलाचार प्रदीप के दूसरे अधिकार के श्लोक नं. 15 में ईर्यासमिति के प्रकरण में लिखा है कि दया धारण करनेवाले बुद्धिमानों को लकड़ी, पाषाण आदि को चलाचल जान लेने पर उनमें पैर रखकर गमन नहीं करना चाहिये। किसी भी प्रकार की सवारी में चलने से ईर्यासमिति का पालन नहीं हो सकता तथा अहिंसा महाव्रत में दोष लगता है अथवा नष्ट हो जाता है। यदि कोई आर्यिका या मुनि डोली में विहार करते हैं, तो उनकी ईर्यासमिति नष्ट होती है। यदि बीमारी आदि की दशा में कोई तात्कालिक व्यवस्था की जाती है, तो वह अपवाद मार्ग है।

प्रश्न : मुनिराज रात्रि में स्त्री-पुरुषों से बात करते हैं या नहीं ? €या मुनियों को रात्रि में बोलने की अनुमति है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 746)*

उ ार रात्रि में मुनि महाराज मौन से रहते हैं। फिर ी रात्रि में धर्मकार्य वश कुछ संकेत कर दें, तो वह अपवाद है। रात्रि में मौन रखना मुनियों के 28 मूलगुणों में नहीं आता है, फिर भी उनको नहीं बोलना चाहिये। विशेष धार्मिक अवसरों के लिये मुनिराज रात्रि में किंचित् बोलते हैं। समाधिमरण आदि के अवसर पर स बोधन के लिये मुनिराज रात्रि में भी बोलते हैं। (मु तार साहब)

इस प्रश्न के उ ार में जब पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज से पूछा गया, तो उन्होंने उǯार दिया कि मुनि को दिन में भी बोलने की आज्ञा कहाँ है ? रात्रि की बात तो बहुत दूर है, उनको तो वचनगुप्ति का पालन कहा गया है।

प्रश्न : या श्रावक वैय्यावृ ा के निमि ा मुनिराज की तेलमालिश कर सकता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 746)*

उ ार मुनि महाराज किसी भी तेल की मालिश नहीं कराते हैं, किन्तु औषधिरूप से श्रावक तेलमालिश द्वारा उनकी चिकित्सा या वैय्यावृǯा कर सकता है। उनको बुखार आदि आने पर विभिन्न प्रकार की पानी या मिट्टी आदि की पट्टी द्वारा श्रावक उनकी वैय्यावृ ा कर सकता है, परन्तु मुनि को उसकी आकांक्षा नहीं करना चाहिये। मूलाचार जी में मुनियों के द्वारा वैय्यावृ ा के रूप में आचार्य की मालिश आदि करने का विधान कहा गया है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस वस्तु का प्रयोग किया जा रहा है, वह अशुद्ध न हो।

प्रश्न : जिस जीव ने गृहस्थावस्था में जो दिग्व्रत आदि नियम लिये हैं, वह मुनि बनने के बाद उनका पालन करते हैं या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 747)*

उ ार दीक्षा संस्कार होने पर मुनि द्विजन्मा हो जाता है, उसका पूर्वजन्म समाप्त हो जाता है। मुनि होने के पश्चात् वह श्रावक अवस्था में छोड़े हुये खाद्य पदार्थों को ले सकता है, किन्तु श्रेष्ठ यही है कि वह मुनि होने के बाद उन खाद्य पदार्थों को न ले। दिग्व्रत आदि की मर्यादायें, आर भ घटाने के

लिये की गई थीं, अब स पूर्ण आर भ का त्याग हो गया है, अत: उन मर्यादाओं का पालन आवश्यक नहीं है। सचिǯा त्याग आदि तो मुनि अवस्था में रहते ही हैं। इस प्रकार मुनि के लिये श्रावक अवस्था में गृहीत नियमों का पालन आवश्यक नहीं है।

प्रश्न : मुनि को प्रकृति के अनुकूल भोजन करना चाहिये और चबा-चबाकर खाना चाहिये या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 747)*

उ□ ार ज्ञो भोजन स्वास्थ्य को हानिकर है, वह अनिष्ट है। अनिष्ट को अभक्ष्य के पाँच भेदों में गिनाया गया है, इसलिये जो अपनी प्रकृति के अनुकूल भोजन न हो, उसको त्याग देना चाहिये। मुनि को भोजन दाँतों से चबाकर ही करना चाहिये, □ योंकि चबाकर किये हुये भोजन का पाचन ठीक होता है। अन्यथा वह स्वास्थ्य को हानिकारक होता है। मुनि का एक मूलगुण इन्द्रिय विजय भी है, अत: भोजन के रस में रुचि या अरुचि नहीं होनी चाहिये। संयम की साधना एवं तप में जो सहायक हो, ऐसा भोजन लेना योग्य है। भोजन लेने में अधिक से अधिक तीन मुहूर्त का समय भी मुनि को लग सकता है, यह कथन आगमस मत है।

प्रश्न : □ या मुनि महाराज 8-10 घंटे तक निद्रा ले सकते हैं ?*(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 748)*

उ□ ार क्रोई भी जीव अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा न तो सो सकता है और न ही जाग सकता है। ऐसा कर्म सिद्धान्त का नियम है। वैसे मुनिराज अपनी थकावट दूर करने के लिए कई घंटे तक विश्राम कर सकते हैं, परन्तु उनको आहार लेने के बाद नहीं सोना चाहिये। मुनिराज अस्वस्थ अवस्था के अलावा कभी भी दिन में विश्राम नहीं करते हैं। वे अपना सारा समय ज्ञान ध्यान और तप में लगाते हैं।

प्रश्न : आहार-विहार के समय छठा गुणस्थान ही रहता है या सप्तम भी हो जाता है ?
(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 749)

उ□ ार मु तार साहब ने सप्तम गुणस्थान का काल एक सैकण्ड से भी कम लिखा है। छठे गुणस्थान का काल इससे दुगुना होता है। यदि आहार-विहार करते समय सप्तम गुणस्थान न माना जायेगा, तो छठे गुणस्थान के काल के बाद फिर मुनिराज नीचे के गुणस्थानों में आ जायेंगे। मुनिराज जब आहार के लिये हाथ बढ़ाते हैं, उस समय उनके छठा गुणस्थान होता है और जब उसका शोधन करते हैं, तब सप्तम गुणस्थान होता है। जब ग्रास मुख में लेते हैं, तब छठा गुणस्थान होता है और जब स्वाद न लेते हुये खाते हैं, तब सप्तम गुणस्थान होता है। जब चार हाथ जमीन देखते हैं, तब प्रवृǴारूप कार्य न होने से सप्तम गुणस्थान होता है और जब गमन करते हैं, तब प्रवृǴा होने से छठा गुणस्थान होता है।

आचार्यों ने परिहारविशुद्धि चारित्र को छठे और सातवें गुणस्थान में कहा है। यह चारित्र गमनागमन आदि क्रियाओं में प्रवृ□ ा करनेवाले मुनिराज के ही होता है। इससे सिद्ध है कि विहार करते हुए भी सप्तम गुणस्थान होता है। पाँचवें से सातवें गुणस्थान तक प्रवृfिा और निवृfिा दोनों होती हैं। पंच पापों से बुद्धिपूर्वक निवृžा होने के कारण ही प्रवृfिासहित होने पर भी पाँचवें, छठे, सातवें गुणस्थानों में प्रतिसमय गुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है।

प्रश्न : जो मुनिराज 12 वर्ष की भक्तप्रत्या यान सल्लेखना लेते हैं, उनके 12 वर्ष पूरे हो जाएँ और शरीर की स्थिति रहे, तो □ या करना योग्य है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 751)*

उ□ ार : सल्लेखना देनेवाले आचार्य विशेष ज्ञानी होते हैं। वे जब विभिन्न निमि□ ों से 12 वर्ष की सल्लेखना लेनेवाले जीव की आयु 12 वर्ष से कम शेष है, तब उसको 12 वर्ष की सल्लेखना देते हैं।

भक्तप्रत्या यान सल्लेखना का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल 12 वर्ष कहा गया है। गृहस्थ को सल्लेखना की भावना तो मरण से पूर्व निरन्तर रहती है, किन्तु सल्लेखना मरण समय ही धारण की जाती है। अत: श्रावक, मरण समय राग-द्वेष के त्याग के लिये समस्त परिग्रह का त्याग कर नग्न साधु हो सकता है, इसमें कुछ बाधा नहीं है। जिन मनुष्यों के अण्डकोश या लिङ्ग विकारी हैं, वे मुनि बनकर समाधिमरण के योग्य नहीं होते हैं। जिनको नग्न होने में लज्जा आती है, उनको भी कोपीन (लंगोट) ग्रहण करके साधुपद की भावना करनी चाहिये।

प्रश्न : दन्तमंजन न करने पर मुनि के दाँतों में जीवोत्पfिा होती होगी, तो मुनि को उनकी हिंसा का दोष तो लगना ही चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 753)*

उ□ ार : मुनिराज भोजन के पश्चात् कुल्ले के द्वारा दाँत व मुख की शुद्धि कर लेते हैं। उनका भोजन साfिवक होता है और एक बार ही आहार लेते हैं, अत: उनके दाँतों में जीवोत्पfिा नहीं होती।

पं0 मु तार साहब जब आगरा पधारे थे, तब मैंने स्वयं उनसे यह प्रश्न किया था। तब उन्होंने कहा था कि मैं पिछले दस-पन्द्रह वर्ष से एक बार भोजन करता हूँ। मेरा पेट कभी खराब नहीं होता। इसलिये मेरे दाँतों में मंजन न करने पर भी कभी बदबू या गंदगी नहीं होती है। इसी तरह मुनियों के दाँतों में भी जीवोत्पfिा का प्रसङ्ग नहीं रहता है।

प्रश्न : मुनि केशलोंच करते समय राख का प्रयोग करते हैं। यह राख मुनिराज के लिये तैयार की जाती है, तो इसमें उद्दिष्ट का दोष लगता है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 753)*

उ□ ार : उद्दिष्ट का दोष आहार और वसतिका स बन्धी होता है। अपने लिये बनाया गया आहार या अपने लिये बनाया गया ठहरने का स्थान मुनिराज स्वीकार नहीं करते हैं।

हाथ की चिकनाई दूर करने के लिये केशलोंच करते समय राख का प्रयोग किया जाता है। यह राख जंगल आदि में या गृहस्थों के घर में (गाँव में) आसानी से उपल ध होती है। यदि श्रावक भी देता है, तो उद्दिष्ट का दोष नहीं लगता, €योंकि इसका स बन्ध आहार से नहीं है।

प्रश्न : समाधिमरण के अवसर पर या अन्य समय अचानक मरण जैसा अवसर उपस्थित हो जाये, तो नियमों में दोष लगा दें और बाद में उसका प्रायश्चित ले लें, तो उचित है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 754)

उ र व्रत का भंग करना किसी भी अवस्था में उपादेय नहीं है। अपवाद का कोई नियम नहीं होता है। समाधिमरण के समय निर्यापकाचार्य जो कुछ भी उचित समझते हैं, वह क्षपक के परिणामों को सुधारने के लिये परिस्थिति अनुसार करते हैं। जीवन रक्षा के लिये व्रत भंग करना महान् पाप है। समाधिमरण की विशेष जानकारी के लिये भगवती आराधना ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिये।

प्रश्न : सोनगढ़ से प्रकाशित द्रव्यसंग्रह पृ. 38 पर प्रमǎासंयत की व्या या करते हुये अहिंसादि शुभोपयोगरूप महाव्रतों को प्रमाद कहा है। या यह ठीक है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 754)*

उ र धवला पु. 7/11 में 4 संज्वलन और 9 नोकषाय इन तेरह के तीव्र उदय को प्रमाद कहा है। महाव्रत प्रमाद नहीं हैं, योंकि वह कषाय के तीव्र उदयरूप नहीं हैं, किन्तु कषाय की निवृ रूप हैं। प्रमाद के पन्द्रह भेदों में महाव्रत का नाम भी नहीं है। प्रमाद बन्ध का कारण है (तǎवार्थसूत्र 8/1), जबकि महाव्रत संवर, निर्जरा व मोक्ष के कारण हैं।

महाव्रती के जो शेष कषाय रह जाती हैं, उनके कारण होनेवाली प्रवृǐा बंध में कारण है, जबकि महाव्रत तो अनन्तानुबन्धी, अप्रत्या यानावरण और प्रत्या यानावरण इन 12 कषायों के अनुदय से होनेवाले परिणाम हैं। अत: महाव्रत को प्रमाद कहना आगमविरुद्ध है।

प्रश्न : उपवास, चार भुक्ति, षष्टम भुक्ति का या अर्थ है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 756)*

उ र चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है। उपवासवाले दिन एक बार जल ले लेना अनुपवास है। दिन में मात्र एक बार भोजन करना एकभुक्ति है। प्रोषधोपवास के लिये सप्तमी का एकाशन, अष्टमी के दिन उपवास और नवमी के दिन एकाशन करना चार भुक्ति कहलाता है। इसका कारण यह है कि कर्मभूमिज मनुष्य एक दिन में दो बार भोजन करता है, प्रोषधोपवास में उसने चार भोजन का त्याग किया, इसलिये उसे चार भुक्ति कहते हैं। बेला का उपवास करें और धारणा और पारणा के दिन एकाशन करें तो षष्टम्भुक्ति कहलाती है। इसमें छ: भोजन छोड़े गये। तीन दिन का उपवास अर्थात् तेला करे और धारणा और पारणा के दिन एकाशन करे, तो आठ भोजन छोड़ने से

अष्टमभुक्ति कहलाती है। इसी तरह अन्य भी लगा लेना चाहिये।

प्रश्न : उग्र तप, महातप आदि ऋद्धिधारी मुनियों का शरीर बिना आहार के कैसे टिक जाता है ?
(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 756)

उ□ ार : उग्र तप और महातप ऋद्धि के धारी मुनिराज या अरिहंत परमेष्ठी कवलाहार तो नहीं करते हैं, परन्तु प्रतिसमय शरीर की स्थिति बनाये रखने में समर्थ समयप्रबद्ध प्रमाण नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण करते रहते हैं। इसीलिये उनको आहारक तो कहा जाता है, पर कवलाहारी नहीं। ऐसे महाराजों का शरीर आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक कोटिपूर्व तक बिना कवलाहार के पुष्ट बना रहता है।

वैज्ञानिक तथ्य यह है कि केवली के शरीर में अन्य जीवराशि न होने के कारण, उनके द्वारा शरीर का कुछ भी भक्षण करने से होनेवाली गिरावट, नहीं हो पाती है, अत: उन्हें क्षतिपूर्ति के लिये कवलाहार नहीं करना पड़ता है। यह क्षतिपूर्ति ऋद्धिधारी मुनिराज अपने तप या ऋद्धि के द्वारा कर लेते हैं। श्री धवलाकार ने गणधरों को ''सर्वकाल उपवासी'' विशेषण से विभूषित किया है अर्थात् वे तप ऋद्धियों से विभूषित होने के कारण कभी आहार नहीं करते हैं।

प्रश्न : सत्य महाव्रत, भाषा समिति और वचनगुप्ति ये तीनों एक-से प्रतीत होते हैं, इनमें क्या अन्तर है ?
(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 759)

उ□ ार : 1. सत्य महाव्रत का अर्थ है कि झूठ वचन बोलने का त्याग करना अर्थात् मुनिराज सत्य महाव्रतधारी होने से झूठ वचन तथा अकल्याणकारी वचन नहीं बोलते हैं।

2. भाषा समिति का अर्थ है कि जब भी बोलें, तो किस प्रकार बोलें अर्थात् मुनिवचन हितकारी होते हैं, थोड़े होते हैं और प्रिय लगनेवाले होते हैं। किन्तु ज्ञान और चारित्र आदि के शिक्षणकाल में प्रचुर वचनों का भी प्रयोग कर सकते हैं।

3. वचनगुप्ति में वचनयोग का रोकना है, जिसमें अशुभवचनों की पूर्ण गुप्ति होती है और शुभवचनों का भी निग्रह रहता है अर्थात् आवश्यकता रहने पर ही बोलते हैं।

यही इन तीनों में अंतर है।

प्रश्न : संवररूपी गुप्ति किस गुणस्थान से प्रार भ होती है और कहाँ पर पूर्णता को प्राप्त कही गई है?
(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 758)

उ□ ार : मुनिराज के पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति इस प्रकार तेरह प्रकार का चारित्र कहा गया है। ये गुप्तियाँ संवररूप होती हैं, अत: छठे गुणस्थान से इनका प्रार भ हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान तक प्रवृ□ा होने से गुप्तियाँ पाई जाती हैं, क्योंकि यहाँ तक केवली भगवान् के श्वासोच्छ्वास,

विहार, उठना या बैठना आदि क्रियाएँ रहती हैं। चौदहवें गुणस्थान में योगों का सर्वथा अभाव है, जिस कारण पूर्ण संवर हो जाता है, अत: पूर्ण गुप्ति चौदहवें गुणस्थान में होती है।

प्रश्न : मुनिराज के परिग्रहत्याग महाव्रत में स पूर्ण परिग्रहों का त्याग हो गया। फिर नग्नत्व मूलगुण कहने की €या आवश्यकता रही ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 760)*

उ ार ग्रपरिग्रहत्याग महाव्रत के अन्दर नग्नत्व गर्भित है, किन्तु नग्नत्व को पृथक् मूलगुण कहने का अभिप्राय लज्जा को जीतना है। यदि कोई मुनिराज खड़े होते समय या चलते समय अपने अंग छिपाने के लिये पिच्छी आगे कर लेते हैं, तो लज्जा का अनुभव करने के कारण उनके नग्नत्व मूलगुण में दूषण आ जाता है। इसलिये अपने नगर में, अपने घर के आगे से गुजरते समय या कदाचित् अपने परिवार में आहार करते समय भी लज्जा का न होना नग्नत्व मूलगुण है।

प्रश्न : आर्यिकाओं का कौनसा गुणस्थान होता है ? €या वे संयमी होती हैं ? वे कौनसे पात्र में आती हैं ? उनकी नवधा भक्ति होनी चाहिये या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 763)*

उ ार इस प्रश्न के उ ार में दो मत हैं, जो इस प्रकार हैं–

1.पं0 मु तार साहब के अनुसार मूलाचार आदि ग्रन्थों में जो आचार मुनियों के लिये कहा गया है, वही आचार और समाचार आर्यिकाओं के लिये भी कहा गया है। मूलाचार गाथा 189 में आर्यिकाओं को तप विनय और संयम से युक्त कहा है। गाथा 191 में उनको संयमी कहा है। गाथा 196 में जगत्पूज्य कहा है। श्रावकाचारों में आर्यिकाओं के आचार का कथन नहीं है, परन्तु जहाँ पर मुनियों के चारित्र का कथन है, वहीं आर्यिकाओं के चारित्र का कथन है। संघ के 4 भेद कहे गये हैं– मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। इनमें आर्यिका को श्राविका से पृथक् कहा गया है। आर्यिका को 11 अंग तक का ज्ञान हो सकता है, जबकि क्षुल्लक, ऐलक को एक भी अंग का ज्ञान स भव नहीं है। आर्यिकाएँ उपचार से महाव्रती हैं, दीक्षा दे सकती हैं, अत: इनकी गणना उžाम पात्र में होनी चाहिये और इनकी नवधाभक्ति होनी चाहिये। जिस प्रकार पुरुषों में उत्कृष्ट व्रत मुनि के हैं, उसी प्रकार स्त्रियों में उत्कृष्ट व्रत आर्यिका के हैं। आगम में स्त्रियों के लिये नग्नता की आज्ञा नहीं है, इसलिये आर्यिका को साड़ी धारण करनी पड़ती है। क्षुल्लक और ऐलकों के उपचार से भी महाव्रत नहीं हैं, अत: उनको आर्यिका के लिये वन्दामि कहना चाहिये।

2. दूसरे मत के अनुसार आर्यिकाओं का पाँचवां गुणस्थान होता है। वे संयमासंयमी हैं, संयमी नहीं। वे देशचारित्री हैं, सकलचारित्री नहीं। स्वयं मु तार साहब ने मु तार ग्रन्थ भाग 1 पृ. 77 पर कहा है कि सर्वार्थसिद्धि 1/8 के अनुसार संयम मार्गणा के अनुवाद से प्रमžासंयत से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक संयत जीव होते हैं।

तžवार्थसूत्र के अनुसार चारित्र के तीन भेद हैं- औपशमिक चारित्र, जो आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। दूसरा क्षायिक चारित्र जो आठ, नौ, दस तथा बारहवें और उससे ऊपर के गुणस्थानों में होता है। तीसरा क्षायोपशमिक चारित्र जो छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज के होता है। इस प्रकार आर्यिकाओं के कोई चारित्र नहीं होता, उनके संयमासंयम नाम क्षायोपशमिक भाव होता है।

सर्वार्थसिद्धि 9/1 की टीका में असंयम तीन प्रकार का कहा गया है। पहला अनन्तानुबन्धी के उदय से होनेवाला, दूसरा अप्रत्या यानावरण के उदय से होनेवाला और तीसरा प्रत्या यानावरण के उदय से होनेवाला। आर्यिकाओं के प्रत्या यानावरण कषाय के उदय होने से संयम नहीं बनता।

उपचार की परिभाषा यह है कि जो हो तो नहीं, पर कहा जाये। इस परिभाषा के अनुसार उनके महाव्रत नहीं होते हैं, किन्तु कहे जाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार तो आर्यिकाओं के प्रव्रज्या (दीक्षा) भी नहीं होती है।

श्री धवलाकार के अनुसार यदि रंचमात्र भी वस्त्र है, तो चरित्र न होने से मोक्षमार्ग नहीं है।

किन्हीं विद्वान् ने तो अपनी हठधर्मिता के कारण ''णमो लोए सव्वसाहूणं'' में आर्यिका को गर्भित किया है, जो बिल्कुल गलत है। वे किसी भी अपेक्षा से साधु की कोटि में नहीं आती।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि ''णग्गो हि मो€खमग्गो'' अर्थात् नग्नता ही मोक्षमार्ग है। अत: आर्यिकाओं को मोक्षमार्गी कैसे कहा जाये ?

पूजा के योग्य नवदेवताओं में आर्यिकाएँ नहीं आती, अत: उनकी पूजा करना आगमस मत नहीं है।

स पूर्ण प्रथमानुयोग में एक भी प्रमाण ऐसा नहीं मिलता है, जिसमें आर्यिकाओं की प्रदक्षिणा, पादप्रक्षालन और पूजा की गई हो।

निष्कर्ष- यह बात सत्य है कि स्त्रियों में उत्कृष्ट व्रत आर्यिकाओं के होते हैं। वे पूज्य हैं, ऐलक के द्वारा वन्दामि करने के योग्य हैं, [] योंकि ऐलक तो मुनि बन सकते हैं, परन्तु नहीं बन रहे हैं। जबकि आर्यिकाएँ दिग बरत्व धारण करना तो चाहती हैं, परन्तु शारीरिक मजबूरी है। मुनि के बाद विशुद्धि में आर्यिकाओं का क्रम है, ऐलकों का नहीं। आर्यिकाओं के, ऐलकों से प्रतिसमय होनेवाली निर्जरा भी अधिक होती है। (मात्र मुनिदीक्षा लेने के पूर्व के काल को छोड़कर)। वे उपचार से महाव्रतों का पालन करती हैं, अत: श्रेष्ठ हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं के परिप्रेक्ष्य में आर्यिकाएँ मध्यम पात्र में आती हैं, अत: उनकी नवधाभक्ति में से पादप्रक्षालन और पूजन ये दो भक्ति छोड़कर सात भक्तियाँ करनी चाहिये। उनको वन्दना करते समय वन्दामि कहना चाहिये। जब कोई माताजी अपने शहर में प्रवेश कर रही हों, तब भी मार्ग पर उनके पाद प्रक्षालन एवं आरती उतारना आगमस मत नहीं है। क्षुल्लक और ऐलकों का भी पाद प्रक्षालन, अर्घ्य चढ़ाना तथा आरती उतारना आगमस मत कार्य नहीं है।

प्रश्न : प्रवचनसार गाथा 7 में कहा है- ''चारित्तं खलु ध मो''। तो €या चारित्र ही धर्म है ? स्पष्ट करें। *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 765)*

उ र ग्रहाँ आचार्य कुन्दकुन्द का वास्तव में यही अभिप्राय रहा है कि स यक्चारित्र ही वास्तव में धर्म है। चारित्र के द्वारा ही धर्म की प्रभावना होती है, जबकि वर्तमान के कुछ विद्वानों ने द्रव्यानुयोग पर जोर देते हुए चरणानुयोग का उपदेश बन्द कर दिया है। उनके ऐकान्तिक उपदेश, कि शारीरिक क्रिया का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इसके द्वारा भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक समाप्त होता जा रहा है, जिसके कारण जैन समाज और जैनधर्म की अप्रभावना हो रही है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक नं. 74 के द्वारा आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने स्पष्ट कहा है कि अष्टमूलगुण धारण करने पर ही जैनधर्म के उपदेश की पात्रता बनती है। मद्य, मांस आदि का सेवन करने वाले के स य€त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'दंसण मूलो ध मो' अर्थात् स यग्दर्शन को धर्म की जड़ कहा है और 'चारित्तं खलु ध मो' अर्थात् स य€चारित्र को वास्तव में धर्म कहा है अर्थात् स यग्दर्शन धर्म की जड़ है और मोक्षरूपी फल स य€चारित्ररूपी धर्मवृक्ष पर लगता है।

संयमभाव से रहित ज्ञान और श्रद्धान कार्यकारी नहीं होते, रत्नत्रयरूप एकता ही मोक्षमार्ग है। चारित्र के बिना स यग्दर्शन और स यग्ज्ञान मोक्षमार्ग नहीं कहलाते। अत: वास्तव में स य€चारित्र ही धर्म है।

प्रश्न : रत्नत्रय की पूर्णता कब होती है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 768)*

उ र स यग्दर्शन का घातक दर्शनमोहनीय कर्म है। पूर्ण स यग्ज्ञान (केवलज्ञान) का घातक ज्ञानावरण कर्म है और स य€चारित्र का घातक चारित्रमोहनीय कर्म है। इन तीनों कर्मों का नाश होने पर अर्थात् 13वें गुणस्थान के प्रथम समय में रत्नत्रय की पूर्णता हो जाती है।

श्रेणी में बुद्धिपूर्वक रागद्वेष का अभाव होता है और यथा यात चारित्र में रागद्वेष का अबुद्धिपूर्वक भी अभाव हो जाता है। रागद्वेष ही संसार का कारण है, अत: चारित्रमोहनीय कर्म का अभाव होने से अथवा क्षय होने से आत्मा के अत्यन्त निर्विकार परिणामरूप यथा यात चारित्र ही सर्वोत्कृष्ट चारित्र है। यहाँ यदि यह प्रश्न किया जाये कि रत्नत्रय की पूर्णता होने पर भी मोक्ष €यों नहीं हुआ ? तो इसका उत्तर यह है कि रत्नत्रय पूर्ण होने पर भी जितनी आयु शेष है, उतने काल तक इस जीव को अरहन्त अवस्था में रहना ही पड़ता है। शेष आयुकर्म का क्रम से नाश होने पर और अन्य अघातिया कर्मों का भी साथ ही नाश होने पर जीव को द्रव्यमोक्ष हो जाता है। इस अपेक्षा अर्थात् बाधक कारण के अभाव की अपेक्षा से रत्नत्रय की पूर्णता 14वें गुणस्थान के अन्तिम समय में होती है, €योंकि उसके अगले समय में द्रव्यमोक्ष हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि 13वें गुणस्थान में योगत्रय का व्यापार चारित्र में मल उत्पन्न करता है। अयोगकेवली के भी अन्तिम समय के अलावा अन्य समयों में अघातिया कर्मों का

तीव्र उदय चारित्र में मल उत्पन्न करता है, अत: बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 13 की टीका के अनुसार चरम समयवर्ती अयोगकेवली के अघातिया कर्मों का मन्द उदय होने से चारित्र पूर्ण निर्दोष हो जाता है और द्रव्यमोक्ष हो जाता है।

प्रश्न : मोहनीय कर्म का नाश 10वें गुणस्थान में होता है या 12वें गुणस्थान में ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 771)

उ र : विनाश के विषय में दो नय हैं- उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद। उत्पादानुच्छेद का अर्थ द्रव्यार्थिक नय है, इसलिये वह सद्भाव की अवस्था में ही विनाश को स्वीकार करता है। अनुत्पादानुच्छेद का अर्थ पर्यायार्थिक नय है, जो असत् अवस्था में अभाव संज्ञा को स्वीकार करता है।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि 10/1-2 में संज्वलन सूक्ष्म लोभ का विनाश 10वें गुणस्थान के अन्तिम समय में कहा है। श्री धवला 6/410-11 में कहा है कि दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में मोहनीय कर्म का स पूर्ण सŠव नष्ट हो जाता है और क्षीणकषाय गुणस्थान के प्रथम समय में क्षीणमोह कहलाता है। इससे स्पष्ट होता है कि स पूर्ण मोहनीय कर्म का क्षय 10वें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है।

प्रश्न : यथा यात चारित्र 11वें गुणस्थान से 14वें गुणस्थान तक होता है। तो €या 11वें गुणस्थान वाले यथा यात चारित्र में और 14वें गुणस्थानवाले यथा यात चारित्र में अन्तर है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 775)

उ र : क्षायोपशमिक चारित्र में (गुणस्थान 6 और 7) संज्वलन कषाय का उदय रहने से निर्मलपना नहीं रहता, किन्तु औपशमिक चारित्र और क्षायिक चारित्र में चारित्र मोहनीय कर्म की किसी भी प्रकृति का उदय नहीं होता। अत: ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में भी चारित्र पूर्ण वीतरागरूप होता है। इन दोनों गुणस्थानों को छद्मस्थ वीतराग कहते हैं। यथा यात चारित्र 11वें गुणस्थान से 14वें गुणस्थान तक कहा है। इस स बन्ध में श्री धवला 6/286 में इस प्रकार कहा है- ''यह यथा यात संयमस्थान चारों गुणस्थानों में जघन्य व उत्कृष्ट भेदों रहित एक ही होता है, €योंकि इन सबके कषायों का अभाव है। जो ऐसा कहते हैं कि 13वें और 14वें गुणस्थान में भी यथा यात चारित्र की पूर्णता नहीं है और चारों गुणस्थानों के यथा यात चारित्र में भेद करते हैं, उन्होंने नय विवक्षा न समझने के कारण ऐसी मान्यता बना रखी है, जो आगमस मत नहीं है। यदि क्षायिक चारित्र में तारत यता पाई जायेगी, तो क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन और क्षायिक वीर्य में भी तारत यता का प्रसङ्ग आ जायेगा और इससे अरहन्त व सिद्ध भगवान् में गुणकृत भेद हो जायेगा, जो वास्तव में नहीं है। तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में रत्नत्रय तो पूर्ण ही है, किन्तु अन्य सहकारी कारणों के अभाव के

कारण मोक्ष नहीं होता है और बाधक कारणों के अभाव होने को परम यथा यात चारित्र कह दिया है। चारों गुणस्थानों में संयम लॅधस्थान एक ही है।

यह भी जानना चाहिये कि प्रार भ होने की अपेक्षा स यग्ज्ञान, स य€चारित्र के पहले प्रार भ होता है। पूर्ण होने की अपेक्षा दसवें गुणस्थान के अगले समय में चारित्र तो पूर्ण हो जाता है, परन्तु ज्ञान पूर्ण नहीं होता। ज्ञान की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में होती है।

प्रश्न : €या चारित्र में लॅध और उपयोगरूप दो अवस्थाएँ होती हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 786)

उ□ ार क्कोई विद्वान् ऐसी धारणा रखते हैं कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों के अनन्तानुबन्धी का अनुदय होने के कारण स्वरूपाचरण चारित्र होता है। जब वे आत्मचिन्तन करते हैं, तब तो स्वरूपाचरण चारित्र उपयोग में रहता है और शेष समयों में लॅध में रहता है। उनका ऐसा कथन आगमविरुद्ध है। चारित्र का घातक चारित्रमोहनीय कर्म है। लॅध और उपयोगरूप अवस्था तो क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शन में होती है। चारित्र में उपयोग और लॅधरूप अवस्था होती नहीं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का स्वरूपाचरण चारित्र से कोई स बन्ध नहीं है। अत: यदि अनन्तानुबन्धी के अनुदय में स्वरूपाचरण चारित्र माना जायेगा, तब तो स्वरूपाचरण चारित्र प्रतिसमय मानना चाहिये, €योंकि जब तक चतुर्थ गुणस्थान है, तब तक अनन्तानुबन्धी का अनुदय है और यदि इस प्रकार प्रतिसमय स्वरूपाचरण चारित्र माना जायेगा, तो असं यातगुणी निर्जरा भी प्रतिसमय होनी ही चाहिये, जो होती नहीं है। आगम के अनुसार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती की चाहे वह स यग्दृष्टि (क्षायिक) भी €यों न हो, असं यातगुणी निर्जरा का होना प्रतिसमय नहीं कहा गया है। इस प्रकार अनन्तानुबन्धी के अनुदय में स्वरूपाचरण चारित्र नहीं घटता है।

प्रश्न : €या अविरत स यग्दृष्टि या व्रती गृहस्थ के शुद्धात्मा का ध्यान स भव है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 787)

उ□ ार शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिरता का नाम ध्यान है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती या व्रती गृहस्थ के ध्यान की सिद्धि किसी देश व काल में स भव नहीं है। ज्ञानार्णव में श्लोक नं. 17 में स्पष्ट कहा है कि आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है, परन्तु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होना तो किसी देश व काल में स भव नहीं है। मोक्षपाहुड गाथा 02 की टीका में कहा गया है कि मुनियों के ही परमात्मा का ध्यान घटित होता है, गृहस्थ के नहीं होता। इसीलिये गृहस्थ को दान, पूजा आदि का उपदेश दिया गया है। किंचित् आत्मभावना को प्राप्त कर जो गृहस्थ यह कहते हैं कि हम ध्यानी हैं, उनको जिनधर्म के विराधक

मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये। श्री धवला 13/65 में कहा है कि ध्याता तो स यग्दृष्टि होता है और वह समस्त अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग परिग्रह का त्यागी होता है। यदि यह कहा जाये कि चतुर्थ गुणस्थान और पंचम गुणस्थान में शास्त्रों में ध र्यध्यान कहा तो गया है, वह कैसे है ? इसका उ˘ार धवला 13/76में दिया गया है कि ''जिनेन्द्र और साधु के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दानस पन्नता आदि ये सब ध र्यध्यान हैं।'' इससे स्पष्ट है कि चतुर्थ गुणस्थान में या गृहस्थ के शुद्धात्मा का ध्यान या स्वरूपाचरण नहीं होता।

प्रश्न : €या स यग्दर्शन के साथ स यक्चारित्र का होना अवश्य भावी है ? €या इनका अविनाभाव स बन्ध है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 789)*

उ□ ार कुछ लोगों की ऐसी भी मान्यता है कि स यग्दर्शन के साथ स य€चारित्र होता ही है अर्थात् प्रथम गुणस्थान में जो मिथ्याचारित्र था, वह स यक्चारित्र हो जाता है। उनका यह कथन आगमस मत नहीं है। राजवार्तिक 1/1 में कहा गया है कि स यग्दर्शन, स यग्ज्ञान और स यक्चारित्र इन तीनों में पूर्व की प्राप्ति होने पर उ□ ार पद भजनीय है, किन्तु उ□ ार का लाभ होने पर पूर्व के लाभ होने का नियम है। अर्थात् स यक्चारित्र होगा, तो स यग्दर्शन और स यग्ज्ञान नियम से होंगे ही, परन्तु स यग्दर्शन और स यग्ज्ञान के साथ स यक्चारित्र के होने का नियम नहीं है। उ˘ारपुराण 74/543 में स्पष्ट कहा है कि ''स यक्चारित्र तो स यग्दर्शन व स यग्ज्ञान सहित होता है, किन्तु स यग्दर्शन और स यग्ज्ञान चतुर्थ गुणस्थान में स यक्चारित्र के बिना भी होते हैं।'' इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि स यग्दर्शन का स यग्चारित्र के साथ अविनाभाव स बन्ध नहीं है।

स्वरूपाचरण चारित्र

प्रश्न : स्वरूपाचरण चारित्र कौनसे गुणस्थान से होता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 790)*

उ□ ार : स्वरूपाचरण चारित्र की परिभाषा किसी भी आचार्य ने किसी भी शास्त्र में नहीं लिखी है। यदि इसके श˘ोदों से इसकी परिभाषा बनाएँ, तो स्वरूप में आचरण करना स्वरूपाचरण है। परमात्मप्रकाश 12/40 की टीका में कहा है कि स्वरूप में आचरणरूप चारित्र अर्थात् स्वरूपाचरण चारित्र है, वह वीतराग चारित्र है। प्रवचनसार गाथा 7 की टीका में कहा है कि मोह और क्षोभ से रहित जीव का अत्यन्त निर्विकार परिणाम ही स्वरूपाचरण चारित्र है। इसे शुद्धोपयोग, वीतराग चारित्र, परम समाधि, अभेद रत्नत्रय आदि नाम से भी कहा जाता है। चतुर्थ गुणस्थान में तो संयम नहीं है, €योंकि उसका नाम तो असंयत स यग्दृष्टि है। स्वरूपाचरण चारित्र की घातक संज्वलन कषाय है, €योंकि स्वरूपाचरण चारित्र को यथा यात चारित्र कहा गया है। इस परिभाषा के अनुसार संज्वलन कषाय का सद्भाव दसवें गुणस्थान तक होने से, दसवें गुणस्थान तक स्वरूपाचरण चारित्र नहीं है। इसके बाद के

गुणस्थानों में इसका सद्भाव मानना चाहिये।

प्रश्न : चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र होता है या नहीं ? कुछ लोग चतुर्थ गुणस्थान से स्वरूपाचरण चारित्र मानते हैं। €या उनकी मान्यता ठीक है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 784)*

उ□ ार :अनन्तानुबन्धी कषायरूप चारित्रमोहनीय कर्म प्रकृति के उदय का अभाव होने के कारण चतुर्थ गुणस्थान में कोई चारित्र नहीं होता, €योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय को किसी चारित्र का घात करनेवाला नहीं कहा गया है। अनन्तानुबन्धी कषाय तो चारित्र की विघातक अप्रत्या यानावरणादि चारित्रमोहनीय कर्मोदय के प्रवाह को अनन्तरूप कर देती है। यदि अनन्तानुबन्धी के अभाव में चारित्र की उत्पŽा मानी जायेगी, तो तृतीय गुणस्थान में भी अनन्तानुबन्धी कर्मोदय के अभाव होने से चारित्र मानना पड़ेगा, जो स भव नहीं है। वास्तव में स्वरूपाचरण नामक चारित्र किसी भी आचार्य ने नहीं कहा है। यह तो पंचाध्यायीकार पाण्डे राजमल जी के दिमाग की उपज है। गो मटसार जीवकाण्ड में स्पष्ट कहा है कि ''चारिžं णत्थि जदो, अविरद अन्तेसु ठाणेसु'' अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान तक रंचमात्र भी चारित्र नहीं होता है। इस प्रकार चतुर्थ गुणस्थान में कोई भी चारित्र या स्वरूपाचरण चारित्र मानना आगम स मत नहीं है।

प्रश्न : संवर, निर्जरा का होना, स यक्चारित्र के बिना स भव नहीं है। फिर चतुर्थ गुणस्थान में जब संवर और निर्जरा है, तब स्वरूपाचरण चारित्र €यों नहीं मान लिया जाये ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 801-02)

उ□ ार :यदि आपकी ऐसी मान्यता है, तो हम पूछना चाहेंगे कि द्वितीय गुणस्थान में भी सोलह प्रकृतियों का संवर है, तृतीय गुणस्थान में भी इकतालीस प्रकृतियों का संवर है, तो €या द्वितीय और तृतीय गुणस्थान में भी स यक्चारित्र मान लिया जाये ? जो स भव नहीं है। और तो और प्रथम गुणस्थान में भी करण लŽि में प्रतिसमय असं यातगुणित निर्जरा, स्थितिकाण्डक घात और अनुभागकाण्डक घात होने से, मिथ्यादृष्टि के भी चारित्र होने का प्रसङ्ग बन जायेगा। इससे स्पष्ट होता है कि संवर, निर्जरा जहाँ है, वहाँ स यक्चारित्र हो ही, यह नियम नहीं है।

प्रश्न : चतुर्थ गुणस्थान में आंशिक शुद्धता है, तो आंशिक शुद्धोपयोग मानने में €या आपŽि है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 803)

उ□ ार :प्रवचनसार गाथा 14 में शुद्धोपयोग परिणत आत्मा का स्वरूप कहा गया है- ''सुविदिदपयत्थसुžो———'' पदार्थों और सूत्रों को भलीभाँति जानकर जो संयम और तप में युक्त होकर वीतराग हो गये हैं, जिनके सुख और दु:ख समान हैं, ऐसे मुनि को शुद्धोपयोगी कहा गया है।''

इस गाथा के अनुसार अविरत स यग्दृष्टि या व्रती गृहस्थ अथवा आर्यिकाओं के शुद्धोपयोग नहीं होता। प्रत्येक मुनि भी शुद्धोपयोगी नहीं होता। जो मुनि गाथा में कहे गये गुणों से युक्त हैं, वे ही शुद्धोपयोगी होते हैं।

विशेष यह है कि उपयोग की एक समय में एक ही पर्याय होती है अर्थात् अशुभोपयोग का व्यय होने पर शुभोपयोग और शुभोपयोग का व्यय होने पर शुद्धोपयोगरूप पर्याय का उत्पाद होता है। शुभोपयोगरूप पर्याय का व्यय तो हो नहीं और शुद्धोपयोगरूप पर्याय का आंशिक उत्पाद हो जाये अर्थात् दो उपयोग एक साथ हों, सो स भव नहीं है। किसी ाी आर्षग्रन्थ में चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग का कथन नहीं पाया जाता।

प्रश्न : आचार्य कुन्दकुन्द ने चतुर्थ गुणस्थान में अविरत स यग्दृष्टि के स य€त्वाचरण चारित्र कहा है। फिर हम चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र €यों न मानें ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 805-07)*

उ□ ार : आचार्य कुन्दकुन्द ने स य€त्वाचरण का स्वरूप इस प्रकार कहा है- ''जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए स यग्दर्शन में मल उत्पन्न करनेवाले शंकादि मिथ्यादोषों का मन-वचन-काय से त्याग करो, यही स य€त्वाचरण चारित्र है।'' चारित्र पाहुड में कहा गया है कि पच्चीस दोषों से रहित जो स यग्दर्शन है, वही स य€त्वाचरण चारित्र है अर्थात् स यग्दर्शन होने पर स यग्दृष्टि जीव के आचरण में जो बदलाव आता है (पच्चीस दोषों से रहित होने के कारण) उसका नाम स य€त्वाचरण चारित्र है। यह स य€त्वाचरण, चारित्र गुण की पर्याय नहीं है, किन्तु स यग्दर्शन गुण की पर्याय है। स्वरूपाचरण और स य€त्वाचरण दोनों भिन्न-भिन्न हैं। स य€त्वाचरण चारित्र तो चतुर्थ गुणस्थान में होता है, जबकि स्वरूपाचरण चारित्र ग्यारहवें और उससे आगे के गुणस्थानों में होता है, इसलिये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

प्रश्न : स्वसंवेदन और स्वरूपाचरण में €या अन्तर है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 808)*

उ□ ार : स्वसंवेदन ज्ञानगुण की पर्याय है और स्वरूपाचरण चारित्रगुण की पर्याय है। तŽवानुशासन ग्रन्थ में कहा गया है कि योगियों को जो स्वयं के द्वारा स्वयं का ज्ञेयपना और ज्ञातापना है, उसका नाम स्वसंवेदन है। उसी को आत्मा का अनुभव या दर्शन कहते हैं, जबकि रागद्वेष के अभावरूप यथा यात चारित्र को स्वरूपाचरण चारित्र कहा है। आत्मानुभव भी स्वसंवेदन का पर्यायवाची नाम है। इस प्रकार स्वसंवेदन और स्वरूपाचरण चारित्र में महान् अन्तर है।

प्रश्न : श्री धवला 1/164-65 में अनन्तानुबन्धी को स य€त्व और स्वरूपाचरण का घातक लिखा है। फिर आप यह €यों नहीं मानते कि अनन्तानुबन्धी स्वरूपाचरण की घातक है ? जब वीरसेन स्वामी ने स्वयं स्वरूपाचरण चारित्र लिखा है, तो आपको स्वीकार करना ही चाहिये।

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 812)

उ□ ार श्री धवला 1/164-65 में **स यग्दर्शन-चारित्रप्रतिबन्ध्यनंतानुबन्धी** यह श□ द दिया है। अनुवादक महोदय पं0 फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री ने इसका अर्थ करते हुए ''स यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र को प्रतिबन्ध करनेवाली अनन्तानुबन्धी है'' ऐसा अर्थ किया है। मूल में स्वरूपाचरण चारित्र है ही नहीं। अनुवादक महोदय ने अपनी धारणा के अनुसार हिन्दी भाषा टीका में ''स्वरूपाचरण'' शŽद अपनी तरफ से जोड़ दिया है, जो उचित नहीं है। सत्य तो यह है कि किसी भी आचार्य ने स्वरूपाचरण चारित्र नामक चारित्र का वर्णन ही नहीं किया है।

द्रव्यानुयोग

द्रव्य

प्रश्न : तŽवार्थसूत्र में द्रव्य के लक्षण स बन्धी दो सूत्र **€**यों दिये गये हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 823)

उ□ ार अन्य मत वाले द्रव्य की परिभाषा अलग-अलग मानते हैं। उनमें कोई द्रव्य को सर्वथा क्षणिक मानते हैं और कोई द्रव्य को सर्वथा नित्य कूटस्थ मानते हैं। इन दोनों के निराकरण करने के लिये 'सद्द्रव्यलक्षणम्' और 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' ये दो सूत्र कहे गये। कोई द्रव्य से गुण और पर्यायों को सर्वथा भिन्न मानते हैं और कोई सर्वथा अभिन्न मानते हैं। उनके निराकरण करने के लिये 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' सूत्र कहा गया है। इस प्रकार दोनों परिभाषाओं की अपनी-अपनी उपयोगिता है।

प्रश्न : **€**या केवली भगवान् में अनन्त बल होने के कारण इतनी शक्ति है कि वह अजीव को जीव और जीव को अजीव बना दें ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 823)*

उ□ ार क्रेवली भगवान् अनन्तशक्ति से स पन्न हैं, जबकि अन्य मतों में भगवान् की कल्पना सर्वशक्तिमान् रूप से है। जैनधर्म के अनुसार जो द्रव्य जिस लक्षण से युक्त है, उस द्रव्य के उस लक्षण का विनाश कभी नहीं होता, इसी को नित्य कहते हैं। कहा भी है- ''तद्भावाव्ययं नित्यम्''। चाहे प्रलय □ यों न हो, फिर भी द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ते हैं, इसलिये जैनमत के अनुसार केवली भगवान् भी जीव को अजीव या अजीव को जीव नहीं बना सकते। अन्य मतों में जो इस प्रकार के आश्चर्यों का वर्णन है, वह सब कल्पना मात्र है, वास्तविक नहीं है।

प्रश्न : □ या सभी द्रव्यों का आकार होता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 824)*

उ□ ार प्रत्येक द्रव्य आकारसहित ही है, कोई भी द्रव्य निराकार नहीं होता है।

1. संसारी जीव प्राप्त शरीर के आकारवाले होते हैं और मुक्त जीव 'किंचूणा चरमदेहदो'' होते हैं।

2. पुद्गल के परमाणु का आकार आदिपुराण 24/148 में गोल कहा है, अन्य आचार्यों ने चौकोर भी कहा है और स्कन्ध अनेक आकारवाले होते हैं।

3. धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य का आकार लोकप्रमाण 343 घनराजू है।

4. काल द्रव्य अणुरूप है अर्थात् उसका आकार अणु के समान है अर्थात् गोल या चौकोर।

5. आकाश का आकार आचारसार 3/24 के अनुसार चतुरस्र समघनाकार है।

इस प्रकार छहों द्रव्यों के आकार का कथन शास्त्रों में पाया जाता है।

प्रश्न : जीव तथा पुद्गल क्रियाशील हैं, इससे हमें क्या समझना चाहिये ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 933)

उत्तर : एक प्रदेश से प्रदेशान्तर में गमन करना, इसका नाम क्रिया है। जीव बाह्य पुद्गल कारणों के साथ सक्रिय होते हैं। जीवों के क्रियापने में बाह्य साधन कर्म और नोकर्मरूप पुद्गल हैं। वे जीव पुद्गल का निमित्त पाकर क्रियावन्त होते हैं। कर्म, नोकर्मरूप पुद्गल के अभाव में सिद्ध निष्क्रिय हैं। यहाँ पर जीव की विभावरूप क्रिया का बाह्य कारण की मुख्यता से कथन है और विभाव के अभाव में सिद्धों को निष्क्रिय कहा है।

जीव भी क्रियावाले होते हैं, क्योंकि परिस्पन्द स्वभाववाले होने से परिस्पन्दन के द्वारा नवीन कर्म नोकर्मरूप पुद्गलों से भिन्न जीव उनके साथ एकत्र होने से और कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलों के साथ एकत्र हुये जीव बाद में पृथक् होने से (इस अपेक्षा से) वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं, नष्ट हो जाते हैं। यहाँ पर क्रिया की अपेक्षा से अशुद्ध जीव में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य बताया है। अत: क्रिया जीव का स्वभाव कहा है। यह अशुद्ध क्रिया का अंतरंग कारण की मुख्यता से कथन है।

शरीर (कार्मणशरीर) के वियोग हो जाने पर जीव क्रियारहित हो जाता है, ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है। क्योंकि यह इष्ट है अथवा परनिमित्तक क्रिया का अभाव हो जाने पर भी दीपक के समान मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमनरूप स्वाभाविक क्रिया मानी गई है। अथवा परनिमित्तक क्रिया का अभाव हो जाने पर भी दीपक के समान मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमनरूप स्वाभाविक क्रिया मानी गई है। अथवा यदि शरीर के वियोग में मुक्त जीव को क्रियारहित माना जायेगा, तो अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एवं अचिन्त्य सुख का अनुभव करना आदि क्रियायें मानी गई हैं, वे न मानना चाहिये। किन्तु वे मानी गई हैं, इसलिए शरीर के अभाव में आत्मा निष्क्रिय पदार्थ है, यह दोष यहाँ लागू नहीं हो सकता।

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 2 की टीका में जीव को स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करनेवाला कहा गया है। यद्यपि व्यवहार से चारों गतियों को उत्पन्न करनेवाले कर्मों के उदयवश ऊँचा, नीचा तथा तिरछा गमन करनेवाला है। फिर भी निश्चयनय से केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों की प्राप्तिस्वरूप जो मोक्ष, उसमें जाने के काल में स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करनेवाला है। इस प्रकार अशुद्ध निश्चयनय से परिस्पन्दरूप क्रिया जीव का स्वभाव है और शुद्ध निश्चयनय से ऊर्ध्वगतिरूप क्रिया जीव का स्वभाव है, किन्तु

परिस्पन्दरूप क्रिया जीव का स्वभाव नहीं है। शुद्धावस्था में मुक्त जीव को परिस्पन्दरूप वैभाविक क्रिया के अभाव की अपेक्षा निष्क्रिय कहा है।

पुद्गलों की क्रिया में काल निमिǽाकारण है और काल का अभाव नहीं होता, अत: पुद्गल सिद्धों के समान निष्क्रियपने को प्राप्त नहीं होता। पुद्गलों की क्रिया स्वाभाविक और प्रायोगिक दो प्रकार की होती है। पुद्गल परमाणु को स्वा ाविक क्रिया के लिए जीव की आवश्यकता नहीं है। पुद्गल परमाणु का जीव के साथ संयोग भी नहीं हो सकता, €योंकि जीव का संयोग स्कन्ध के साथ हो सकता है, अणु के साथ नहीं।

जीवत उ व

प्रश्न : दर्शनोपयोग को उदाहरण देकर समझाइये। *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 827)*

उ र छद्मस्थ जीव का ज्ञान जब एक बाह्य पदार्थ का आल बन छोड़कर जब तक दूसरे पदार्थ का अवग्रह न करे, तब तक उसका उपयोग अपनी आत्मा में रहता हुआ दूसरे बाह्य पदार्थ को जानने के लिये जो प्रयत्न करता है, वह दर्शन है। जैसे हम उǽार की ओर एक पदार्थ देख रहे थे, फिर दक्षिण की ओर किसी पदार्थ को देखने की इच्छा हुई, तब हमने अपनी चक्षु इन्द्रिय को उǽार से दक्षिण की ओर स्थित पदार्थ की ओर घुमाया, तो जब तक वह दक्षिण में स्थित पदार्थ को न देख पाये, तब तक दर्शनोपयोग कहा जाता है। इस दर्शनोपयोग के काल में चक्षु इन्द्रिय का कोई व्यापार नहीं है, जानने का प्रयत्न मात्र है।

प्रश्न : निद्रा के समय ज्ञानोपयोग रहता है या दर्शनोपयोग? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 835)*

उ र इस स बन्ध में विभिन्न मत हैं–

1. संसारी जीवों के पहले दर्शनोपयोग होता है, फिर ज्ञानोपयोग। ये पाँचों निद्राएँ सर्वघाती हैं, अत: दर्शनोपयोग की बाधक हैं, अत: निद्रा के काल में दर्शनोपयोग का प्रतिबन्ध हो जाने पर ज्ञानोपयोग का भी विनाश सिद्ध हो जाता है। उस काल में अर्थात् उस दोनों से रहित अवस्था में उपयोग लि धरूप में तो रहते हैं, व्यापाररूप में नहीं। इस मान्यता के अनुसार निद्रा के काल में कभी दर्शनोपयोग रहता है, कभी ज्ञानोपयोग होता है और कभी दोनों का अभाव रहता है।

2. धवलाकार ने तथा गो मटसार जीवकाण्ड में लǽ्यपर्याप्तकों के भी ज्ञानोपयोग अथवा दर्शनोपयोग कहा है अर्थात् आत्मा में उपयोग की पर परा बनी रहती है। इस कारण उस उपयोग का लक्षणपना बन जाता है– उपयोगो लक्षणम्। आत्मा के भी उपयोग का सर्वथा अभाव मान लिया जाये, तो जड़ आत्मा पीछे से स्मरण नहीं कर सकता। इस प्रकार निद्रादि अवस्थाओं में भी उपयोग का अस्तित्व निश्चितरूप से सिद्ध होता है।

यद्यपि उपर्युक्त दो मत हैं, फिर भी दोनों मतों में भेद नहीं है। प्रथम मत वाले आचार्य या पं0

रतनचन्द्र जी मु तार निद्रा के काल में जीव को उपयोगरहित या जड़ नहीं मानते। उनका कथन है कि उस काल में उपयोग ला□ धरूप रहता है, व्यापाररूप नहीं। अत: जीव के जड़ होने का प्रश्न नहीं उठता।

प्रश्न : क्षयोपशम किन-किन कर्मों का होता है ? हम छद्मस्थों के ज्ञानावरण और दर्शनावरण का क्षयोपशम तथा दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग □ या हमेशा पाये जाते हैं ?*(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 830)*

उ□ ार क्षयोपशम मात्र घातिया कर्मों में होता है। जो घातिया कर्म होते हैं, उनमें ही सर्वघाती और देशघाती स्पर्द्धक होते हैं। सर्वघाती स्पर्द्धकों का अनुदय और देशघाती स्पर्धकों के उदय को क्षयोपशम कहते हैं। अघातिया कर्मों में सर्वघाती और देशघाती स्पर्धक नहीं होते, अत: अघातिया कर्मों का क्षयोपशम नहीं होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीन कर्मों का क्षयोपशम तो प्रथम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान में स्थित सभी संसारी जीवों के प्रतिसमय पाया जाता है। दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम स यग्मिथ्यादृष्टि जीवों के और क्षायोपशमिक स यग्दृष्टि जीवों के होता है। चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम पाँचवें से सातवें गुणस्थान तक के जीवों के होता है।

सभी छद्मस्थ संसारी जीवों के चाहे वह निगोदिया जीव ही **क्यों** न हों, प्रतिसमय ज्ञानावरण और दर्शनावरण का क्षयोपशम रहता ही है, जिसके कारण उनके अचक्षुर्दर्शन तथा मति और श्रुतज्ञान होते ही हैं। यद्यपि मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम प्रतिसमय रहता है, परन्तु दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में से एक उपयोग ही एक समय में रहता है अर्थात् दर्शनोपयोग के काल में ज्ञानोपयोग नहीं होता और ज्ञानोपयोग के काल में दर्शनोपयोग नहीं होता। पाँच इन्द्रिय और मन स बन्धी मतिज्ञान में से भी एक समय में एक का ज्ञान होता है अर्थात् लब्धि तो छहों की स भव है, परन्तु उपयोग एक इन्द्रिय स बन्धी ही होता है। केवली भगवान् के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग दोनों एक साथ होते हैं। सभी अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठियों में केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों उपयोग युगपत् (एक साथ) होते हैं। चारों घातिया कर्मों की जो इ□ कीस सर्वघाती प्रकृतियाँ हैं, उनके स्पर्धक सर्वघाती ही होते हैं, अत: उनका उदय अथवा क्षय होता है, क्षयोपशम नहीं होता।

प्रश्न : ला□ ध और उपयोग में □ या अन्तर है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 831)*

उ□ ार मतिज्ञान, इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है। इन्द्रिय और मन की रचना ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार होती है। जिसके मात्र स्पर्शनेन्द्रियावरण का क्षयोपशम है, उसके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय की ही रचना होगी, अन्य इन्द्रियों की नहीं। इस मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम की प्राप्ति को लब्धि कहते हैं। अर्थात् जिसके बल से आत्मा द्रव्येन्द्रियों की रचना करता है, ऐसे ज्ञानावरण कर्म के विशेष क्षयोपशम का नाम लब्धि है और उस विशिष्ट क्षयोपशम से जाननेवाली

आत्मा का जो परिणाम-विशेष है अर्थात् जो जाननेरूप परिणाम है, उसे उपयोग कहते हैं। लिंध कारण है और उपयोग कार्य है।

प्रश्न : मन का क्या कार्य है ? मनरहित जीवों के श्रुतज्ञान कैसे स भव है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 832)

उ र जो संज्ञी जीव हैं, उनके इन्द्रियों का व्यापार मनपूर्वक होता है। किन्तु जो असंज्ञी जीव हैं, उनके मन के बिना इन्द्रियों की प्रवृिा के द्वारा ज्ञान की उत्पिा होती है। इसीलिये मन का विषय स यक् श्रुतज्ञान कहा गया है अर्थात् 'श्रुतमनिन्द्रियस्य' इस सूत्र के अनुसार स यक् श्रुतज्ञान सैनी जीवों के ही स भव है, असैनी जीवों के नहीं। असैनी जीवों के कुश्रुतज्ञान होता है। असैनी जीवों में मन के बिना भी हित में प्रवृि । और अहित से निवृि । देखी जाती है, जो कुश्रुतज्ञान का कार्य है।

प्रश्न : किन्हीं आचार्य ने ज्ञान को स्व-परप्रकाशक कहा है और किन्हीं आचार्य ने दर्शन को स्वप्रकाशक और ज्ञान को परप्रकाश कहा है। ऐसा यों ? स्पष्ट करें *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 833)*

उ र आचार्य वीरसेन महाराज ने धवला में ज्ञान को परप्रकाशक और दर्शन को स्वप्रकाशक कहा है। उनके अनुसार सामान्य-विशेषात्मक बाह्य पदार्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्य-विशेषात्मक आत्मरूप को ग्रहण करनेवाला दर्शन है। यह कथन सिद्धान्त ग्रन्थों के अनुसार है, किन्तु तर्कशास्त्र में अन्य मत वालों को समझाने की मु यता होने के कारण ज्ञान को स्वपरप्रकाशक कहा गया है। जैसे परीक्षामुख के प्रथम सूत्र 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' में कहा है कि स्व और पर का निश्चय करना ज्ञान है और वही प्रमाण है।

प्रश्न : ल ध्यपर्याप्तक जीवों के द्रव्येन्द्रिय और द्रव्य मन नहीं होते, फिर उनके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग कैसे माना जाये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 836)*

उ र इन्द्रियों से ही जीव को ज्ञान होता है, ऐसा एकान्त नियम नहीं है, यों कि ऐसा मानने पर अपर्याप्त काल में या ल ध्यपर्याप्तक अवस्था में जीवों के इन्द्रियों का अभाव होने से ज्ञानदर्शन के अभाव का प्रसंग आता है और ज्ञान दर्शन का अभाव मानने पर जीव द्रव्य के विनाश का प्रसंग आता है। प्रत्येक छद्मस्थ जीव के विग्रहगति में भी अचक्षुर्दर्शनावरण कर्म का क्षयोपशम होने से मति और श्रुतज्ञान नियम से होते ही हैं। अर्थात् दोनों उपयोगों से रहित जीव कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न : दर्शनोपयोग और स यग्दर्शन में क्या भेद है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 837)*

उ र यद्यपि दर्शनोपयोग और स यग्दर्शन ये दोनों जीवद्रव्य से प्रदेश की अपेक्षा अभिन्न हैं,

किन्तु संज्ञा, लक्षण आदि की अपेक्षा दोनों में भेद है। दर्शनोपयोग तो दर्शनावरणी कर्म के क्षय, क्षयोपशम से होता है और उसका लक्षण सामान्य अवलोकन है। और स यग्दर्शन, दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम और उपशम से होता है और उसका कार्य त□ वार्थश्रद्धान है। इस प्रकार दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

प्रश्न : निश्चयनय और व्यवहार नय का □ या स्वरूप है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 843)*

उ□ ार ज्ञो प्रमाण के द्वारा प्रकाशित अर्थ के किसी एक धर्म का कथन करता है, वह नय है। स पूर्ण धर्मों को विषय करना प्रमाण के अधीन है और एक धर्म को विषय करना नय के अधीन है। इन दोनों में से प्रत्येक, पदार्थ का ठीक-ठीक बोध कराता है। नय श्रुतज्ञान का भेद है।

अध्यात्म भाषा में मूल नय दो हैं। जो अभेद को विषय करे, स्वाश्रित हो, द्रव्याश्रित हो, सामान्य को विषय करे, उसे निश्चयनय कहते हैं और जो पर्याय या गुणों को विषय करे, पराश्रित हो, भेदरूप वर्णन करे, विशेष को विषय करे, वह व्यवहार नय है। जैसे निश्चयनय से मैं जीव हूँ और व्यवहार नय से मैं मनुष्य हूँ। सभी नय अपने-अपने विषय का कथन करने में समीचीन हैं। अनेकान्त के ज्ञाता 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है' ऐसा विभाग नहीं करते हैं। आचार्य वीरसेन महाराज के अनुसार 'यदि कहा जाये कि व्यवहार नय असत्य है, सो भी ठीक नहीं है, €योंकि उसमें व्यवहार का अनुसरण करनेवाले शिष्यों की प्रवृ□ । देखी जाती है।' अत: दोनों नय अपने-अपने विषय का प्रतिपादन करनेरूप दृष्टि से सच्चे हैं।

प्रश्न : कुछ लोग व्यवहार स यग्दर्शन को वास्तविक स यग्दर्शन नहीं मानते। वे मिथ्यादृष्टि के भी व्यवहार स यग्दर्शन मानते हैं। €या उनकी धारणा आगम स मत है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 846)

उ□ ार समयसार गाथा 373 की टीका में आचार्य जयसेन ने 'मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के तथा चारित्रमोहनीय के उपशम, क्षय व क्षयोपशम होने से छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तǍव, नव पदार्थ आदि का श्रद्धान, ज्ञान व रागद्वेष का त्याग यह भेद रूप (स यग्दर्शन स यग्ज्ञान, स यक्चारित्र रूप) व्यवहार मोक्षमार्ग है' कहा है। इसमें स्पष्ट कहा गया है कि व्यवहार स यग्दर्शन में सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम कारण होता है। फिर यह मिथ्यादृष्टि के कैसे स भव है ? कदापि नहीं। सात प्रकृतियों के क्षय से उत्पन्न हुआ क्षायिक स यग्दर्शन यदि सविकल्प अवस्था में है (शुद्धोपयोग रहित अवस्था में है) तो वह भी व्यवहार स यग्दर्शन है। निर्विकल्प समाधि में स्थित अर्थात् श्रेणी में स्थित जीव के उपशम स यदग्र्शन भी निश्चय स यग्दर्शन है। सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय से व्यवहार व निश्चय स यग्दर्शन उत्पन्न होते हैं। अत: करणानुयोग की दृष्टि से

दोनों ही स यग्दर्शन वास्तविक हैं। आचार्य अमृतचंद्र ने पंचास्तिकाय गाथा 107 की टीका में स्पष्ट कहा है कि व्यवहार स यग्दर्शन में मिथ्यात्व कर्म का अनुदय रहता है। इससे स्पष्ट है कि व्यवहार स यग्दर्शन भी सच्चा स यग्दर्शन है और वह मिथ्यादृष्टि जीव के कदापि नहीं होता।

प्रश्न : स यग्दर्शन के 4 लक्षण कहे गये हैं पहला सच्चे देवशास्त्रगुरु का श्रद्धान, दूसरा सात तǔवों का श्रद्धान, तीसरा भेदविज्ञान, चौथा स्वानुभव। इन चारों में से स यग्दर्शन का यथार्थ लक्षण €या है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1337)

उ□ ार प्रवचनसार गाथा 242 की टीका में कहा गया है कि ज्ञेय त□ व और ज्ञातृत□ व की यथार्थ प्रतीति जिसका लक्षण है वह स यग्दर्शन पर्याय है और ज्ञेय तǔव और ज्ञातृ तǔव की यथार्थ अनुभूति जिसका लक्षण है वह ज्ञान पर्याय है। इस टीका के अनुसार अमृतचंद्र आचार्य ने अनुभूति अर्थात् अनुभव को ज्ञान की पर्याय कहा है और प्रतीति को (यथार्थ श्रद्धान को) दर्शन की पर्याय कहा है। भेद-विज्ञान में तो विज्ञान श□ द स्वयं ज्ञान का द्योतक है अर्थात् भेद-विज्ञान और स्वानुभव ये स यग्दर्शन के लक्षण नहीं है। स यग्दर्शन के लक्षण सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान कहो या तǔवार्थश्रद्धान कहो, दोनों एक ही हैं, मात्र शǍद भेद है, अभिप्राय भेद नहीं।

उपर्युक्त परि ाषायें द्रव्यानुयोग के अनुसार कही गई हैं, करणानुयोग के अनुसार तो सात प्रकृतियों के क्षय, क्षयोपशम, उपशम से जो श्रद्धा गुण की स यक् पर्याय प्रकट होती है वह स यग्दर्शन का लक्षण है।

प्रश्न : व्यवहार स यग्दर्शन और निश्चय स यग्दर्शन का €या लक्षण है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 847)

उ□ ार :आचार्य समन्तभद्र महाराज ने सच्चे देव, शास्त्र और गुरू के श्रद्धान को व्यवहार स यग्दर्शन कहा है। गो मटसार जीवकाण्ड में भगवान् के द्वारा कहे गये छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, और नव पदार्थों का आज्ञानुसार श्रद्धान करने को व्यवहार स य€त्व कहा है। आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने मोक्षपाहुड गाथा 90 में हिंसा रहित धर्म, 18 दोष रहित देव और निर्ग्रन्थ गुरू के श्रद्धान को व्यवहार स यग्दर्शन कहा है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 41 में आत्मस्वरूप के श्रद्धान को निश्चय स यग्दर्शन कहा है। छहढाला में समस्त परद्रव्यों से भिन्न अपनी आत्मा में रुचि होने को निश्चय स यग्दर्शन कहा है। इस प्रकार विभिन्न परिभाषायें हमें आगम से प्राप्त होतीं हैं। निष्कर्षरूप से व्यवहार स यग्दर्शन निश्चयस यग्दर्शन में कारण होता है। व्यवहारस यग्दर्शन चौथे से सातवें गुणस्थान तक होता है और निश्चय स यग्दर्शन शुद्धोपयोग रूप सप्तम् गुणस्थान से प्रार भ होकर आगे के गुणस्थानों में पाया जाता है।

प्रश्न : सराग स य€त्व और वीतराग स य€त्व का €या स्वरूप है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 848)

उ र : सरागी जीव के स य€त्व को सराग स यग्दर्शन और वीतरागी जीव के स यग्दर्शन को वीतराग स यग्दर्शन कहते हैं। परमात्मप्रकाश 2/17 की टीका में कहा है कि प्रशम, संवेग, अनुक पा और आस्ति€य की प्रगटता जिसका लक्षण है वह सराग स यग्दर्शन है। यह शुभोपयोग अवस्था में होता है। निज शुद्ध आत्मा की अनु ूति जिसका लक्षण है वह वीतराग स यग्दर्शन है और वह वीतराग चारित्र के साथ ही रहता है। आचार्यों ने सराग स यग्दर्शन को व्यवहार स यग्दर्शन और वीतराग स यग्दर्शन को निश्चय स यग्दर्शन कहा है।

प्रश्न : €या निश्चय स यग्दर्शन और व्यवहार स यग्दर्शन तथा वीतराग और सरागस यग्दर्शन एक साथ रह सकते हैं या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 848)

उ र : निश्चय स यग्दर्शन और व्यवहार स यग्दर्शन का कथन अनेक दृष्टियों से किया गया है, जहाँ पर गुण–गुणी की अभेद दृष्टि से स य€त्व के कथन को निश्चय स यग्दर्शन और जीवादि तž वों के श्रद्धान को व्यवहार स यग्दर्शन कहा है, वहाँ दोनों स य€त्व एक साथ रह सकते हैं। तथा जहाँ पर रागसहित स यग्दर्शन को सराग स यग्दर्शन या व्यवहार स यग्दर्शन कहा है और राग रहित स यग्दर्शन को वीतराग या निश्चय स यग्दर्शन कहा है वहाँ पर सराग और वीतराग दोनों स यग्दर्शन एक साथ नहीं रहते।

प्रश्न : राजवार्तिक में क्षायिक स य€त्व को वीतराग स यग्दर्शन कहा है जबकि क्षायिक स यग्दर्शन तो चतुर्थ गुणस्थान में सराग अवस्था में भी पाया जाता है ऐसा €यों ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 853)

उ र : क्षायोपशमिक स यग्दर्शन तो सराग अवस्था में ही पाया जाता है जबकि औपशमिक और क्षायिक स यग्दर्शन सराग और वीतराग दोनों अवस्थाओं में पाये जाते हैं। राजवार्तिक में जो क्षायिक स यग्दर्शन को वीतराग स यग्दर्शन कहा है उसकी अपेक्षा यह है कि चारित्र मोहनीय के क्षय से होने वाली वीतरागता, क्षायिक स यग्दर्शन के सद्भाव में ही होती है अन्यत्र नहीं। किन्तु कषायों की उपशमजन्य वीतरागता द्वितीयोपशम स यग्दर्शन के सद्भाव में भी प्रगट होती हुई देखी जाती है। इसीलिये अन्यत्र इसे भी वीतराग स यग्दर्शन कहा है।

प्रश्न : सरागसंवेदन और वीतरागसंवेदन का या स्वरूप है ?*(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 854)

उ र : समयसार गाथा 96 की टीका में आचार्य जयसेन ने कहा है कि विषय सुख अनुभव के

आनंदरूप स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह सरागस्वसंवेदनज्ञान है और सर्वजन प्रसिद्ध है अर्थात् इसका संवेदन सभी जीवों के पाया जाता है और जो शुद्ध आत्मा के सुखानुभवरूप स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान है और वह शुद्धोपयोगी मुनि महाराजों को ही होता है।

प्रश्न : स्वानुभव का लक्षण €या है ? यह कौन से गुणस्थान से प्रारं ा होता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 885)

उ ार ा वानुशासन ग्रन्थ के अनुसार योगी को अपने ही द्वारा अपने को जो ज्ञेयपना और ज्ञानपना है, उसका नाम स्वसंवेदन है और उसी को अनुभव प्रत्यक्ष कहा जाता है अर्थात् स्वानु ाव कहते हैं। शुद्धात्मा तो स्वसंवेदन ज्ञान से उत्पन्न परमानन्द सुख से परिपूर्ण परमयोगी को तो प्रत्यक्ष होती है अन्य को नहीं। पंचास्तिकाय गाथा 13 की टीका में कहा है कि निर्विकल्प समाधि के बल से उत्पन्न जो वीतराग सहज परमानंदमय सुख, उसकी संविfिा, प्राप्ति, प्रतीति व अनुभूतिरूप स्वसंवेदनज्ञान है। इससे ध्वनित होता है कि स्वानुभव रूप परमानन्द की प्राप्ति शुद्धोपयोगी मुनिराजों को ही निर्विकल्प समाधि में होती है।

प्रश्न : €या आचरणहीन पुरुष को स यग्दर्शन हो सकता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 855)

उ ार ग्रथमोपशम स य€त्व होने से पूर्व 5 लfिधयाँ होती हैं इनमें से तीन लfिधयों का स्वरूप इस प्रकार है –

1. क्षयोपशम लfिध – जिस समय विशुद्धि के द्वारा पापकर्मों का उदय अनंतगुणा हीन-हीन होकर उदय में आवे उस समय यह ला ध होती है।

2. विशुद्धि लfिध – जिस समय अनंतगुणा हीनक्रम से पापकर्मों का उदय आने से साता आदि शुभकर्मों के बंध के कारण और असाता आदि अशुभ कर्म बन्ध के विरोधी ऐसे जीव के परिणाम हों। उसे विशुद्धि ला ध कहते हैं।

3. देशना लfिध – छह द्रव्य और नव पदार्थों के उपदेश की प्राप्ति को और उसके अर्थ ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के प्राप्त होने को देशना लfिध कहते हैं।

इन तीन लfिधयों से यह स्पष्ट होता है कि जब जीव सप्त व्यसन का त्याग और अष्ट मूलगुण धारण करता है तभी उस जीव के उपदेश की पात्रता, उपदेश से ज्ञान की प्राप्ति और स यग्दर्शन की योग्यता आती है।

इतना आचारण न होने पर स य€त्व की प्राप्ति और उपर्युक्त तीन लfिधयाँ होना संभव नहीं है। अत: यह सत्य है कि आचरण हीन पुरुष को स य€त्व की प्राप्ति नहीं होती है।

प्रश्न : सात तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान से स यग्दर्शन होता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च तत्त्वों का नाम भी नहीं जानते, फिर उनके स यग्दर्शन कैसे हो जाता है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 983)*

उ र जो संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव ज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षयोपशम न होने से तत्त्वों को नहीं जान सकते, उनको भी स यग्दर्शन हो सकता है। श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा नं. 324 में कहा है कि जो जीव अपने ज्ञानावरण के विशेष क्षयोपशम बिना तथा विशेष गुरु के सहयोग न होने पर भी जिनवचनों में ऐसे श्रद्धान करते हैं कि जिनेन्द्र भगवान् ने जो त व कहा है सो सब ही मुझे अच्छी प्रकार स्वीकार है। ऐसा करने से वे भी श्रद्धावान् हो जाते हैं। इस प्रकार होने वाले स यक्त्व को आचार्यों ने आज्ञा स यक्त्व कहा है।

प्रश्न : तत्त्वार्थसूत्र में भाव पाँच प्रकार के कहे हैं। ये पाँचों भाव जीव में होते हैं, अन्य द्रव्यों में कोई भी भाव पाया जाता है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 987)*

उ र जीव में पाँचों ही भाव पाये जाते हैं। पुद्गल में कर्म के उदय के कारण औदयिक भाव और पारिणामिक भाव पाया जाता है। शेष चार द्रव्यों में सिर्फ पारिणामिक ाव पाया जाता है। तत्त्वार्थसूत्र में पारिणामिक भाव के तीन भेद बताते हुये सूत्र कहा है 'जीवभव्याभव्यत्वानि च'। इस सूत्र में 'च' शब्द से अस्तित्व, वस्तुत्व आदि भावों को भी पारिणामिक भाव कहा है। जीव के अलावा पाँच द्रव्यों में भी ये अस्तित्व आदि पारिणामिक भाव पाये जाते हैं।

प्रश्न : भावास्रव पाँच प्रकार का कहा गया है। ये किस-किस गुण की विकारी पर्यायें हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 988)*

उ र भावास्रव दो प्रकार का है - सा परायिक और ईर्यापथ।

सा परायिक भावास्रव के 05 भेद हैं। इनमें से मिथ्यात्व श्रद्धागुण की, अविरति प्रमाद और कषाय ये तीनों चारित्र गुण की विकारी पर्यायें हैं। योग आत्मा की विकारी द्रव्य पर्याय है। ईर्यापथ आस्रव का भेद मात्र योग है।

प्रश्न : द्रव्यलिङ्गी मुनि आर्त्त-रौद्र परिणामों के कारण उपरिम ग्रैवेयक तक जाते हैं या ध र्यध्यान से ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 993)*

उ र मिथ्यादृष्टि जीव के ध र्यध्यान नहीं होता है। कषायसहित स यग्दृष्टि जीव के ध र्यध्यान होता है। आर्त्त और रौद्र ध्यान या आर्त्त-रौद्र परिणाम भी उपरिम ग्रैवेयक की देवायु के बंध का कारण नहीं हो सकते। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनि के जो मन्द कषाय रूप विशुद्ध परिणाम होते हैं वे ही देवायु के बंध के कारण हैं। ये मन्द कषाय रूप विशुद्ध परिणाम स यग्दर्शन की उत्पत्ति में ी कारण हो

सकते हैं €योंकि तिर्यञ्च और मनुष्य के प्रथमोपशम स य€त्व की उत्पŸिा के लिये पीत लेश्या के जघन्य अंश तो होने ही चाहिये। तीनों अशुभ लेश्याओं में मनुष्य और तिर्यञ्चों के प्रथमोपशम स य€त्व की उत्पŸिा नहीं हो सकती।

प्रश्न : ईर्यापथ आस्रव में कषाय का अभाव होने से स्थिति बंध या अनुभाग बंध होता है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 997)*

उ□ ार : उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली के होनेवाला आस्रव, कषाय न होने के कारण, सूखी दीवाल पर पड़े हुये पत्थर की तरह अगले समय में अकर्मभाव को प्राप्त हो जाता है, यह ईर्यापथ आस्रव है। शास्त्रों में स्थिति और अनुभाग बंध का कारण कषाय को कहा है। 'ठिदि अणुभागा कसायदो होंति' (द्रव्यसंग्रह)।

ईर्यापथ आस्रव में कषाय का अभाव होने से जैसा स्थिति और अनुभाग बंध कषायसहित जीवों के होता है वैसा स्थिति और अनुभाग बंध नहीं होता। नियम तो यह है कि जहाँ भी बंध होता है वहाँ चारों ही बंध होते हैं। अत: एक समय की स्थिति वाले ईर्यापथ आस्रव से प्राप्त कर्मों में अनुभाग बंध ी होता ही है। परन्तु यह अनुभाग बंध कषाय सहित जीवों के होने वाले अनुभाग की अपेक्षा अल्प है, ऐसा कहा गया है।

प्रश्न : ज्ञान का फल कुछ लोग स यग्दर्शन प्राप्त होना मानते हैं। उनके अनुसार चारित्र, ज्ञान का फल नहीं है। □ या उनकी मान्यता ठीक है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 856)*

उ□ ार : परीक्षामुख में 'अज्ञाननिवृ□ ार्हानोपादानो' कहा है अर्थात् अज्ञान की निवृ□ ा, ज्ञान का साक्षात् फल है और चारित्र अर्थात् संयम, ज्ञान के पार पर्य का फल है। €योंकि यह संयम, ज्ञान होने के उपरान्त होता है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने कहा है कि ' एक विद्वान् की सफलता इसी में है कि आत्मध्यान में लीनता हो। यदि वह नहीं है तो उसका स पूर्ण शास्त्रों का पठन-पाठन संसार के सिवाय और कुछ नहीं है। उसके अध्ययन को भी सांसारिक धंधा अथवा संसार परिभ्रमण का ही एक अंग समझना चाहिये। उस विद्वान् ने शास्त्रों का महान् ज्ञान प्राप्त करके भी अपने जीवन में वास्तविक सफलता नहीं प्राप्त की है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञान प्राप्ति की सफलता, चारित्र धारण करने से ही होती है।

प्रश्न : €या भगवान् की भक्तिरूप शुभराग स य€त्व प्राप्ति में कारण है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 862)

उ□ ार : सूर्य की लालिमा दो प्रकार की होती है, एक प्रात:काल की लालिमा और एक सन्ध्या काल की लालिमा। उसी तरह प्रशस्त राग अर्थात् वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरू, दयामयी धर्म आदि की

भक्तिरूप प्रशस्तराग, रत्नत्रय का कारण है और पर परा से मोक्ष प्राप्त कराने वाला है। शास्त्रों में जिनबि ब दर्शन और जिनमहिमा दर्शन को भी स य€त्वोत्पŸि में कारण कहा गया है। इसके विपरीत स्त्री-पुत्रादि सांसारिक पदार्थों में होने वाले अप्रशस्तराग को सन्ध्या समय की लालिमा के समान, संसार का कारण और दु:खों का कारण कहा गया है।

प्रश्न : स यग्दर्शन का विषय द्रव्य है या पर्याय ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 866)

उ□ ार ज्ञीवादि सात तŸवों के यथार्थ श्रद्धान को स यग्दर्शन कहते हैं। इन सात तŸवों में द्रव्य व पर्याय दोनों हैं, मात्र द्रव्य नहीं है, इनमें से आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और पुण्य-पाप ये न तो मात्र जीव की पर्याय हैं और न मात्र पुद्गल की पर्याय हैं, किन्तु ये दोनों के परस्पर संयोग से उत्पन्न पर्याय हैं। अत: स यग्दर्शन का विषय निज शुद्ध आत्मा का जानना तो है ही, परन्तु साथ ही, मैं पर्याय रूप नहीं हूँ, ये सब कर्म उदय से प्राप्त पर्याय हैं मेरा स्वरूप नहीं हैं, ऐसा जानना भी है अर्थात् स यग्दर्शन का विषय द्रव्य के साथ-साथ गुण और पर्यायों का यथार्थ श्रद्धान भी है। ऐसा मानना आगम स मत है।

प्रश्न : तीन शल्यों में से €या किसी शल्य के रहते स यग्दर्शन हो सकता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 869)

उ□ ार शल्य तीन होती हैं -

1. माया अर्थात् ठगने की वृ□ ा यह माया शल्य है।
2. भोगों की लालसा होना निदान शल्य है।
3. अत□ वों का श्रद्धान होना मिथ्या शल्य है।

अविरत स यग्दृष्टि जीव पञ्चेन्द्रियों के ाोगों से, त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से अर्थात् पापों से विरक्त नहीं होता है किन्तु जिनेन्द्र देव द्वारा कथित उपदेश का श्रद्धान करने वाला होता है। उसके विषय ाोगों का और पाँच पापों का त्याग न होने से माया शल्य तथा निदान शल्य कथञ्चित् पाई जा सकती है परन्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती होने से मिथ्याशल्य नहीं हो सकती है।

प्रश्न : €या स यग्दृष्टि सर्वथा निर्भय रहता है ? **€**या उसके चारों संज्ञायें नहीं होती हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 869)

उ□ ार भय प्रकृति का उदय आठवें गुणस्थान तक रहता है अत: अष्टम् गुणस्थान तक के जीव को सर्वथा निर्भय नहीं कह सकते। नौवें गुणस्थान में भय प्रकृति का उदय नहीं रहता, अत: उसके भय संज्ञा भी नहीं होती। चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानवर्ती स यग्दृष्टि के चारों संज्ञायें पायी जाती हैं।

सातवें गुणस्थान से आहारसंज्ञा नहीं रहती €योंकि वहाँ पर असातावेदनीय का तीव्र उदय व उदीरणा नहीं पायी जाती है। शेष तीन संज्ञा वहाँ पर उपचार से होती हैं €योंकि तत्संबंधी कर्मों का उदय वहाँ पाया जाता है। फिर भी उन संज्ञाओं का कार्य वहाँ पर नहीं हुआ करता है।

प्रश्न : कुछ लोग कहते हैं कि द्रव्य दृष्टि सो स यग्दृष्टि और पर्यायदृष्टि सो मिथ्यादृष्टि। €या उनका ऐसा मानना उचित है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 873)

उ□ ार : सभी वस्तुयें सामान्य-विशेषात्मक होती हैं, इसीलिये वस्तु का वर्णन द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय से होता है। द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य अर्थात् सामान्य है और पर्यायार्थिक नय का विषय पर्याय अर्थात् विशेष है। जब सामान्य पर दृष्टि होती है उस समय विशेष गौण होता है, किन्तु विशेष का निषेध नहीं होता। जिस समय विशेष पर दृष्टि होती है उस समय सामान्य गौण होता है और सामान्य का निषेध नहीं होता। द्रव्यार्थिक नय से वस्तु नित्य है अत: जो मात्र द्रव्यार्थिक नय को मानते हैं सो मिथ्यादृष्टि हैं। पर्यायार्थिक नय से वस्तु अनित्य है अत: जो पर्यायार्थिक नय मात्र को ही मानते हैं वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। दिव्यध्वनि में भगवान् का उपदेश एक नय के अधीन नहीं होता, किन्तु दोनों नयों के आधीन होता है। दोनों नयों में से कोई भी नय झूठा नहीं है, दोनों नयों से वस्तु का जो यथार्थ ज्ञान होता है, वही मोक्ष का कारण है।

प्रश्न : ज्ञान और स यग्ज्ञान में कारण €या है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 880)

उ□ ार : सात त□ वों के स्वरूप को तथा जीव, अजीव आदि द्रव्यों को जानने योग्य ज्ञान की प्राप्ति में ज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होना कारण है किन्तु उस ज्ञान का स य€त्व या ि ाथ्यात्व विशेषण, मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी के अनुदय और उदय के आधीन होता है।

प्रश्न : किस गुणस्थान में कौन सी चेतना माननी चाहिये ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 880-81)

उ□ ार : आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचंद्र के अनुसार स्थावर जीवों में मात्र कर्मफल चेतना होती है। केवलज्ञानी भगवान् के ज्ञान चेतना होती है, शेष के कर्म चेतना और कर्मफल चेतना दोनों पायी जाती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्धों में ज्ञान चेतना होती है। बारहवें गुणस्थान तक ज्ञानावरण कर्म का उदय होने के कारण अज्ञान मिश्रित ज्ञान होने से शुद्धज्ञानचेतना नहीं होती, उनके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना होती है। श्रेणी में अर्थात् आठवें आदि गुणस्थानों में कर्मचेतना व कर्मफल चेतना अबुद्धिपूर्वक होती है।

प्रश्न : आत्मा का ज्ञायक भाव €या है ? €या ज्ञायक भाव संसार अवस्था में भी रहता है ?
(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 889)

उ र ज्ञानोपयोग ही ज्ञायक ाव है। जीव में जीवत्व पारिणामिक भाव कहा गया है। जीवत्व का अर्थ चैतन्य होता है और चैतन्य का अन्वयी परिणाम उपयोग है। जिसके दो भेद हैं - दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। ये दोनों उपयोग जीव में सदा पाये जाते हैं। ज्ञानोपयोग ही ज्ञायक भावरूप से कहा जाता है अत: प्रत्येक संसारी जीव के प्रतिसमय ज्ञायकभाव रहता है।

प्रश्न : छहढाला में 'कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे' यह पंक्ति आई है। यहाँ ज्ञान बिन से €या तात्पर्य है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 891)

उ र यदि 'ज्ञान बिन' का अर्थ अज्ञानी अर्थात् मिथ्यादृष्टि किया जायेगा तो कैसे ठीक होगा ? यों कि मिथ्यादृष्टि के तो कर्मों का क्षय होता नहीं है। उपर्युक्त पंक्ति में अज्ञानी के कर्मों का क्षय बताया है। कर्मों का क्षय स यग्दृष्टि के ही संभव है अत: छहढाला की इस पंक्ति में ज्ञानबिन का तात्पर्य उन स यग्दृष्टि जीवों से है जो निर्विकल्प समाधि से रहित हैं। जो स यग्दृष्टि जीव निर्विकल्प समाधि में स्थित हैं वे ही ज्ञानी हैं।

प्रश्न : रागादि भाव जीव के मानने चाहिये या पुद्गल के ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 895)

उ र मिथ्यात्व, रागद्वेष आदि शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा अचेतन हैं €योंकि पुद्गल कर्मोदय से इन रागादि की उत्पŸिा होती है। इसी प्रकार जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुये ये मिथ्यात्वादि भाव अशुद्धनिश्चयनय और अशुद्ध उपादान की अपेक्षा चेतन हैं €योंकि जीव के हैं। परमार्थ से जीव और पुद्गल को पृथक्-पृथक् ग्रहण करने पर ये भाव न जीवरूप हैं और न पुद्गल रूप हैं €योंकि जीव और पुद्गल दोनों के संबंध से उत्पन्न हुये जात्यन्तर भाव हैं। सूक्ष्म शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में इन मिथ्यात्वादि का सद्भाव ही नहीं है, ये कल्पित हैं। ये विभाव भाव न तो शुद्ध जीव के हैं और न शुद्ध पुद्गल के हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो एकान्तत: रागादि विभाव परिणामों को जीव के कहते हैं या एकान्त से पुद्गल के कहते हैं उन दोनों के वचन मिथ्या हैं यों कि ये विभाव भाव जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न : स्वभाव और विभाव की या परिभाषा है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 904)

उ र जो पर निमिŸा के बिना होता है उसका नाम स्वभाव है और जो पर निमिŸा के कारण होता है उसका नाम विभाव है। कर्म निमित्त के बिना जीव में रागद्वेषादि की उत्पŸिा संभव नहीं है। यदि कर्म निमिŸा के बिना ही रागादि उत्पन्न हो जायें, तो रागादि जीव का निज-स्वभाव हो जाये, फिर

तो सिद्धों में भी राग द्वेष मानने पड़ेंगे सो संभव नहीं है। यदि यह पूछो कि पहले जीव था तो बिना कर्म के रागादि परिणाम कैसे हुये ? इसका उत्तर यह है कि जीव में रागादिरूप मलिनता अनादिकाल से है। जैसे - स्वर्णपाषाण में कालिमा रूप मलिनता प्रारंभ से ही है उसी तरह अनादि से आत्मा और कर्म एक हो रहे हैं। शुद्ध आत्मा में कर्म संबंध नहीं होता।

प्रश्न : निगोद से जो जीव बाहर निकलते हैं उसमें उनका पुरुषार्थ कारण है या कर्मोदय कारण है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 905)*

उ र जिस समय निगोदिया जीव के आयु का बंध होता है यदि उस समय काललब्धि वश व अपनी अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ द्वारा व मन्दकर्मोदय के कारण उसके मन्द कषाय होवे तो उसके निगोद की आयु का बंध नहीं होता, अन्य आयु का बंध होता है। भुज्यमान निगोद आयु के पूर्ण होने पर, बध्यमान नवीन आयु का उदय होने से वह जीव निगोद से निकल जाता है। इसमें अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ व कर्मोदय दोनों कारण होते हैं। एक कार्य अनेक कारणों से होता है। उन सब कारणों के मिलने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। यदि कहीं एक कारण की मु यता से कथन हो, तो वहाँ अन्य कारणों को गौण मानना चाहिये, अन्य कारणों का अभाव नहीं।

प्रश्न : विग्रहगति में सुख-दुःख, राग-द्वेष तथा आस्रव-बंध कैसे होता होगा ? वहाँ न तो मन है और न इन्द्रियाँ ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 925)*

उ र दूसरे शरीर के लिये संसारी जीव की जो मोड़े वाली गति होती है उसे विग्रह गति कहते हैं। विग्रहगति में इन्द्रिय प्राण होता है क्योंकि वहाँ पर भी ज्ञान का क्षयोपशम पाया जाता है। दूसरे बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने के लिये इन्द्रियों के व्यापार की आवश्यकता है, किन्तु स्वयं के सुख-दुःख का अनुभव तो स्वयं के ज्ञान द्वारा हो जाता है। उसमें इन्द्रिय या इन्द्रियज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। सुख-दुःख का अनुभव होने पर राग-द्वेष अवश्य उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष के उत्पन्न होने पर कर्म बन्ध अवश्य होता है। यदि कहा जाये कि आस्रव के बिना कर्म बंध कैसे होगा ? इसका उ र यह है कि विग्रह गति में कार्मण काय योग होता है जिसके कारण कर्मास्रव होता है।

प्रश्न : निर्वाण के समय कर्म बंधन समाप्त हो जाता है तब आत्मप्रदेश लोकाकाश प्रमाण क्यों नहीं हो जाते, शरीर प्रमाण ही क्यों बने रहते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 926)*

उ र जीव के प्रदेशों में संकोच और विस्तार, शरीर नामकर्म के उदय के कारण होता है। शरीर नामकर्म का उदय तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है। तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में आत्मप्रदेशों का आकार अन्तिम शरीर से कुछ कम हो जाता है अतः शरीर नामकर्म के उदय का

अभाव हो जाने के कारण सिद्ध पर्याय प्राप्त करने पर भी उन आत्मप्रदेशों में किञ्चित् भी संकोच या विस्तार नहीं होता। संकोच या विस्तार होना जीव का स्वभाव नहीं है।

प्रश्न : ऊर्ध्वगमन यदि आत्मा का स्व ाव है तो ऊर्ध्वगमन गुण है या पर्याय ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 941)

उ□ ार ऊर्ध्वगमन आत्मा का स्वभाव है किन्तु यह गुण नहीं है, पर्याय है और वह जीवद्रव्य की शुद्धपर्याय है। आगम के अनुसार अग्नि शिखा के समान जीव का ऊर्ध्वगति स्वभाव है। जिस प्रकार हवा बहने पर अग्नि शिखा तिरछी हो जाती है और हवा रुकने पर पुन: ऊपर हो जाती है, □ योंकि ऊपर की ओर जाना अग्नि शिखा का स्वभाव है। उसी तरह संसारी अवस्था में आत्मा ऊर्ध्वगमन नहीं कर पाता था और जैसे ही कर्मरहित होता है वह ऊर्ध्वगमन करता है। ऊर्ध्वगति के अभाव में जीव के अभाव का प्रसंग आ जायेगा, जैसे उष्णता के अभाव में अग्नि का अभाव हो जाता है, यह कहना ठीक नहीं है €योंकि अन्य गति का निषेध करने के लिये मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन स्व ाव कहा गया है अर्थात् कर्म से मुक्त आत्मा का नियम से ऊपर ही गमन होता है अन्य दिशा में नहीं। यही ऊर्ध्वगमन मुक्तजीव का स्वभाव है।

प्रश्न : जीव पदार्थ, जीवास्तिकाय, जीवद्रव्य, और जीवत□ व में □ या अन्तर है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 937)

उ□ ार किसी भी वस्तु का वर्णन स्वचतुष्टय की अपेक्षा किया जाता है अर्थात् वस्तु का वर्णन द्रव्य, क्षेत्र, काल और ाव की अपेक्षा होता है। उसी तरह जब हम द्रव्य की अपेक्षा जीव का वर्णन करते हैं तो वह जीव पदार्थ कहलाता है। जब क्षेत्र की अपेक्षा वर्णन करते हैं तो वह जीवास्तिकाय कहलाता है। जब काल अर्थात् परिणमन की अपेक्षा वर्णन करते हैं तो वह जीव द्रव्य कहलाता है। और जब ाव की अपेक्षा कथन करते हैं तो वह जीव तž व कहलाता है।

प्रश्न : एक निगोद शरीर में रहने वाले अनन्त जीवों को दु:खानुभव एक प्रकार का होता है या उसमें कुछ अन्तर होता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 939)

उ□ ार एक निगोद शरीर में रहने वाले सभी जीवों के एक जैसे परिणाम नहीं होते हैं किसी के तीव्र होते हैं और किसी के मन्द, और उन तीव्र व मन्द परिणामों के अनुसार ही नवीन कर्मबन्ध होता है। सभी जीवों का कर्मउदय भी भिन्न भिन्न अनुभाग वाला होने के कारण उसके अनुरूप ही सुख-दु:ख का भिन्न-भिन्न वेदन होता है। परिणामों की विभिन्नता के कारण ही, निगोद जीव कोई तिर्यञ्च गति में जाते हैं और कोई मनुष्य गति में, और यदि एक से परिणाम होते तो एक ही गति में जाने का

नियम होता, किन्तु ऐसा नियम नहीं है। अत: सभी निगोदिया जीवों के परिणाम और सुख-दु:खानुभवन भिन्न भिन्न होता है।

प्रश्न : आत्मा और जीव में €या कुछ अन्तर है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 940)

उ र ज्ञो यथासंभव ज्ञान, सुखादि गुणों में सर्वप्रकार वर्तता है वह आत्मा है अथवा शुभाशुभ मन-वचन-काय की क्रिया द्वारा यथासंभव तीव्र-मन्द आदि रूप से जो पूर्ण रूपेण वर्तता है वह आत्मा है अथवा उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य इन तीनों धर्मों के द्वारा जो पूर्णरूप से वर्तता है वह आत्मा है यह परिभाषा बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 57 की टीका में है। श्री धवला 14/13 के अनुसार आयु आदि प्राणों को धारण करना जीवन है। वह अयोग केवली के अन्तिम समय से आगे नहीं पाया जाता है €योंकि सिद्धों के प्राणों के कारणभूत आठों कर्मों का अभाव है। इसीलिये 'सिद्धा ण जीवा' सिद्ध भगवान् जीव नहीं हैं। अधिक से अधिक वे जीवितपूर्व कहे जा सकते हैं। इस अपेक्षा से जीव और आत्मा में अन्तर है। किन्तु जो चेतन परिणामों से जीता है वह जीव है और जो जाने सो आत्मा, इस अपेक्षा जीव और आत्मा में कथंचित् अन्तर नहीं है दोनों एकार्थवाची हैं।

प्रश्न : आत्मा को सर्वव्यापी कैसे कहा गया है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 940)

उ र :आत्मा के प्रदेश यद्यपि लोकाकाश प्रमाण असं यात हैं फिर भी ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी हैं €योंकि ज्ञान लोकालोक के सर्वपदार्थों को जानता है। प्रवचनसार गाथा 23 'आदाणाण पमाणं.....' के अनुसार आत्मा को ज्ञान प्रमाण और ज्ञान को ज्ञेय प्रमाण कहा है, €योंकि ज्ञेय लोकालोक रूप हैं और ज्ञान उन सबको जानता है इसलिये सर्वगत है। आत्मा ज्ञान प्रमाण होने से उसे भी सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक कहा गया है।

अन्य मत के लोग कण-कण में भगवान् मानते हैं और इसी कारण ईश्वर को सर्वव्यापी कहते हैं परन्तु जैन मत के अनुसार लोकालोक के समस्त पदार्थों में आत्मा नहीं जाता। अत: इस अपेक्षा से आत्मा को सर्वव्यापी न कहकर ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी कहा गया है।

पुद्गल

प्रश्न : €या ऐसे शुद्ध पुद्गल परमाणु भी हैं जो अनादि से शुद्ध ही हैं और अनंतकाल तक शुद्ध ही रहेंगे ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 944)

उ र ज़ब तक पुद्गल, परमाणु रूप रहता है तब तक वह शुद्ध है। और जब वह स्कन्ध रूप हो जाता है तब अशुद्ध हो जाता है। पंचास्तिकाय गाथा 05 की टीका में आचार्य जयसेन महाराज ने कहा है कि कोई भी पुद्गल परमाणु अनादि काल से परमाणु रूप ही रहा हो ऐसा नहीं है। राजवार्तिक

में भी 5/25 की टीका में इसी प्रकार कहा गया है। इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि अनादि काल से परमाणु रूप में ही रहने वाला कोई अणु नहीं है। परन्तु श्लोकवार्तिक 2/173 की भाषा टीका में पं0 माणिकचंद जी कौन्देय ने लिखा है कि 'अनंतानंत परमाणु ऐसे हैं जो स्कन्ध अवस्था को प्राप्त नहीं हुये हैं, वे अनादि से परमाणु रूप ही हैं।' परन्तु पं0 जी ने इसका कोई आगम प्रमाण नहीं दिया है।

प्रश्न : शुद्ध पुद्गल एक समय तक ही शुद्ध रह सकता है या बहुत समय तक ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 945)

उ ार : परमाणु शुद्ध पुद्गल द्रव्य है। जब तक वह द्विअणुक आदि स्कन्धरूप से परिणमन नहीं करता है उस समय तक यद्यपि उसके गुणों में षट्गुणी हानिवृद्धि प्रतिसमय होती रहती है, फिर भी उसमें अशुद्धता नहीं आती। वह परमाणु बहुत समय तक परमाणुरूप में रह सकता है परन्तु जब भी वह अन्य अणु के साथ मिलकर स्कन्ध रूप परिणमन करेगा, तो वह अशुद्ध हो जायेगा।

एक स्कन्ध तो अनंत काल तक स्कन्धरूप में रह सकता है जैसे मेरु, कुलाचल आदि अथवा कोई कार्मण वर्गणा 70 कोडाकोडी सागर या उसके बाद भी स्कन्ध रूप में रह सकती है अर्थात् पुद्गलों के स्कन्धरूप रहने का उत्कृष्ट काल अनंत काल है।

प्रश्न : तŠवार्थ सूत्र अध्याय 05 में जो बंध व्यवस्था कही गई है वह परमाणु संबंधी है या स्कन्ध संबंधी ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 945)

उ ार : तŠवार्थसूत्र अध्याय 05 में सूत्र 33 से 37 तक पुद्गल परमाणु के परस्पर बंध का कथन है। सूत्र 33 में साधारण नियम है और सूत्र 36 में विशेष नियम है। सूत्र 33 की उत्थानिका में स्वयं श्रुतसागर सूरि ने कहा है कि अब परमाणुओं के परस्पर बंध के कारणों को बतलाने के लिये आगे का सूत्र कहते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन सूत्रों में परमाणु के बन्ध की चर्चा है।

स्कन्धों में बन्ध कैसे होता है ? इसका उ ार यह है कि स्कन्ध में सभी आठों स्पर्श, दो गंध, पाँच रस एवं पाँच वर्ण होते हैं। दो स्कन्धों में परस्पर बंध के लिये दो अधिक गुणों का नियम नहीं है। उनमें परस्पर बंध रासायनिक नियम से हो जाता है। राजवार्तिक की विभिन्न वार्तिकों से प्रतीत होता है कि स्कन्धों का परमाणु से तथा स्कन्ध का स्कन्ध से भी जो बंध होता है उसमें स्निग्ध रूक्ष गुण ही निमि ा होता है।

प्रश्न : परमाणु में आठ स्पर्शों में से 04 स्पर्श ही कहे गये हैं अन्य €यों नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 947)

उ ार : परमाणु में कोई एक वर्ण, कोई एक रूप, कोई एक गंध और दो स्पर्श पाये जाते हैं

अर्थात् स्निग्ध- रूक्ष में से कोई एक और शीत-उष्ण में से कोई एक। किसी भी आचार्य ने परमाणु में हल्का या भारी तथा कड़ा या नरम इनमें से किसी स्पर्श का निर्देश नहीं किया है। हल्का या भारी तथा कड़ा या नरम ये गुण तो स्कन्ध अवस्था में होते हैं, परमाणु अवस्था में नहीं होते। सभी आचार्य इस संबंध में एक मत हैं।

प्रश्न : जब एक जघन्य अंश वाला परमाणु अधिक अंश वाला होता है तो उसमें निमित्त क्या है ? यह परिणमन स्वाभाविक है या वैभाविक ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 949)*

उ र जब जघन्य अंश वाला परमाणु दो अंश रूप परिणमता है तो उस परिणमन में कालद्रव्य निमित्त होता है। परमाणु के गुणों में जो भी परिणमन होता है वह उसका स्वाभाविक परिणमन है। शुद्ध परमाणु रूप से रहना सो स्वभावद्रव्यपर्याय है। शुद्ध परमाणु में वर्णादि से, अन्य वर्णादि रूप परिणमना स्वभाव गुण पर्याय है। परमाणु शुद्ध द्रव्य है अत: उसके गुण भी शुद्ध हैं और इसीलिये उन गुणों में जो भी परिणमन होता है वह स्वाभाविक परिणमन है। जब वह परमाणु अन्य परमाणु के साथ बन्ध को प्राप्त हो जाता है तो वह स्कन्धरूप अशुद्ध पुद्गल द्रव्य पर्याय हो जाती है और उसके गुण भी अशुद्ध हो जाते हैं और तब उन गुणों का परिणमन भी विभाव परिणमन होता है। जब तक परमाणु स्कन्धरूप नहीं परिणमता, तब तक वह स्वयं शुद्ध और उसके गुणों का परिणमन स्वाभाविक परिणमन है।

प्रश्न : नियमसार गाथा 25 के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का कारण परमाणु है ऐसा कहा है परन्तु वनस्पति का कारण परमाणु क्यों नहीं कहा ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 950)*

उ र आचार्यों ने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार धातुयें मानी हैं। इन चारों धातुओं का कारण परमाणु एक ही प्रकार का है अर्थात् ये चारों धातुयें सामान्य परमाणु से बनती हैं। परमाणु को जैसा बाह्य निमित्त मिलता है वह उस धातु रूप परिणमन जाता है। अन्य मत वाले लोग चारों धातुओं के परमाणु अलग-अलग मानते हैं परन्तु उनकी मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि चारों धातुओं के परमाणु एक ही प्रकार के हैं। वनस्पति धातु नहीं है, वनस्पति के लिये पृथ्वीआदि चारों धातुयें कारण अवश्य हैं इसलिये वनस्पति के लिये किसी परमाणु को कारण नहीं कहा गया है।

प्रश्न : शब्द गुण है या पर्याय ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 952)*

उ र शब्द को यदि गुण माना जाये तो उसका कभी नाश नहीं होना चाहिये। स्पर्श, रस आदि के समान शब्द भी प्रत्येक अवस्था में रहना चाहिये, जबकि ऐसा नहीं है। स्कन्धों के परस्पर टकराने से शब्द उत्पन्न होता है। शब्द योग्य वर्गणाओं से समस्त लोक भरा पड़ा है। जहाँ-जहाँ बहिरंग कारण सामग्री मिलती है वहाँ-वहाँ वे भाषा वर्गणायें शब्दरूप से स्वयं परिणमन कर जाती हैं। शब्द के योग्य

उपादान कारण भाषा वर्गणायें लोक में सर्वत्र हैं किन्तु निमिǽा कारण के अभाव में वे शǴदरूप परिणमन नहीं कर सकतीं। जहाँ-जहाँ निमिǽा कारण मिलता है वहाँ-वहाँ वे भाषा वर्गणायें शǴदरूप परिणमन कर जाती हैं। अन्य वर्गणायें शǴद रूप परिणमन नहीं करतीं। अंतरंग और बहिरंग कारणों से शǴद की उत्पǽि होती है। इसलिये शǴद गुण नहीं हो सकता, वह तो पर्याय है €योंकि गुण की उत्पǽि या विनाश कभी नहीं होता है।

प्रश्न : श□ द और प्रकाश किस इन्द्रिय के विषय हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 963)

उ□ ार शǴद वर्गणा जब तक शǴद रूप परिणमन नहीं करती है तब तक कर्ण इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होती। जब वह शǴद रूप से परिणमन कर जाती है तब कर्णेन्द्रिय की विषय होती है। पुद्गल की अन्य पर्यायें जैसे - छाया, प्रकाश, अंधेरा आदि चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य हैं।

प्रश्न : ज्ञानावरण कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 30 कोड़ाकोड़ी सागर कही है तो €या उन स्कन्धों के परमाणु 30 कोड़ाकोड़ी सागर तक उसी रूप बने रहते हैं अलग-अलग नहीं होते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 955)

उ□ ार प्रत्येक कार्मण वर्गणा में अनन्त परमाणु होते हैं। जब ज्ञानावरण कर्म का तीव्रतम कषाय के साथ बन्ध होता है तब बंध को प्राप्त होने वाली कार्मण वर्गणाओं में 30 कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति पड़ती है अर्थात् 30 कोडाकोडीसागर की आबाधा 30×100 = 3000 वर्ष हुई। उसके बाद शेष स्थिति काल में जितने समय होते हैं उतने समयों में प्रतिसमय उस कर्म के अनंत परमाणु रूप स्कंध उदय में आते रहेंगे। सबसे अंतिम समय में अर्थात् 30 कोडाकोडीसागर पूर्ण होने के अन्तिम समय में जो कर्म उदय में आयेगा उसमें भी अनंत परमाणु होंगे और वे परमाणु 30 कोडाकोडी काल तक बंधे ही रहेंगे।

प्रश्न : तǽवार्थसूत्र अध्याय 8/2 में 'कर्मणो योग्यान् पुद्गलान्' लिखा है इससे €या समझना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 960)

उ□ ार पुद्गल की 23 प्रकार की वर्गणायें हैं। उनमें से मात्र 05प्रकार की वर्गणायें हमारे उपयोग में आती हैं।

1. आहार वर्गणा- इससे तीन शरीर और श्वासोच्छवास बनते हैं।
2. तैजस वर्गणा- इससे तैजस शरीर बनता है।
3. भाषा वर्गणा- इससे शǴद बनते हैं।
4. मनो वर्गणा- इससे द्रव्यमन का निर्माण होता है।
5. कार्मण वर्गणा- इससे कर्म बनते हैं।

उपर्युक्त पाँचों वर्गणाओं में से कषाय सहित होता हुआ जीव मात्र कार्मण वर्गणाओं को कर्मरूप परिणमन कराता है अन्य 22 प्रकार की वर्गणायें कर्मरूप परिणमन करने की शक्ति नहीं रखती हैं। कार्मण द्रव्य वर्गणा भी आठ प्रकार की है अर्थात् आठ कर्मरूप परिणमन करने की योग्यता वाली है। सामान्य से तो कार्मण वर्गणा एक प्रकार की ही होती है परन्तु परिणमन की योग्यता के अनुसार 8 प्रकार की कही गई है अर्थात् जो कार्मण वर्गणा ज्ञानावरणरूप परिणमन करने की योग्यता रखती है उसी के स्कन्ध ज्ञानावरणकर्म रूप परिणमन करते हैं उनमें अन्य कर्मरूप परिणमन की शक्ति नहीं होती है।

प्रश्न : समयसार गाथा 392 और 398 में रूप और वर्ण ये दोनों शŠद अलग-अलग प्रयुक्त हुये हैं इसका €या कारण है ? ये दोनों तो पर्यायवाची शŠद हैं। *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 960)*

उ□ ार :सर्वार्थसिद्धि 5/5 की टीका में आचार्य ने रूप का अर्थ मूर्तिक लिया है अर्थात् मूर्तिकपने को रूप से कहा जाता है और जो काला, पीला, आदि पाँच प्रकार का वर्ण है उसे वर्ण कहा जाता है। ये पाँच भेद वर्ण के हैं रूप के नहीं। इस प्रकार ये दोनों शŠद पर्यायवाची नहीं हैं इन दोनों के अर्थ अलग-अलग हैं।

प्रश्न : सर्वार्थसिद्धि 1/17 की टीका में रूपादिक गुणों को अमूर्त कहा गया है। जब पुद्गल मूर्तिक है तब उसके गुण अमूर्तिक कैसे ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 961)*

उ□ ार :तŠवार्थसूत्र 5/41 में **द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः** गुण की परिभाषा इस प्रकार कही है कि जो निरन्तर द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और अन्य गुणों से रहित हैं, वे गुण हैं। पुद्गल में मूर्त एक पृथक् गुण है जिसके कारण पुद्गल मूर्त होता है किन्तु पुद्गल के वर्णादिक गुणों में मूर्त गुण नहीं रहता €योंकि एक गुण में अन्य गुण नहीं रहते, अन्यथा वह गुण भी स्वतंत्र द्रव्य हो जायेगा। इस प्रकार वर्णादि गुणों को मूर्त नहीं कहा जा सकता, वे अमूर्त हैं। इसी प्रकार जीव में ज्ञान और दर्शन गुण चेतन स्वभाव वाले हैं अन्य चारित्र आदि गुण यद्यपि आत्मा में हैं फिर भी उनको अचेतन गुण कहा है।

प्रश्न : द्रव्यसंग्रह गाथा 07 में 'ववहारा मु□ ा बंधादो' ऐसा कहा है अर्थात् व्यवहार नय से कर्म बंध से सहित होने के कारण जीव मूर्तिक है। तो €या जीव के संबंध से पुद्गल को भी अमूर्तिक कहा जा सकता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 961)*

उ□ ार :जीव के साथ बंध को प्राप्त हुआ सूक्ष्म कार्मण वर्गणारूप पुद्गल भी उपचार से अमूर्तिक भाव को प्राप्त कर लेता है। आलापपद्धति सूत्र क्र. 28 में 21 स्वभावों का नाम निर्देश किया गया है जिसमें 14वां मूर्त स्वभाव और 15वां अमूर्तस्वभाव है। सूत्र क्र. 29 में जीव और पुद्गल इन दोनों

द्रव्यों में 21 स्वभाव कहे गये हैं अर्थात् जीव में भी मूर्त और अमूर्त दोनों स्व ाव हैं और पुद्गल में भी मूर्त ओर अमूर्त दोनों स्वभाव हैं। इस प्रकार पुद्गल के भी उपचार से अमूर्तत्व स्वभाव कहा गया है।

धर्म-अधर्म-आकाश-काल

प्रश्न : धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य का मात्र स्वाभाविक परिणमन ही होता है या वैभाविक भी ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 963-64)

उ□ ारआलाप पद्धति में धर्म, अधर्म और आकाश इन तीन द्रव्यों में 21 स्वभावों में से 16 स्वभाव कहे गये हैं अर्थात् इन तीनों द्रव्यों में चेतन स्वभाव, मूर्तस्व ाव, विभाव स्वभाव, उपचरित स्वभाव और अशुद्ध स्वभाव नहीं होते हैं। जब इन तीन द्रव्यों में विभाव स्वभाव और अशुद्ध स्वभाव हैं ही नहीं, तब इनका वैभाविक रूप परिणमन किस प्रकार हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है। काल द्रव्य में बहु प्रदेशी स्वभाव भी नहीं होता अर्थात् काल द्रव्य में 15 स्वभाव होते हैं। उसमें भी विभाव स्वभाव और अशुद्ध स्वभाव न होने से वैभाविक परिणमन क ाी नहीं हो सकता है।

प्रश्न : जो द्रव्य है वह गुण या पर्याय स्वरूप है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 964)

उ**ǽ**र- द्रव्य, गुण और पर्याय में यद्यपि प्रदेश भेद नहीं है तथापि संज्ञा, सं या, लक्षण आदि की अपेक्षा भेद है। ये तीनों पृथक् पृथक् संज्ञायें हैं। गुण अनेक हैं, पर्यायें अनेक हैं और द्रव्य एक है। द्रव्य का लक्षण सत् है, गुण का लक्षण 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' यह है और द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं। इस प्रकार संज्ञा, सं या और लक्षण की अपेक्षा जो द्रव्य है वह गुण या पर्याय नहीं है।

प्रश्न : जीव और पुद्गल के अलावा शेष चार द्रव्य निष्क्रिय कहे हैं तब फिर इनमें परिणमन कैसे माना जाये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 964)

उ□ ार तǽवार्थसूत्र अध्याय 5/7 में 'निष्क्रियाणि च' के अनुसार इन चारों द्रव्यों को निष्क्रिय कहा गया है। यहाँ पर निष्क्रिय श□ द का अर्थ, जो परिस्पंद व चलनरूप क्रिया के अभाव वाले हों, लिया गया है। अर्थात् ये चारों द्रव्य परिस्पंद रहित हैं अर्थात् इनमें हिलना डुलना नहीं होता तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने रूप चलन क्रिया से रहित हैं। इस अपेक्षा इन चारों को निष्क्रिय कहा गया है। इन चारों द्रव्यों में अनंतानंत अगुरुलघुगुण के स्वभाव से जो षट्स्थान वृद्धि हानि रूप वर्तना हो रही है, उस रूप उत्पाद-व्यय प्रतिसमय होता ही है, €योंकि द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों हमेशा पाये जाते हैं। इन सभी द्रव्यों में इस प्रकार उत्पाद-व्ययरूप परिणमन होने में काल द्रव्य निमि□ ा है।

प्रश्न : सोनगढ़ से प्रकाशित मोक्षशास्त्र अध्याय 10/8 की टीका में कहा है कि जीव और पुद्गल की गति स्वभाव से इतनी ही है कि वह लोक के अंत तक ही गमन करता है अर्थात् वास्तव में जीव की अपनी योग्यता ही अलोक में जाने की नहीं है, अतएव वह अलोक में नहीं जाता। धर्मास्तिकाय का अभाव तो इसमें निमिž मात्र है। €या उनका कथन आगम स मत है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 965)

उ□ ार : गमन रूप क्रिया में जीव और धर्मद्रव्य दोनों ही कारण हैं। यदि जीव में स्वयं की शक्ति न हो तो भी गमन नहीं हो सकता और यदि धर्मद्रव्य न हो तो भी गमन नहीं हो सकता। पंचास्तिकाय गाथा 87 के अनुसार लोक और अलोक का विभाग ही धर्म और अधर्मद्रव्य के कारण हुआ है। यदि धर्म और अधर्म द्रव्य, गति और स्थिति में कारण न होते तो अलोकाकाश में भी जीव और पुद्गल पाये जाते। वास्तविकता यह है कि राजवार्तिक के अनुसार लोकाकाश के आगे गति में कारण भूत धर्मास्तिकाय नहीं है अत: लोकाकाश के परे सिद्धों की गति नहीं होती। जहाँ तक धर्मास्तिकाय द्रव्य है वहाँ तक जीव और पुद्गलों का गमन होता है ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार गाथा 184 में स्पष्ट कहा है कि धर्मास्तिकाय के अभाव से उसके ऊपर कोई नहीं जा सकता है। यदि उपर्युक्त मोक्षशास्त्र का कथन सही होता तो आचार्य कुन्दकुन्द ने इस गाथा में यह €यों नहीं कहा कि आगे अलोकाकाश में जीव की जाने की शक्ति, स्वभाव से ही नहीं है। सोनगढ़ प्रकाशित मोक्ष शास्त्र में जो शक्ति का अभाव कहा गया है वह आगम विरुद्ध है। संभवत: निमि□ ा के प्रसंग के भय से उनको उपादान शक्ति सीमित करनी पडी़ है। अत: उपर्युक्त सूत्र का भावार्थ आगम विरुद्ध है। यदि यह मान लिया जाये कि जीव व पुद्गल में लोकाकाश तक ही गमन करने की उपादान शक्ति है तो फिर उमास्वामी महाराज ने 'धर्मास्तिकायाभावात्' सूत्र €यों लिखा। जबकि कोई भी सूत्र अनर्थक नहीं होता है। अत: सही मान्यता यही है कि लोकाकाश के बाहर धर्मद्रव्य का अभाव होने से मुक्त जीव का गमन अलोकाकाश में नहीं होता है। इसी प्रकार पुद्गल परमाणु भी चौदह राजु से आगे गमन नहीं कर सकता है।

प्रश्न : जीव और पुद्गल के अलावा अन्य चार द्रव्य अरूपी हैं, हमारे अनुभव में नहीं आते। इनको किस प्रकार माना जाये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 972)*

उ□ ार : जिस प्रकार अकेले मिट्टी के पिण्ड से घड़ा उत्पन्न नहीं होता। उसके लिये कु हार, चक्र, चीवर आदि अनेक बाह्य कारण अपेक्षित होते हैं उसी तरह गति और स्थिति भी अनेक बाह्य कारणों की अपेक्षा करती है। इनमें सबकी गति और स्थिति के लिये साधारण कारण क्रमश: धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य होते हैं। इसी प्रकार अवगाहनहेतुत्व गुण के द्वारा आकाश द्रव्य का भी अनुमान होता है। काल द्रव्य का भी वर्तना हेतुत्व गुण के द्वारा अनुमान होता है। जीव और पुद्गल चार प्रकार के कार्य

करते हैं, कभी चलते हैं कभी रुकते हैं कभी स्थान पाते हैं और परिणमन करते हैं। इन चारों के अलावा अन्य कोई क्रिया इन दो द्रव्यों में नहीं होती। अत: इन चारों क्रियाओं के निमि ा स्वरूप धर्मादि चार द्रव्यों का अनुमान किया जाता है।

प्रश्न : अवकाश देना आकाश का ही असाधारण गुण €यों कहा गया ? अन्य द्रव्य भी तो परस्पर एक दूसरे को स्थान देते हैं। सिद्धों में भी तो अवगाहनत्व गुण पाया जाता है फिर उसका €या प्रयोजन ?
(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 974)

उ र यदि आकाश के अलावा अन्य द्रव्यों में भी अवकाश देने का असाधारण गुण माना जायेगा तो उनको भी समस्त द्रव्यों को अवकाश देना चाहिये। नियम तो यह है कि बड़ा द्रव्य, छोटे द्रव्यों को स्थान देता है तो फिर अनंत आकाश द्रव्य को कौन स्थान देगा ? इससे स्पष्ट होता है कि क्षेत्र की अपेक्षा आकाश से बड़ा कोई द्रव्य नहीं है। अत: आकाश ही अन्य समस्त द्रव्यों को स्थान देने वाला होने से उसका यही असाधारण गुण उचित है। आकाश द्रव्य का अन्य कोई आधार नहीं है उसे स्वप्रतिष्ठ कहा गया है।

प्रश्न : समय को अविभागी माना जाये या कथञ्चित् सविभागी भी माना जा सकता है ?
(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 976)

उ र इस विषय में अनेकांत है। समय अविभागी भी है और सविभागी भी। कोई भी कार्य एक समय से कम काल में समाप्त नहीं होता है, इस अपेक्षा से समय अविभागी है किन्तु एक समय में 14 राजू गमन करने पर, एक राजू कितने समय में गया, इस अपेक्षा से सविभागी भी है। धवल पु. 13 पृ. 21 से 24 में कहा गया है कि इसी प्रकार परमाणु का विभाग नहीं हो सकता, इस अपेक्षा से परमाणु निरवयव है, किन्तु दो परमाणुओं का परस्पर देश स्पर्श होता है, इस अपेक्षा से परमाणु सावयव है। €योंकि अन्यथा स्कंधों की उत्पZि नहीं बन सकेगी।

प्रश्न : अन्य द्रव्यों के परिणमन में काल द्रव्य सहकारी कारण है तो काल द्रव्य के परिणमन में कौन सहकारी कारण होगा ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 977)*

उ र जिस प्रकार ज्ञान पर को भी जानता है और अपने को भी जानता है इसलिये ज्ञान को दीपक के समान स्वपरप्रकाशक कहा जाता है। आकाश द्रव्य अन्य समस्त द्रव्यों को स्थान देता है और स्व को ी स्थान देता है । आकाश द्रव्य को स्थान देने के लिये अन्य द्रव्य की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार काल द्रव्य भी अन्य द्रव्यों के परिणमन में कारण होता है ओर स्व के परिणमन में भी कारण है। यह भी मानना उचित नहीं होगा कि एक कालाणु दूसरे कालाणु के परिणमन में कारण होता है।

अत: ऐसी मान्यता बनानी चाहिये कि प्रत्येक कालद्रव्य अन्य द्रव्यों के परिणमन के साथ – साथ अपने परिणमन में भी सहकारी कारण होता है।

प्रश्न : किन्हीं एकान्तियों की ऐसी मान्यता है कि सर्वज्ञ ने आकाश के अंत को जान लिया है, अत: आकाश को सांत मानना चाहिये। €या उनकी यह मान्यता आगम स मत है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1135)

उ र सर्वज्ञ ने आकाश द्रव्य को अनंतरूप से जाना है और आगम में भी आकाश द्रव्य को अनंत कहा गया है। यदि आकाश द्रव्य को सांत मान लिया जाये तो प्रश्न यह होता है कि आकाश के पश्चात् (बाहर) या है ? यदि कुछ है तो वह सातवाँ द्रव्य कौन सा है ? इस प्रकार सातवें द्रव्य के पश्चात् आठवाँ, और आठवें के पश्चात् नौवां आदि कहना पड़ेगा, जिससे अनवस्था दोष आ जाता है। अत: आकाश द्रव्य अनंत है यह सिद्ध हो जाता है। आकाश द्रव्य को अनंत कहने वाले सर्वज्ञता को अस्वीकार करने वाले नहीं हैं बल्कि आगम के अनुसार मान्यता वाले हैं। इस प्रकार सर्वज्ञता की आड़ में उपर्युक्त युक्तियों द्वारा नियतिवाद की सिद्धि की जा रही है उसको श्री अमितगति आचार्य ने पञ्चसंग्रह में गृहीत मिथ्यात्व कहा है।

आस्रव

प्रश्न : जिस समय भावास्रव होता है या उसी समय द्रव्यास्रव होता है या अगले समय में ? या बंध भी उसी समय में होता है या अगले समय में ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 978)

उ र आस्रव और बंध का भिन्न समय नहीं होता है। जिस समय में कर्मास्रव होता है उसी समय में बंध भी होता है। अन्यथा कषाय सहित जीव के 10वें गुणस्थान के अन्त समय में जो कर्मास्रव हुआ है उसका बंध अकषाय जीव के 11वें या 12वें गुणस्थान के प्रथम समय में मानना पड़ेगा, जो उचित नहीं है। जिस प्रकार दीपक और प्रकाश इन दोनों में दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है फिर भी इन दोनों की उत्पत्ति को युगपत् कहा गया है 'युगपत् होते हू प्रकाश दीपकतैं होई'। इस प्रकार भावास्रव, द्रव्यास्रव, और द्रव्यबंध तथा भावबंध एक ही समय में होते हैं।

प्रश्न : जीव के विभाव परिणमन में कर्मबंध कारण है या अन्य कोई ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 980)

उ र आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने समयसार गाथा 278–279 में कहा है कि जैसे स्फटिक मणि आप शुद्ध है वह ललाई आदि रंगरूप आप तो नहीं परिणमती, परन्तु वह अन्य लाल आदि द्रव्य के मेल होने पर उन स्वरूप परिणमन करती है। इसी प्रकार जीव आप शुद्ध है, वह रागादि विभाव रूप

स्वयं नहीं परिणमता, परन्तु वह अन्य रागादि दोषरूप द्रव्यकर्मों से रागादि विभाव रूप किया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि जीव के विभाव रूप परिणमन में द्रव्यकर्म कारण है क्योंकि समस्त द्रव्यकर्म का क्षय हो जाने पर जब जीव मुक्त हो जाता है, तो विभाव परिणमन का भी अ ाव हो जाता है।

प्रश्न : पाप और पुण्य जीव के हैं या पुद्गल के ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 981)

उ ार शुभाशुभ भाव न तो जीव के परिणाम हैं और न केवल पुद्गल के। क्योंकि यदि जीव के परिणाम होते तो सिद्धों में भी होने चाहिये। और यदि केवल पुद्गल के परिणाम होते तो मेज, कुर्सी आदि में भी होने चाहिये थे परन्तु ऐसा नहीं होता। पुण्य और पाप रूप परिणाम तो जीव और पुद्गल की बंध अवस्था में होते हैं। अत: जब उपादान की मु यता से वर्णन किया जाता है तब इनको जीव का कह दिया जाता है और जब निमिǯा की मु यता से कथन किया जाता है तो इनको पुद्गल का कह दिया जाता है। यह कथन पद्धति का भेद है। शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में पुण्य और पाप दोनों अवस्तु हैं।

प्रश्न : भाव सहित क्रिया का फल होता है। कुछ क्रियायें भावरहित भी तो होती हैं, तो उनका फल होता है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 981)

उ ार मन, वचन और काय की क्रिया भाव सहित भी होती है और भाव शून्य भी होती है। किन्तु कर्मों का आस्रव हर हालत में होता है और वह कर्मास्रव कम से कम एक समय की स्थिति वाला अवश्य होता है और अपना फल देकर जाता है। यदि कोई कहे शरीर, वचन और मन तो पुद्गलमय हैं इनकी क्रिया से जीव को आस्रव क्यों होता है ? इसका उǯार है कि शरीर का आत्मा के साथ एकत्व हो रहा है, इसलिये शरीर आदि जड़ की क्रिया से जीव के आस्रव होता है।

यदि यह कहा जाये कि भावशून्य क्रियाओं का फल नहीं होता, सो ऐसा एकान्त नहीं है, जैसे अर्हन्तपरमेष्ठी की कर्मोदय जनित विहार आदि भावशून्य शारीरिक क्रिया का फल मोक्ष देखा जाता है। (देखें प्रवचनसार गाथा 45 की अमृतचंद्रस्वामी की टीका)। यहाँ भावशून्य क्रिया का फल मोक्ष स्वीकार किया है। संयम में दोष भी दो प्रकार से लगते हैं एक बहिरंग और दूसरा अंतरंग। उसमें मात्र काय चेष्टा संबंधी बहिरंग हैं और उपयोग अर्थात् भावसहित अंतरंग हैं। यदि दोष, मात्र बहिरंग हो तो मात्र आलोचना से उसका प्रतिकार होता है और यदि अंतरंग अर्थात् भावसहित हो तो उसके लिये प्रायश्चिǯा का विधान है। भावसहित क्रिया का फल विशेष होता है और ावशून्य क्रिया का फल अल्प होता है। बचपन में बच्चे को माता-पिता नित्य मंदिर ले जाते हैं। यद्यपि बच्चे की वह क्रिया भावशून्य है तो भी उसके संस्कार से वह बड़ा होकर नित्य देवदर्शन करता रहता है।

दिग बरेतर समाज में शारीरिक क्रिया निरपेक्ष, मात्र भावों से मोक्ष की प्राप्ति स्वीकार की है।

जिसका खण्डन आचार्य कुन्दकुन्द ने 'णग्गो हि मो€खमग्गो' कहकर किया है। इस प्रकार शारीरिक क्रिया का भी प्रभाव पड़ता है और आन्तरिक परिणामों का भी।

प्रश्न : पुण्य को हेय मानें या उपादेय ? €या पुण्य मोक्ष प्राप्ति में सहायक है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 983)

उ र हेय और उपादेय की व्या या, अपेक्षा से की जाती है। जैसे परमात्मप्रकाश गाथा 13 की टीका में कहा है कि बहिरात्मा की अपेक्षा अन्तरात्मा उपादेय है किन्तु परमात्मा की अपेक्षा वही अन्तरात्मा हेय है। इसी प्रकार अयोगी जिन की अपेक्षा शुभास्रव हेय है किन्तु साधक की अपेक्षा पुण्य उपादेय है। जब भी अरहंत पद प्राप्त होगा तो वह उच्च गोत्र, वज्रर्षभनाराच संहनन, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति नामकर्म तथा मनुष्यायु के उदय में ही होगा। अत: इन पुण्यप्रकृतियों के उदय के साथ अरहंत पद का अन्वय व्यतिरेक घटित होने से कार्य कारण भाव सिद्ध हो जाता है €योंकि जिसके बिना जो नहीं होता वह उसका कारण है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसीलिये 'पुण्णफला अरहंता' ऐसा लिखा है। धवल पु. 1/105 में भी तीर्थङ्कर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण आदि को पुण्य का फल कहा है। पापी के लिये पाप हेय है और पुण्य उपादेय। जबकि शुद्धोपयोगी को पुण्य हेय है और शुद्धोपयोग उपादेय। पुण्य की व्या या इसी तरह करना आगम स मत है।

प्रश्न : सोनगढ़ मान्यता वाले लोग पुण्य को विष्ठा कहते हैं। €या उनका कथन सत्य है ? जबकि वे अपने ही शास्त्रों में लिखे हुये मंगलाचरण में 'पुण्यप्रकाशकं पापप्रणाशकम्' बोलते हैं, तो वास्तविकता या है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1126)

उ र किसी भी आचार्य ने पुण्य के लिये विष्ठा जैसा अपवित्र शŸद का प्रयोग नहीं किया है। आचार्य पूज्यपाद ने तŸवार्थसूत्र 6/3 की टीका करते हुये पुण्य की परिभाषा लिखी है कि जिससे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है। तो आत्मा को पवित्र करने वाला पुण्य विष्ठा के समान निन्दनीय और ज्ञानी जनों के लिये त्याज्य कैसे हो सकता है अर्थात् जो शास्त्र पुण्य प्रकाशक हैं ऐसे शास्त्रों का स्वाध्याय, यदि पुण्यविष्ठा है तो, करने योग्य कैसे माना जाये। अर्थात् पुण्य विष्ठा नहीं है।

प्रश्न : स्त्री पर्याय की प्राप्ति के कारण €या है ? स्त्री पर्याय से छूटने का उपाय €या है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 985)

उ र असत्य बोलने की आदत, अतिसन्धानपरता, छल-कपट, दूसरों की बुराइयाँ ढूंढना, और बढ़ा हुआ राग आदि स्त्रीवेद के आस्रव हैं। इन कार्यों को करने वालों को स्त्री पर्याय प्राप्त होती है।

स्त्री पर्याय में उत्पन्न न होने का मु य उपाय स यक्दर्शन है €योंकि स यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होते हैं, ऐसा शास्त्रों में उल्लेख है।

प्रश्न : वर्तमान में मिथ्यात्व, अविरति आदि रूप आस्रव सबके पाया जाता है या किन्हीं के नहीं भी होता? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 985)

उ र : मिथ्यात्व के कारण होने वाला आस्रव मात्र प्रथम गुणस्थान तक, त्रस अविरति से होने वाला आस्रव चतुर्थ गुणस्थान तक, शेष ग्यारह अविरति से होने वाला आस्रव पंचम गुणस्थान तक, प्रमाद से होने वाला आस्रव छठे गुणस्थान तक, कषाय से होने वाला आस्रव दसवें गुणस्थान तक पाया जाता है और योग से होने वाला आस्रव तेरहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इनसे ऊपर के गुणस्थानों में ये आस्रव नहीं पाये जाते। वर्तमान में सप्तम् गुणस्थान तक के जीव भरत क्षेत्र में विद्यमान हैं। अत: उन ऊपर के गुणस्थान वाले जीवों में, निचले गुणस्थान में होने वाले आस्रवों का अभाव रहता है अर्थात् सप्तम् गुणस्थानवर्ती मुनिराज के मिथ्यात्व अविरति और प्रमाद संबंधी आस्रव नहीं होते हैं। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के मिथ्यात्व संबधी आस्रव नहीं होता है।

प्रश्न : शुद्धोपयोग में कर्मों का आस्रव और बंध होता है या नहीं?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1014)

उ र : प्रवचनसार गाथा 9 की टीका में अप्रमŽाविरत नामक सप्तम गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय (बारहवां गुणस्थान) तक छह गुणस्थानों में तारत यता से बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग कहा गया है। शुद्धोपयोगरूप अवस्था को वीतराग निर्विकल्प समाधि कहा गया है। इन गुणस्थानों में भी सप्तम गुणस्थान में आठों कर्मों का, आठवें और नौवें गुणस्थान में आयु कर्म को छोड़कर सात कर्मों का तथा दसवें गुणस्थान में आयु और मोहनीय के अलावा छह कर्मों का बंध निरन्तर होता रहता है। आहारकद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध शास्त्रों में आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक कहा गया है। उपर्युक्त गुणस्थानों में यद्यपि बुद्धिपूर्वक राग का अभाव है, फिर भी कर्मोदय से उत्पन्न हुए अबुद्धिपूर्वक राग से आस्रव और बंध होता है। वीतराग स यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से बंध नहीं होता। शुद्धोपयोग के ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में भी योग के कारण सातावेदनीय का प्रतिसमय आस्रव और बंध होता ही है। अत: शुद्धोपयोग में भी कर्मों का आस्रव और बंध मानना आगमस मत है।

बंध

प्रश्न : स यग्दृष्टि के स य€प्रकृति नामक दर्शनमोहनीय कर्म प्रकृति का उदय होने से किन कर्मों का बंध होता है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1000)

उ□ ार: स यग्दृष्टि जीव के स य€प्रकृति नामक कर्मप्रकृति के उदय से कोई बंध नहीं होता। बंध के कारणों में से उसके मिथ्यात्व तो है ही नहीं और अविरति, प्रमाद और कषाय ये चारित्र मोह के उदय के कारण होते हैं। स यग्दृष्टि जीव के दसवें गुणस्थान तक चारित्र मोहकर्म के कारण निरन्तर कर्मबंध होता है। नियम यह है कि दर्शन मोहनीय की केवल मिथ्यात्व प्रकृति तथा चारित्रमोहनीय कर्म का उदय ही बंध का कारण है शेष कर्मों का उदय बंध का कारण नहीं है अर्थात् अन्य कर्मों के उदय से नवीन बंध नहीं होता। स यक्प्रकृति के उदय से किसी प्रकृति का बंध नहीं होता है।

प्रश्न : 53 भावों में से कौन-कौन भाव बंध में कारण हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1001)

उ□ ार : धवला पु. 7/1 के अनुसार औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मोक्ष के कारण हैं। औदयिक भाव बंध के कारण हैं तथा पारिणामिक भाव बंध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित हैं।

औदयिक भाव 21 प्रकार के हैं उनमें से 4 गति, अज्ञान, असिद्धत्व, ये छः भाव बन्ध में कारण नहीं हैं शेष 15 भाव बंध में कारण हैं।

प्रश्न : सं€लेश और विशुद्धि का €या लक्षण है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1002)

उ□ ार: क्रोध,मान,माया और लोभ का तीव्र उदय होना सं□ लेश है। विषयानुराग को सं□ लेश कहा गया है अथवा असाता के बंध योग्य परिणामों को सं€लेश कहते हैं।

कषायों के मन्द उदय को अथवा धर्मानुराग को विशुद्धि कहते हैं। साता के बंध योग्य परिणामों को विशुद्धि कहते हैं।

साता के बंध योग्य कहने पर साता वेदनीय, स्थिर, शुभ, सुस्वर, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र इन 08 प्रकृतियों का ग्रहण करना चाहिये €योंकि इनके बंध में परस्पर अविनाभाव संबंध है। असाता के बंध योग्य कहने पर असातावेदनीय, अस्थिर, अशुभ, दुःस्वर, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और नीचगोत्र के बंध का ग्रहण करना चाहिये। €योंकि बंध की अपेक्षा उनका अविनाभाव संबंध है। इनमें से भव्य जीवों के लिये विशुद्धि उत्कर्ष का कारण है और सं€लेश उत्कर्ष का कारण नहीं है।

प्रश्न : अबुद्धिपूर्वक बंध और उदय किसको कहते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1004)

उ□ ार: आप तो करना नहीं चाहता और पर निमि□ ा से जबरदस्ती से हो, उसको आप जानता है वह कार्य अबुद्धिपूर्वक कहा जाता है। तथा जो अपने ज्ञानगोचर ही नहीं, प्रत्यक्ष ज्ञानी उसे जानते हैं तथा उसके अविनाभावी चिह्न कर अनुमान से जानते हैं वह भी अबुद्धिपूर्वक कहा जाता है। पञ्चेन्द्रिय और मन के व्यापार बिना ही मोहकर्म के उदय का निमिž पाकर मोह, राग-द्वेष रूप जब परिणमन

होता है, वह जीव के जानने में नहीं आता और उसके अनुभव में भी नहीं आता है वह अबुद्धिपूर्वक कहलाता है। अबुद्धिपूर्वक बंध का कारण राग-द्वेष अथवा कषाय भाव हैं। जब अप्रमǯादशा में चारित्रमोह के मंद उदय से अबुद्धिपूर्वक रागद्वेष होता है। तो उसका ज्ञान व अनुभव नहीं होता है।

इस अबुद्धिपूर्वक रागद्वेष को मेटने के लिये निरंतर अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करते रहना चाहिये।

प्रश्न : €या रत्नत्रय कर्मबंध में कारण है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1005)

उ र : देवायु पुण्यप्रकृति है। श्री महाबंध 2/256 के अनुसार ''शुभोपयोग वाला विशुद्ध परिणामी उत्कृष्ट आबाधा के साथ स्थिति बंध करने वाला कोई छठे गुणस्थानवर्ती साधु 33 सागर की देवायु का बंध करता है'' अर्थात् जघन्य रत्नत्रय से युक्त साधु के देवायु आदि पुण्यप्रकृतियों का बंध होता है। तǯवार्थसूत्र में भी सराग संयम और संयमासंयम को देवायु के आस्रव में कारण कहा है। पंचास्तिकाय गाथा 164 में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं स यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है इसलिये वे सेवने योग्य हैं ऐसा साधु पुरुषों ने कहा है। उन स यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से बंध भी होता है और मोक्ष भी होता है। यदि स यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप, कषायसहित जीव के होते हैं तो बंध के कारण हैं और कषाय रहित जीव के होते हैं तो स्वर्ग मोक्ष दोनों के कारण हैं। जैसे दीपक से काजल और प्रकाश दोनों उत्पन्न होते हैं वैसे ही रत्नत्रय सहित तप, सांसारिक सुख और मोक्ष इन दोनों का कारण है। महाबंध पु. 4/186 पर कहा है कि आहारकद्विक के बंध में संयम कारण है और तीर्थकर प्रकृति के बंध में स य€त्व कारण है।

प्रश्न : शुभोपयोग से निर्जरा होती है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1022)

उ र : शुभभावों से कर्मनिर्जरा भी होती है। आचार्यों के अनुसार प्रथम से तीसरे गुणस्थान तक घटता हुआ अशुभोपयोग, चौथे से छठे गुणस्थान तक बढ़ता हुआ शुभोपयोग और सातवें से बारहवें गुणस्थान तक बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग होता है। पञ्चम गुणस्थान और षष्टम् गुणस्थान में प्रतिसमय असं यातगुणी निर्जरा कही गई है और इन गुणस्थानों में ध र्यध्यान तथा शुभोपयोग होता है। तǯवार्थसूत्र में भी 'परेमोक्षहेतू' सूत्र द्वारा ध र्यध्यान को निर्जरा पूर्वक मोक्ष में कारण कहा है। धवला पु. 13/81 में मोहनीय कर्म का विनाश करना ध र्यध्यान का फल कहा गया है। जय धवला पु. 1/6 में कहा है कि यदि शुभ परिणामों से और शुद्धपरिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाये तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता।

उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट है कि शुभोपयोग से निर्जरा होने का आगम में स्पष्ट कथन पाया जाता है।

प्रश्न : समयसार में अविरत स यग्दृष्टि को अबंधक कहा है वह कैसे ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1003)

उ र : जहाँ पर स यग्दृष्टि को अबंधक कहा है वहाँ पर अपेक्षा यह है कि उसके मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी का उदय न होने से अनंत संसार का कारण ऐसा बंध नहीं होता। वहाँ उदाहरण है कि वृक्षकी जड़ कट जाने पर यद्यपि वृक्ष हरा है फिर भी उसका नाश माना जाता है। उसी प्रकार अनंत संसार बंध के कारणो का अभाव होने पर अब जो बंध हो रहा है वह किञ्चित् है। इस कारण उसको अबंधक कह दिया है। वास्तव में चतुर्थगुणस्थानवर्ती को सर्वथा अबंधक कहना आगम विरुद्ध है।

प्रश्न : अविरत स य€त्वी के बंध, संवर और निर्जरा किस-किस कषाय की होती है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1025)

उ र : अविरत स यग्दृष्टि जीव के अनंतानुबंधी क्रोध, मान ,माया लोभ और स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद का संवर होता है। जब वह अनंतानुबंधी की विसंयोजना करता है तब उसके अनंतानुबंधी कषाय की सžा समाप्त होकर अन्य कषायरूप परिणमित हो जाती है। औपशमिक और क्षायोपशमिक स य€त्व की अवस्था में अनंतानुबंधी कषाय की स्तिवुकसंक्रमण द्वारा निर्जरा करता है। उसके शेष कषायों का यथासंभव बंध प्रतिसमय हुआ करता है।

प्रश्न : दो अमूर्तिक द्रव्यों का बंध किस अवस्था में हो सकता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1032)

उ र : दो अमूर्तिक द्रव्यों का परस्पर बंध कभी नहीं होता। बंध तो मात्र जीव और पुद्गल का होता है तथा पुद्गल और पुद्गल का होता है। जीव और पुद्गल का बंध होने पर असमानजातीय द्रव्य पर्याय उत्पन्न होती है और पुद्गल का पुद्गल से बंध होने पर समानजातीय द्रव्य पर्याय उत्पन्न होती है। यद्यपि लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर छहों द्रव्य पाये जाते हैं और चारों अमूर्तिक द्रव्य भी पाये जाते हैं फिर भी उन अमूर्तिक द्रव्यों का आपस में बंध कभी नहीं होता है।

प्रश्न : कानजी स्वामी द्वारा उपदेशित मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण अध्याय 03 पृ. 122 पर कहा है कि हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प पुण्यबंध होता है। €या यह मान्यता ठीक है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1395)

उ र : सोनगढ़ वालों की इस मान्यता के अनुसार हिंसा करते समय भी कसाई सर्वथा पाप से युक्त नहीं होता किन्तु मन्द कषायरूप पुण्य भी होता है। उनकी यह मान्यता आर्ष ग्रन्थों के विरुद्ध है €योंकि हिंसा करते समय कसाई के मन्द कषाय रूप पुण्य नहीं हो सकता है। यदि कषायी के मन्द

कषाय हो तो वह हिंसा नहीं कर सकता है। श्री ज्ञानार्णव 8/12 में कहा है कि जीवों के घात करने से पाप कर्म उपार्जन होता है, उस पाप कर्म से जीव नरक में जाता है और वहां पर जो दु:ख भोगने पड़ते हैं वे वचन के अगोचर हैं। नरकायु का बंध तीव्र कषाय के उदय में होता है, मन्द कषाय के उदय में नरकायु का बंध नहीं होता, उस समय मनुष्यायु और देवायु का बंध होता है। कसाई के हिंसा करते समय तीव्र कषाय होती है। जिससे उसके नरकायु का बंध होता है।

यद्यपि हिंसा के समय कसाई के तैजस शरीर, कार्मण शरीर, अगुरुलघु, निर्माण आदि ध्रुवबंधी नामकर्म की कुछ पुण्य कर्म प्रकृतियों का भी बंध होता है किन्तु यह बंध मन्द कषाय के कारण नहीं होता है। ये प्रकृतियाँ ध्रुवबंधी हैं इस कारण होता है। तीव्र कषाय होने के कारण उन पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति बंध होता है और अनुभाग बंध अल्प होता है। किसी ाी आचार्य ने या किसी भी आर्ष ग्रन्थ में उपर्युक्त कथन नहीं लिखा है। इसलिये सोनगढ़ वालों की उपर्युक्त मान्यता ठीक नहीं है।

प्रश्न : €या स यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण भी होता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1374)

उ□ ार :1. भावसंग्रह गाथा 404-405 में कहा है कि स यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य संसार का कारण कभी नहीं होता, यह नियम है। यदि निदान न किया जाये तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण होता है। जिस स यग्दृष्टि के शुभ परिणाम और शुभ लेश्यायें हैं तथा जो स यग्ज्ञान और स यक्चारित्र को धारण करने वाला है, ऐसा स यग्दृष्टि यदि निदान नहीं करता है तो मरकर स्वर्ग लोक में ही जाता है। आगे गाथा 417 से 424 में कहा है कि देव बनकर भी वह पूर्वभव की धर्मप्रभावना को अवधिज्ञान से जानकर निरन्तर नंदीश्वरद्वीप आदि की वन्दना करता हुआ आयुपूर्ण कर मनुष्यलोक में उच्चकुल और महान् वैभव सहित उत्पन्न होता है। पूर्व संस्कार वश विरक्त हो संयम धारण कर लेता है और चिरकाल के सञ्चित किये हुये पुण्य कर्मोदय से शीघ्र ही सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है। इससे सिद्ध है कि स यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है, यह जानकर गृहस्थ को यत्न पूर्वक पुण्य उपार्जन करते रहना चाहिये।

2. समयसार पृ. 186 पर दी गई टीका में कहा है कि निश्चय स यग्दर्शन के अभाव में जब सराग स य€त्व को धारण करता है तब शुद्धात्मा को उपादेय करके पर परा से मोक्ष के कारणभूत तीर्थङ्कर आदि पुण्यकर्मों को बांधता है।

3. पद्मनंदीपञ्चविंशतिका 6/58 में कहा है कि सज्जनों के द्वारा सदा हृदय में धारण की गईं ये बारह भावनायें उस उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन करती हैं जो स्वर्ग और मोक्षप्राप्ति में कारण हैं।

4. पद्मनंदीपञ्चविंशतिका 14/16 में कहा है कि हे जिनेन्द्र ! चर्ममय नेत्र से भी आपका दर्शन होने पर वह पुण्य प्राप्त होता है जो भविष्य में केवलदर्शन और केवलज्ञान को उत्पन्न करता है।

5. पञ्चास्तिकाय गाथा 85 की टीका में कहा है कि यद्यपि भव्य को रागादि दोष रहित

शुद्धात्मानुभूति सहित निश्चय धर्म सिद्ध गति के लिये उपादान कारण है तथापि निदानरहित परिणामों से उपार्जित तीर्थङ्कर कर्म प्रकृति और उ म संहनन आदि विशिष्ट पुण्य रूप धर्म भी सिद्धगति के लिये सहकारी कारण होता है।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों से स्पष्ट है कि स यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है।

प्रश्न : €या पुण्य और पाप को समान मानना उचित है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1382)

उ र पुण्य और पाप दोनों समान हैं, यह कथन वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित मुनि की अपेक्षा से ठीक है। ब्रह्मदेवसूरि जी ने परमात्मप्रकाश गाथा 55 की टीका में कहा है कि पुण्य और पाप समान हैं, यह कथन सुनकर प्रभाकर भट्ट बोला कि यदि ऐसा ही है तो जो ऐसा मानते हैं उनको तुम दोष **€**यों देते हो ? तब आचार्य ने कहा कि यदि गुप्ति से गुप्त शुद्धात्मानुभूति स्वरूप वीतराग निर्विकल्प समाधि में ठहरकर पुण्य-पाप को समान जानते हैं तो योग्य है। परन्तु जो इस निर्विकल्प समाधि को न पाकर भी पुण्य-पाप को समान जानकर गृहस्थावस्था में दान-पूजा आदि शुभ क्रियाओं को छोड़ देते हैं और मुनिपद में छह आवश्यक कर्मों को छोड़ देते हैं वे दोनों बातों में भ्रष्ट हैं। वे निन्दा योग्य हैं। उनको दोष ही है ऐसा जानना।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि पुण्य और पाप को एकान्त से समान मानना आगम स मत नहीं है।

प्रश्न : €या एक ही परिणाम से बंध और मोक्ष दोनों होना संभव है ? जो बंध का कारण है वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1366)

उ र श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने एक ही कारण से मोक्ष भी कहा है और सांसारिक सुखों की प्राप्ति भी कही है। जिसके कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं-

1. इष्टोपदेश श्लोक नं. 4 में स्पष्ट कहा है कि जो परिणाम भव्य जीवों को मोक्ष प्रदान करते हैं, ऐसे आत्म परिणामों के लिये स्वर्ग कितनी दूर है अर्थात् कुछ दूर नहीं है।

2.स्वाध्याय के मंगलाचरण में कहा जाता है कि 'कामदं मोक्षदं चैव' अर्थात् मुनिजन बिन्दु सहित ओंकार का नित्य ध्यान करते हैं वह ओंकार का ध्यान भोगों तथा मोक्ष को देने वाला है। इसलिये ओंकार को नमस्कार है।

3. श्रीधवला पु. 13/287 में कहा है कि स्वर्ग का मार्ग और मोक्ष का मार्ग होने से रत्नत्रय का नाम 'प्रवर' है।

4. सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि तप को पुण्यबंध का कारण माना गया है इसलिये वह निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है ? यह कोई दोष नहीं है **€**योंकि अग्नि के समान, तप एक होते हुये भी इसके

अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे अग्नि से प्रकाश, भस्म, अंगार, तपन आदि अनेक कार्य उपल ध होते हैं, वैसे ही तप भी सांसारिक विभूतियाँ और कर्मक्षय रूप मोक्ष, इन दोनों का कारण है।

5. जयधवल 1/9 में कहा है कि अरहंत नमस्कार, तत्कालीन बंध की अपेक्षा असं यातगुणी कर्मनिर्जरा का कारण है। अर्थात् इससे बंध और निर्जरा दोनों होते हैं।

6. तǔवार्थसूत्र में देवायु के बंध के कारण बताते हुये सरागसंयम, देशसंयम आदि को देवायु के बंध के कारण भी कहा है और असं यात गुणी निर्जरा का कारण भी कहा है।

7. रत्नकरण्डश्रावकाचार में स यग्दर्शन को देवेन्द्र पद, चक्रवर्ती पद आदि सांसारिक विभूतियों के साथ ही शिवमजरमरुज ..... अर्थात् मोक्ष का भी कारण कहा है।

8. धवल पु. 8 में सोलहकारण भावनाओं को तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण बताया है। इसमें दर्शनविशुद्धि भावना का तात्पर्य निर्दोष स यग्दर्शन से है। अर्थात् निर्दोष स यग्दर्शन मोक्ष में कारण तो है ही, तीर्थंकर आदि पुण्य प्रकृतियों के बंध में ी कारण है।

प्रश्न : कर्म मूर्तिक हैं और जीव अमूर्तिक है। इन दोनों का स बन्ध कैसे हो सकता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1190)

उ र : श्री जयधवला पुस्तक 1/288 में कहा है कि जीव अनादिकाल से कर्मबंधन से बंधा हुआ है, इसलिए कथंचित् मूर्तिपने को प्राप्त हुए जीव के साथ मूर्त कर्मों का स बन्ध बन जाता है। श्री प्रवचनसार गाथा 174 की टीका में आचार्य जयसेन महाराज ने कहा है कि यद्यपि यह आत्मा निश्चय से अमूर्त है तथापि कर्मबंधन के वश से व्यवहारनय से मूर्त होता हुआ, द्रव्य बन्धन के नि ाǔभूत रागादि विकल्परूप परिणामों को करता है। इससे मूर्त द्रव्यकर्म के साथ संश्लेष स बन्ध होता है।

उपर्युक्त आगम प्रमाणों से सिद्ध है कि आत्मा कर्म स बन्ध के कारण कथञ्चित् मूर्तिक है। अत: मूर्तिक आत्मा का, मूर्तिक कर्म से स बन्ध होना संभव है।

संवर-निर्जरा

प्रश्न : संवर और निर्जरा करने के लिये ा या आवश्यक है ?*(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1032)

उ र : आचार्यों ने मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को संसार का कारण कहा है और इनसे उल्टे स यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग को मोक्ष का कारण कहा है। स यग्दर्शन हो जाने पर 41 प्रकृतियों का संवर हो जाता है। देशव्रत हो जाने पर 10 प्रकृतियों का, महाव्रत होने पर 04 प्रकृतियों का, अप्रम ा होने पर 06 प्रकृतियों का, अकषाय होने पर 58 प्रकृतियों का, और अयोग होने पर 01 प्रकृति का संवर हो जाता है। इस प्रकार स यग्दर्शनादि पाँच कारणों के द्वारा समस्त बंध योग्य 120 प्रकृतियों का संवर हो जाता है अथवा पञ्च महाव्रत, तीन गुप्ति, पाँच

समिति, दशधर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहों को जीतना, पाँच पापों के त्यागरूप चारित्र और अंतरंग एवं बहिरंग तप द्वारा संवर और निर्जरा होती है।

प्रश्न : पहली प्रतिमा वाले जीव के भी पांचवां गुणस्थान होता है और ऐलक तथा आर्यिका का भी पंचम गुणस्थान होता है तो €या इनकी संवर या निर्जरा में कोई विशेषता होती है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1034)

उ ार : पंचम गुणस्थान में पहली प्रतिमा से ग्यारहवीं प्रतिमा तक तथा आर्यिकाओं को ी सभी को 51 प्रकृतियों का संवर होता है। यद्यपि पंचम गुणस्थान में आगे-आगे उ˘ारो˘ार विशुद्धता बढ़ती जाती है जिसके कारण स्थिति बंध तथा अनु ाग बंध में अन्तर पड़ता है। विशुद्धि के कारण निर्जरा भी आगे आगे अधिक होती है, तथापि संवर की 51 प्रकृतियों की सं या में कोई अंतर नहीं आता।

प्रश्न : गुप्ति आदि से पाप का संवर होता है या पुण्य का भी ? €या गुप्ति के काल में बंध भी होता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1036)

उ ार : गुप्ति आदि से मात्र पाप प्रकृतियों का संवर होता हो सो भी बात नहीं है, उनसे देवायु व देवगति आदि पुण्यप्रकृतियों का भी संवर सातवें, आठवें गुणस्थान में होता है। पांचवें गुणस्थान में मनुष्यायु व मनुष्यगति आदि छह पुण्य प्रकृतियों का संवर होता है। इससे स्पष्ट है कि गुप्ति आदि से अधिकांशतया पाप प्रकृतियों का संवर होता है परन्तु कुछ पुण्य प्रकृतियों का भी संवर होता है।

गुप्ति आदि कषायों के अभावस्वरूप हैं अत: वे संवर का कारण हैं किन्तु गुप्ति आदि के काल में जो कषायें और योग हैं वे पुण्यास्रव के कारण हैं। इसी तरह महाव्रत भी संवर और निर्जरा के कारण हैं परन्तु महाव्रती के उस समय जो कषाय व योग होता है वह पुण्यास्रव का कारण है। इसीलिये कहा जाता है कि महाव्रत से बंध नहीं होता , महाव्रती के बंध होता है।

प्रश्न : अविपाक निर्जरा किसे कहते हैं ? यह कौन से गुणस्थान से प्रार भ होती है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1037)

उ ार : आत्मा के जिन परिणामों के द्वारा अनुदय प्राप्त कर्मों का गालन किया जाता है उन परिणामों को अविपाक भाव निर्जरा कहते हैं और इन कर्मों का पृथक होना अविपाक द्रव्य निर्जरा है। इन परिणामों में मु यता तप की है। यह निर्जरा प्रथमोपशम स य€त्व के अभिमुख सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव के अपूर्वकरण से प्रार भ होती है। अविपाक निर्जरा में कर्म निर्जीण रस होकर झड़ते हैं। अविपाक निर्जरा दो प्रकार की है- द्रव्यरूप और भावरूप। जबकि सविपाक निर्जरा द्रव्य निर्जरा रूप

है भाव निर्जरा रूप नहीं। तž वार्थसूत्र में अध्याय 9 के 'स यग्दृष्टिश्रावक.....' वाले सूत्र में जो असं यात गुणश्रेणी निर्जरा के स्थान कहे गये हैं वे अविपाक भाव निर्जरा के स्थान हैं।

प्रश्न : असंयत स यग्दृष्टि जीव के प्रतिसमय निर्जरा होती है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1041)

उ□ ार : मिथ्यात्व अवस्था से जब जीव स य€त्व अवस्था को प्राप्त होता है तब स यग्दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् परिणामों की विशुद्धता के कारण एक अन्तर्मुहूर्त तक असं यात गुणश्रेणी निर्जरा होती है। स यग्दर्शन प्राप्त करने के एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् यह असं यातगुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती। पूजा, सामायिक आदि के काल में विशुद्धि के अनुसार कभी निर्जरा होती है। इतना विशेष है कि अनंतानुबंधी कषाय की विसंयोजना के समय तथा दर्शनमोह की क्षपणा के समय असं यात गुणश्रेणी निर्जरा होती है, किन्तु व्रतों के अभाव में प्रतिसमय असं यातगुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती। धवला 8/83 में कहा है कि कर्मों की असं यातगुणश्रेणी निर्जरा का कारण व्रत है।

प्रश्न : €या मुनि से कभी असंयत स यग्दृष्टि की निर्जरा असं यात गुणी हो सकती है ? €या एक मुनिराज से कभी नारकी जीव की निर्जरा असं यातगुणी हो सकती है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1043)

उ□ ार : अविरत स यग्दृष्टि जीव, चाहे वह नारकी ही €यों न हो, जब अनंतानुबंधी की विसंयोजना करता है उस समय अनंतानुबंधी की प्रकृतियों के द्रव्य का स□ व से क्षय करता है इस अपेक्षा से उसके महाव्रती की अपेक्षा असं यातगुणी निर्जरा कही है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती के, दर्शनमोह की क्षपणा के काल में भी, दर्शन मोह के सž व का क्षय करने से मुनिराज ने असं यातगुणी निर्जरा कही गयी है।

प्रश्न : समयसार गाथा 193 में स यग्दृष्टि के भोग को निर्जरा का कारण कहा गया है यह किस अपेक्षा से है ? □ या उस समय उसके कर्मबंध नहीं होता ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1049)

उ□ ार : समयसार में वीतराग स यग्दृष्टि की अपेक्षा से वर्णन किया गया है। वीतराग स यग्दृष्टि के भोग सामग्री में राग नहीं है अत: वीतरागता के कारण निर्जरा होती है। किन्तु सराग स यग्दृष्टि के भोग सामग्री में राग है अत: राग के कारण उसके बंध ी होता है।

इस प्रश्न का उžार यह भी हो सकता है कि स यग्दृष्टि जीव के सच्चा श्रद्धान होने के कारण भोगादिक में आसक्ति नहीं होती, अत: जो भोग तीव्र बंध के कारण थे उनकी बजाय मन्द बंध हुआ। इसलिये उसको तो गिना नहीं और निरासक्त ाव के कारण जो निर्जरा हुई, उस वजह से उपचार से भोग को भी बंध का कारण न कहकर निर्जरा का कारण कह दिया। यदि भोग ही निर्जरा के कारण हों तो उनको छोड़कर स यग्दृष्टि मुनिपद €यों धारण करें। (मोक्षमार्गप्रकाशक)

मोक्ष, सिद्ध

प्रश्न : सिद्धों की अवगाहना अन्तिम शरीर से कितनी कम होती है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1050)

उ र इस विषय में दो मत हैं - कुछ आचार्य तो चरमशरीर से किञ्चित् कम सिद्धों की अवगाहना का कथन करते हैं (बृहद्द्रव्यसंग्रह)। अन्य आचार्य चरम शरीर की अवगाहना का 2/3 प्रमाण सिद्धों की अवगाहना का कथन करते हैं। मनुष्य के शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना 525 धनुष है। उसका 2/3 भाग 350 धनुष होता है। जघन्य अवगाहना ाी साढ़े तीन हाथ का 2/3 अर्थात् 7/3 हाथ होता है। तिलोयपण्णिा में आचार्य यतिवृषभ ने दोनों मतों का उल्लेख किया है। यद्यपि दोनों मतों में से कोई एक मत ही सत्य होगा, परन्तु इस समय केवली और श्रुतकेवली का अभाव होने से, इन दोनों में से कौन सत्य है, इसका निर्णय होना संभव नहीं है। अत: दोनों मत मानने योग्य हैं।

प्रश्न : अनेकांतवाद तो खिचड़ीवाद है, या जीव भी कभी अजीव हो सकता है ? या सिद्ध भगवान् कथञ्चित् सुखी और कथञ्चित् 'सुखी नहीं' हो सकते हैं ? या सिद्ध भगवान् कथञ्चित् मुक्त या कथञ्चित् अमुक्त हैं ? इसको किस तरह समझा जाये। *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1051)

उ र एक जीव द्रव्य में अनेक धर्म पाये जाते हैं। प्रत्येक द्रव्य का लक्षण भिन्न है अत: जीवत्व धर्म की अपेक्षा से जो द्रव्य जीव है वह ही द्रव्य अन्य धर्मों की अपेक्षा से अजीव है। श्री अकलंक देव ने स्वरूप संबोधन श्लोक नं. 3 में कहा है कि प्रमेयत्वादिक धर्मों की अपेक्षा से वह परमात्मा अचेतन रूप है और ज्ञान दर्शन की अपेक्षा से चेतनरूप है। इसी प्रकार आत्म द्रव्य जीव भी है और अजीव भी। सिद्ध भगवान् आत्मिक सुख की अपेक्षा सुखी हैं किन्तु इन्द्रिय जनित सुख से रहित होने कारण वे ही सिद्ध भगवान् सुखी नहीं हैं। स्वरूप संबोधन श्लोक नं. 1 में अकलंक स्वामी ने कहा है कि जो परमात्मा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों से, रागादिक भावकर्मों से व शरीरादिक नोकर्मों से मुक्त है और स यग्ज्ञान आदि स्वाभाविक गुणों से अमुक्त है उस परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।

अनेकान्तवाद खिचड़ीवाद नहीं है। अनेक धर्ममय होना वस्तु का स्वरूप है। अत: अनेकांतवाद को जिनमत की विशेषता मानकर स्वीकार करना चाहिये। जो प्राणी अनेकांतवाद को स्वीकार नहीं करेगा, उसका संसाररूपी रोग बढ़ता ही जायेगा।

प्रश्न : लेच्छखंड में उत्पन्न होने वाले जीव उसी भव से मोक्ष जा सकते हैं या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1053)

उ र कर्मभूमिज लेच्छ दो प्रकार के हैं - प्रथम पांच लेच्छखंडों में उत्पन्न होने वाले लेच्छ और द्वितीय आर्यखण्ड में उत्पन्न होने वाले शक, यवन आदि लेच्छ। आर्यखण्ड के लेच्छ तो मुनि

दीक्षा के योग्य नहीं हैं €योंकि वे शूद्रों में आते हैं। लेच्छ खंड में उत्पन्न होने वाले लेच्छ मनुष्य यदि चक्रवर्ती के साथ आर्यखण्ड में आ जायें और विवाहादि संबंध पालें तो उनके दीक्षा का ग्रहण संभव है।

लेच्छखण्ड से आकर मुनिदीक्षा लेने वालों के संबंध में मु तार साहब का चिन्तन है कि लÅधसार गाथा 195 की संस्कृत टीका से ऐसा प्रतीत होता है कि उन लेच्छों के ऐसे उत्कृष्ट संयमलाउ ध स्थान नहीं होते जो उसी भव से मोक्ष हो सके। परन्तु पूज्य आचार्य श्री का मत है कि किसी भी ग्रन्थ में ऐसे लेच्छों के मोक्ष होने का निषेध नहीं पाया जाता। अत: जिनदीक्षा और मोक्ष प्राप्ति मानने में कोई आपाउ ा नहीं है।

प्रश्न :€या गणधर तद्भव मोक्षगामी ही होते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1053)

उ उ रमु तार साहब के अनुसार सभी गणधरों के तद्भव मोक्षगामी होने का नियम नहीं है। परन्तु मु तार साहब ने इस संबंध में कोई आगम प्रमाण नहीं दिया।

पं0 बखतराम कृत 'बुधिविलास' में चतुर्थकाल में होने वाले सभी 1453 गणधरों को तद्भव मोक्षगामी कहा है। श्री धवलाकार ने गणधरों को सर्वावधिज्ञान और विपुलमती मन:पर्यय ज्ञान से विभूषित कहा है। ऐसे मुनिराज तो नियम से चरमशरीरी ही होते हैं। आर्यिका ज्ञानमती जी ने जो गणधरों का पूजाविधान लिखा है उसमें सभी गणधरों को तद्भव मोक्षगामी कहा है। इस संबंध में ये सभी प्रमाण भी विचारणीय हैं।

प्रश्न : हुण्डक संस्थान वालों को अर्थात् जिनका शरीर अत्यन्त बेडौल है, दीक्षा कैसे मिलती होगी ? अर्थात् हुण्डक संस्थान से मोक्ष भी नहीं होता होगा ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1055)

उ उ रगो मटसार कर्मकाण्ड गाथा 271 की टीका में कहा गया है कि छहों संस्थानों का उदय तेरहवें गुणस्थान तक है। तेरहवें गुणस्थान के अन्त में उनकी उदय व्युच्छिÅि हो जाती है। चौदहवें गुणस्थान में किसी भी संस्थान का उदय नहीं रहता, और मोक्ष चौदहवें गुणस्थान से होता है अर्थात् हुण्डकसंस्थान वाले तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के इतना सूक्ष्महुण्डपना होता है कि शरीर विद्रूप नहीं होता। अत: छहों संस्थान वालों को मोक्ष संभव है।

प्रश्न : योग आत्मा की शक्ति है और शक्ति का कभी अभाव होता नहीं है, अत: मुक्त जीवों में भी योगशक्ति मानना उचित है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1058)

उ उ र ग् मटसार जीवकाण्ड के अनुसार पुद्गल विपाकी शरीरनामकर्मोदय से मन, वचन, काय युक्त जीव की कर्मों के आगमन में कारण शक्ति को योग कहते हैं। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि

योग नामक शक्ति संसारी जीवों के होती है मुक्त जीवों के नहीं। जहाँ तक शरीरनामकर्म का उदय है वहीं तक योगशक्ति है अर्थात् यह जीव का स्वभाव नहीं है अत: मुक्तजीवों में योगशक्ति संभव नहीं है।

प्रश्न : सिद्ध भगवान् के किस कर्म के क्षय से कौन सा गुण प्रकट होता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1058)

उ र :सिद्ध भगवान् के ज्ञानावरण कर्म के नाश से केवलज्ञान, दर्शनावरण के नाश से केवलदर्शन, वेदनीय कर्म के नाश से अव्याबाधत्व, मोहनीय कर्म के नाश से स य€त्व, आयु कर्म के नाश से सूक्ष्मत्व, नामकर्म के नाश से अवगाहनत्व, गोत्रकर्म के नाश से अगुरुलघुत्व और अन्तराय कर्म के नाश से अनंतवीर्य ये आठ गुण प्रकट होते हैं।

समकित दर्शनज्ञान, अगुरुलघु अवगाहना।
सूक्ष्म वीरजवान निराबाध गुण सिद्ध के।।

प्रश्न : उपर्युक्त गुणों में अनंत सुख का नाम नहीं आया जबकि सिद्धों में अनंत सुख पाया जाता है। तो यह अनंतसुख किस कर्म के नाश से प्राप्त होता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1058)

उ र इस स बन्ध में विभिन्न आचार्यों के मत इस प्रकार हैं –

1. आचार्य पद्मनन्दी ने मोहनीय कर्म के क्षय से सिद्धों में सुख माना है।

2. श्रुतसागर सूरि ने निर्वाण सुख को मोहनीय के क्षय से ही माना है। अर्थात् सुख का लक्षण अनाकुलता है। रागद्वेष अर्थात् कषाय से आकुलता होती है। चारित्रमोह का क्षय हो जाने पर रागद्वेष कषाय का अभाव हो जाने से निराकुलता प्राप्त हो जाती है। इस अपेक्षा से चारित्रमोह के क्षय से सुख प्रकट होता है।

3. आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के क्षय से सिद्धों में सुख कहा है।

4. श्री कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार चारों घातिया कर्मों के क्षय से सुख होता है योंकि जहाँ पर स्वभाव का घात है, वहाँ पर सुख नहीं हो सकता।

5. किन्हीं आचार्यों ने अव्याबाध गुण की अपेक्षा वेदनीय कर्म के क्षय से सुख माना है।

इस तरह विभिन्न आचार्यों के मत शास्त्रों में कहे गये हैं।

प्रश्न : तž वार्थसूत्र 10/9 में गति की अपेक्षा सिद्धों में ोद बताते हुये सिद्धों को चारों गतियों से सिद्धि होती है ऐसा किस प्रकार कहा है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1059)

उ र द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा न तो बंध है न मोक्ष है और न गति है। व्यवहार नय की अपेक्षा बंध, मोक्ष आदि सब अवस्थायें हैं। मनुष्यगति में ही महाव्रत और शु लध्यान होते हैं और

मनुष्यगति से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। भूतपूर्व प्रज्ञापन नय से चारों गतियों से आकर मनुष्य पर्याय प्राप्तकर जीव मुक्त होते हैं। अत: भूतपूर्व प्रज्ञापन नय से चारों गतियों से मुक्ति संभव है।

प्रश्न : सिद्धों में नौ क्षायिक लब्धियाँ होती हैं परन्तु तत्त्वार्थसूत्र 10/4 में क्षायिक स म्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शन इनका ही उल्लेख क्यों है शेष छ: का क्यों नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1065)

उ र : अरहंत व सिद्ध भगवान् के 04 घातिया कर्मों का नाश होने से क्रमश: ज्ञानावरण के नाश होने से क्षायिक ज्ञान, दर्शनावरण के क्षय होने से क्षायिक दर्शन, मोहनीय कर्म का नाश होने से क्षायिक स म्यक्त्व और क्षायिक चारित्र तथा अंतराय कर्म का नाश होने से क्षायिक दान,लाभ,भोग,उपभोग और वीर्य ये नौ क्षायिक लब्धियाँ होती हैं। कहा भी है 'नव केवल लब्धि रमा धरंत'। ये सभी लब्धियाँ अनंतकाल तक रहने वाली हैं। इनको क्षायिक भाव भी कहा जाता है। सिद्ध परमेष्ठी में नौ क्षायिकलब्धियाँ होती हैं। परन्तु उपर्युक्त सूत्र में केवल तीन लब्धियों का वर्णन है। इन तीन लब्धियों के वर्णन से शेष छह लब्धियों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। जैसा कि राजवार्तिक 10/4 की तीसरी वार्तिक में कहा है ' इन क्षायिक स म्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान में शेष छह क्षायिक लब्धियों का अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रश्न : सिद्ध भगवान् में कितनी मार्गणाओं का उल्लेख पाया जाता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1065)

उ र : सिद्ध भगवान् में पाँच मार्गणाओं का उल्लेख किया गया है शेष नौ मार्गणाओं का निषेध है। गति मार्गणा के श्री षट्खण्डागम में पाँच भेद किये गये हैं- नरकगति, तिर्यञ्च गति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धगति। इस तरह अब यदि विचार करें तो सिद्ध भगवान् में गतिमार्गणा में सिद्धगति, ज्ञानमार्गणा में केवलज्ञान, दर्शनमार्गणा में केवलदर्शन, स म्यक्त्व मार्गणा में क्षायिक स म्यक्त्व और आहार मार्गणा में अनाहारक ये पाँच मार्गणा हैं, शेष नौ नहीं हैं। जबकि संसारी जीवों में सभी 14 मार्गणा पाई जाती हैं।

प्रश्न : यदि हम ऐसा मानें कि व्यवहार मोक्षमार्ग चौथे से बारहवें गुणस्थान तक और निश्चय मोक्षमार्ग तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में होता है तो क्या उचित है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1067)

उ र : बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 39 और 40 से स्पष्ट हो जाता है कि गुण-गुणी के भेद रूप स यग्दर्शन ज्ञान चारित्र व्यवहार मोक्षमार्ग है और गुण-गुणी के अभेदरूप आत्मा निश्चय मोक्षमार्ग है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पंचास्तिकाय गाथा 160 और 161 में लिखा है कि धर्मास्तिकाय आदि का श्रद्धान सो स म्यक्त्व, अंगपूर्व संबंधी ज्ञान सो स यग्ज्ञान, और तप में चेष्टा सो स यक्चारित्र इस

प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग है। जो आत्मा इन तीनों से तन्मय है तथा अन्य कुछ भी करता नहीं है व छोड़ता नहीं है वह आत्मा निश्चय से मोक्षमार्ग कहा गया है। निश्चय मोक्षमार्ग, व्यवहार मोक्षमार्ग से तन्मय है अत: गुणस्थान कृत भेद संभव नहीं।

निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग द्रव्यानुयोग का विषय है और गुणस्थान चर्चा करणानुयोग का विषय है। इन दोनों की अलग-अलग व्या या रखनी चाहिये। करणानुयोग के अनुसार स य€त्व के तीन भेद हैं- औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक और इनके गुणस्थान भी 4 से 11, 4 से सिद्ध और 4 से 7 हैं। निश्चय और व्यवहार स य€त्व का भेद द्रव्यानुयोग से है और उसमें गुणस्थान चर्चा नहीं होती। फिर भी आचार्य जयसेन के अनुसार शुभोपयोग सहित छठवें और सातवें गुणस्थान में व्यवहार मोक्षमार्ग, शुद्धोपयोग सहित सप्तम से बारहवें गुणस्थान तक निश्चय मोक्षमार्ग और 13वें और 14वें गुणस्थान को मोक्षमार्ग का फल मानना उचित है।

प्रश्न : छह महीने आठ समय में 608 जीव अनंतकाल से निरंतर मोक्ष जा रहे हैं, तो एक दिन संसार खाली हो जाना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1084)

उ र ज्ञीवों का प्रमाण अनंतानंत है। जिसमें से निरंतर व्यय होता रहे फिर भी जिसका अंत न हो उसको अनंतानंत कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार यद्यपि नवीन जीवों की उत्पŽा नहीं होती और निरंतर मोक्ष जाने से संसारी जीवों के प्रमाण में न्यूनता भी आती है तथापि जीवों का प्रमाण अनंतानंत होने से संसार कभी खाली नहीं होगा। भव्य जीवों की सं या भी अनंतानंत है।

द्रव्य, गुण, पर्याय

प्रश्न : धर्म और गुण में €या अंतर है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1085)

उ र ब्रस्तु में गुण भी होते हैं और धर्म भी। गुण स्वभावभूत हैं, इनकी प्रतीति परनिरपेक्ष होती है। धर्मों की प्रतीति परसापेक्ष होती है। पर्यायानुसार धर्मों का आवि ार्भाव व तिरोभाव यथासंभव होता रहता है। जैसे - छोटा-बड़ा, पिता-पुत्रपना, गुरु-शिष्यपना आदि धर्म परसापेक्ष हैं। यद्यपि इन धर्मों का सद्भाव जीव में है पर ज्ञान आदि के समान ये गुण नहीं हैं। इस प्रकार गुण और धर्म में अंतर है। गुण तो धर्म हो सकते हैं किन्तु सभी धर्म गुण नहीं हो सकते।

प्रश्न : €या किसी भी गुण की एक समय में एक से अधिक पर्यायें हो सकती हैं ? जैसे चेतना गुण की एक ही समय में ज्ञान और दर्शन रूप दो पर्यायें होती हैं। सिद्धान्त €या है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1085)

उ र आत्मा में ज्ञान और दर्शन ऐसे दो भिन्न भिन्न गुण हैं। इन दोनों गुणों का कार्य प्रकाश करना है। सामान्य से इन दोनों गुणों को चेतना कहा जाता है। ज्ञान और दर्शन चेतना की पर्यायें नहीं हैं किन्तु चेतना के भेद हैं। ज्ञान अलग गुण है और दर्शन अलग गुण है। ज्ञान के मतिज्ञान आदि चार भेद कर्मकृत् हैं स्वाभाविक नहीं हैं। स्वाभाविक तो एक केवलज्ञान है। दर्शन गुण के भी चक्षुदर्शन आदि तीन भेद कर्मकृत् हैं स्वभाविक तो एक केवलदर्शन है। इस प्रकार ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के कर्मकृत् भेदों में से प्रत्येक भेद एक-एक वैभाविक गुण हो जाता है। प्रत्येक भेद की एक समय में एक ही पर्याय होती है, किसी भी भेद की एक समय में दो पर्यायें नहीं होती। यदि कोई यह कहे कि एक स्कन्ध में फिर स्पर्शगुण की चार पर्यायें कैसे होती हैं ? इसका उत्तर यह है कि स्पर्श गुण के चार भेद हैं। प्रत्येक भेद की दो-दो पर्यायें हैं अत: चार प्रकार के स्पर्श गुण की चार पर्यायें एक समय में हो सकती हैं।

प्रश्न : पञ्चाध्यायी में गुणों के दो भेद कहे हैं- अनुजीवी और प्रतिजीवी। इनकी परिभाषा क्या है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1092)

उ र किसी भी आचार्य ने अनुजीवी और प्रतिजीवी इस प्रकार गुणों के भेद नहीं किये। अत: किसी भी शास्त्र में इसकी परिभाषायें प्राप्त नहीं होती हैं।

प्रश्न : सिद्धों में नास्तित्व गुण का सद्भाव कैसे है ? नास्तित्व यह स्वभाव है या गुण ?
(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1092)

उ र आचार्य प्रणीत गुणों में गुण के दो भेद किये गये हैं- सामान्य और विशेष। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व, मूर्तत्व ये द्रव्यों के 10 सामान्य गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गति हेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व मूर्तत्व, अमूर्तत्व ये द्रव्यों के 16 विशेष गुण हैं। इन गुणों में नास्तित्व का उल्लेख नहीं है। इसलिये नास्तित्व कोई गुण नहीं है। किन्तु आलापपद्धति में जो सामान्य स्वभावों का वर्णन किया गया है उसमें नास्तिस्वभाव का उल्लेख है। द्रव्य में परचतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति स्वभाव है। पर चतुष्टय अनंत हैं इसलिये नास्ति स्वभाव भी अनंत प्रकार का हो जाता है। परस्वरूप से नहीं होना नास्ति स्वभाव का लक्षण है। द्रव्य में नास्ति स्वभाव, पर की अपेक्षा से माना गया है अत: इसका गुणों में उल्लेख नहीं किया गया है।

प्रश्न : सिद्ध भगवान् के आत्मप्रदेशों में अवगाहन गुण होने के कारण अनंत सिद्ध समा जाते

हैं इसी तरह निगोद जीव के शरीर में भी एक में एक करके अनंत जीव समा जाते हैं। तो □ या निगोदिया जीव के भी अवगाहनत्व गुण माना जाये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1097)

उ□ ार ःनाम कर्म के क्षय से सिद्धों में स्व ाविक अवगाहन गुण होता है। संसारावस्था में शरीर नामकर्मोदय के कारण वह अवगाहन गुण नहीं कहा जा सकता। निगोदिया जीवों के साधारण नामकर्म का उदय है जिसके कारण एक निगोद शरीर में अनंतानंत जीव रहते हैं, इस तरह सिद्धों और निगोदिया जीव के एक में अनेक रहने के भिन्न-भिन्न कारण हैं।

प्रश्न : प्रत्येक द्रव्य में कितने अगुरुलघु गुण होते हैं ? उनका €या स्वरूप है और अगुरुलघु गुण संसारी अवस्था में प्रगट रहता है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1097)

उ□ ार ःप्रत्येक द्रव्य में एक ही अगुरुलघु गुण होता है और इसके अनंत अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं।

आलापपद्धति में अगुरुलघु गुण की परि ाषा इस प्रकार कही गई है- अगुरुलघु गुण सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, प्रतिक्षण परिणमनशील है, आगमप्रमाण से जाना जाता है। यह सामान्य गुण है, सब द्रव्यों में पाया जाता है और इसके कारण शुद्ध द्रव्यों में षट्गुणी हानिवृद्धि रूप परिणमन होता है। संसारावस्था में जीव के कर्मोदय के कारण इस अगुरुलघु गुण का अ ाव रहता है €योंकि कर्मोदय के कारण ज्ञानादि गुणों में हानि-वृद्धिरूप परिणाम होता है। अनादिकाल से कर्म व नोकर्म से बंधे हुये संसारी जीवों में कर्मोदय कृत् अगुरुलघुपना है।

अगुरुलघु जीव का स्वाभाविक गुण नहीं है €योंकि संसारावस्था में स्वभाविक अगुरुलघुगुण का अभाव है। यदि कहा जाये कि स्वभाव का विनाश मानने पर जीव का विनाश प्राप्त होता है सो ऐसा कहना ठीक नहीं है €योंकि लक्षण का विनाश होने पर लक्ष्य का विनाश होता है। अगुरुलघु गुण जीव का लक्षण नहीं है €योंकि वह अन्य द्रव्यों में भी पाया जाता है। मुक्तजीवों में कर्मनाश होने पर स्वाभाविक अगुरुलघुगुण प्रकट हो जाता है। लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में अगुरुलघुगुण के बारे में कहा है कि इसके कारण एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य रूप और एक गुण दूसरे गुण रूप नहीं होता, पर उनका कथन आगम स मत नहीं है। €योंकि यह कार्य तो अस्तित्व गुण का है। अगुरुलघु गुण के कारण शुद्ध द्रव्यों में प्रतिसमय षट्गुणीहानिवृद्धिरूप परिणमन अर्थात् स्वभाव अर्थपर्याय होती रहती है।

प्रश्न : जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं और गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं ऐसा लिखा है €या यह लक्षण ठीक है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1116)

उ□ ार ःगुणों के समूह को द्रव्य और गुण विकार को पर्याय कहने से द्रव्य पर्याय छूट जाती है। गुणों के बिना द्रव्य नहीं हो सकता है और द्रव्य के बिना गुण नहीं हो सकते हैं। इस अपेक्षा से गुण के

समूह को द्रव्य कहा जा सकता है। गुण के विकार को गुणपर्याय कहते हैं, इस प्रकार लक्षण करना आगम स मत है।

प्रश्न : अभाव कितने प्रकार का होता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1118)

उ□ ार :अभाव चार प्रकार का होता है–

1. पर्याय के उत्पन्न होने के पूर्व में जो अभाव है वह प्राग ाव है। जैसे मिट्टी के पिण्ड में घट का अभाव।

2. आगामी पर्याय में वर्तमान पर्याय का अभाव होना प्रध्वंसाभाव है। जैसे– घट में मिट्टी की पिण्ड पर्याय का अभाव।

3. एक पुद्गल द्रव्य की एक पर्याय का दूसरे पुद्गल द्रव्य की पर्याय में जो अभाव है वह अन्योन्याभाव है। जैसे– घट पर्यायका स्वर्ण की अंगूठी पर्याय में अभाव।

4. एक द्रव्य में दूसरे द्रव्यों के असाधारण गुणों का त्रैकालिक अभाव होना अत्यन्ताभाव है। जैसे– पुद्गल द्रव्य में जीव के गुणों का अभाव ।

प्रश्न : पं0 गोपालदास जी बरैया ने दो पुद्गलों की दो पर्यायों में अन्योन्याभाव बतलाया है, उन्होंने लिखा है कि पुद्गल के अलावा अन्य जीवादिक द्रव्यों में अन्योन्याभाव होता ही नहीं है जबकि श्री जयधवला में अन्योन्याभाव प्रत्येक द्रव्य में बतलाया गया है। दोनों में से कौन सी मान्यता ठीक है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1338)

उ□ ार :जयधवल 1/251 का अर्थ करते हुये कहा है कि एक द्रव्य की एक पर्याय का, उसकी दूसरी पर्याय में जो अभाव है उसे अन्योन्याभाव कहते हैं। यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो एक द्रव्य की विभिन्न पर्यायों में कोई भेद नहीं रहेगा। अतएव एक द्रव्य की विभिन्न पर्यायों में परस्पर भेद को प्रगट करने वाले अन्योन्याभाव को स्वीकार करना ही चाहिये। यह अन्योन्याभाव सब द्रव्यों में होता है।

प्रश्न : भव्यत्वभाव, अभव्यत्वभाव ये गुण हैं या पर्याय ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1120)

उ□ ार :जीव में भव्य व अभव्य का भेद द्रव्य दृष्टि से नहीं है और न शक्ति की अपेक्षा से भव्य और अभव्य का भाव है। पर्याय दृष्टि से जीवों के भव्य व अभव्य ऐसे दो भेद हैं। पर्यायें अनेक होती हैं। पर्यायों की अपेक्षा जीव के अनेक भेद हैं जैसे संसारी व मुक्त, त्रस व स्थावर। इस प्रकार ये दोनों भाव, पर्यायें हैं। इनको अशुद्ध व्यञ्जनपर्याय कहा गया है।

प्रश्न : परिस्पंद व क्रिया ये दोनों पर्यायवाची हैं या इनमें भिन्नता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1122)

उ र : क्रिया तथा परिस्पंद कथञ्चित् एक हैं कथञ्चित् भिन्न हैं। इसी प्रकार गति व परिस्पंद भी कथञ्चित् एक हैं कथञ्चित् भिन्न हैं। मेरू तथा अकृत्रिम चैत्यालयों में गतिरूप क्रिया तो नहीं होती परन्तु प्रदेश परिस्पंद होता है। पुद्गल परमाणु में गति रूप क्रिया होती है परन्तु प्रदेश परिस्पंद नहीं होता योंकि वह एक प्रदेशी है। सिद्धों में, प्रथम समयवर्ती सिद्ध के ऊर्ध्वगति रूप ऊर्ध्वगमन है परन्तु परिस्पंद नहीं है।

प्रश्न : उत्पाद और व्यय निरपेक्ष होते हैं या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1125)

उ र : अंतरंग और बहिरंग निमिŽा के वश से जो द्रव्य की नवीन अवस्था की उत्पŽि होती है उसे उत्पाद कहते हैं। उसी प्रकार अंतरंग और बहिरंग निमिŽा के वश से पूर्वअवस्था के नाश को व्यय कहते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्पाद और व्यय बहिरंग निमिŽों की भी अपेक्षा रखते हैं। बहिरंग निमिŽा दो प्रकार के हैं सामान्य और विशेष। सभी उत्पाद और व्यय में सामान्य बहिरंग निमिŽा कालद्रव्य है और प्रत्येक उत्पाद व व्यय के लिये विशेष निमिŽा भिन्न-भिन्न हैं। यदि घट आदि विशेष पर्यायरूप कार्य का उत्पाद व व्यय निरपेक्ष माना जायेगा तो निरंतर घट की उत्पŽि होनी चाहिये। €योंकि घटरूप उत्पाद अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। किन्तु घट की निरन्तर उत्पŽि नहीं होती, अत: वह कुंभकार आदि की अपेक्षा रखता है। इससे सिद्ध है कि उत्पाद और व्यय निरपेक्ष नहीं होते।

प्रश्न : पुद्गल परमाणु और सिद्धों में भी क्रियावती शक्ति होती है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1128)

उ र : आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने प्रवचनसार गाथा 129 की टीका में क्रिया का लक्षण परिस्पंदन किया है अथवा परिस्पंद रूप पर्याय को क्रिया कहते हैं। प्रदेश परिस्पंदनरूप पर्याय अशुद्ध जीवों में और पुद्गलों में ही होती है अत: क्रियावती शक्ति अशुद्ध जीवों और पुद्गलों में होने से यह पर्याय शक्ति है द्रव्यशक्ति नहीं है। शुद्ध जीव में निष्क्रियत्व शक्ति है। पुद्गल परमाणु यद्यपि एक प्रदेशी है तथापि वह बंध को प्राप्त हो सकता है इसलिये उसको अस्तिकाय कहा है। इसी अपेक्षा से वह सक्रिय ी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि क्रियावती शक्ति अर्थात् योगशक्ति शुद्ध जीवों में नहीं है। सिद्धों में तो निष्क्रियत्व शक्ति है और योग विभाव पर्यायरूप शक्ति है।

प्रश्न : द्रव्य में उसकी भूत भविष्यत् स ी पर्याय विद्यमान रहती हैं और उनमें से क्रम से एक-एक प्रकट होती है अर्थात् सर्व पर्यायों के समूह का नाम द्रव्य है। ऐसी मान्यता आगमस मत है या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1338)

उ र : प्रत्येक द्रव्य की एक समय में वर्तमान पर्याय विद्यमान रहती है और शेष पर्यायों का उस

समय प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव रूप अभाव रहता है। यदि सर्वपर्यायों को सर्वथा सत् माना जाये तो उत्पाद और व्यय घटित नहीं होते। उत्पाद, व्यय के न होने पर सत् भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। सत् के अभाव में द्रव्य के अभाव का प्रसंग आ जायेगा।

यदि पर्याय, कारण-व्यापार के पूर्व में भी विद्यमान है तो फिर उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? और यदि वह पर्याय कारण-व्यापार से उत्पन्न होती है तो फिर उसका पूर्व में विद्यमान रहना कैसे संगत कहा जायेगा? इससे सिद्ध होता है कि एक वर्तमान पर्याय विद्यमान है, भावी पर्याय वर्तमान में विद्यमान नहीं है, किन्तु द्रव्य में उस रूप परिणमन करने की शक्ति है। जैसा कारण मिलेगा वैसी पर्याय उत्पन्न हो जावेगी। अत: सर्वपर्यायों के समूह का नाम द्रव्य है, यह लक्षण आगम स मत नहीं है और न ही किसी आचार्य ने ऐसा कहा है।

प्रश्न : क्या यह नियम माना जाये कि एक द्रव्य में एक गुण की एक ही पर्याय होती है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1117)

उ र : पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण सहवर्ती होते हैं। अत: एक द्रव्य में एक समय में अनेक गुण युगपत् रहते हैं किन्तु पर्याय एक ही होती है, क्योंकि पर्याय क्रमवर्ती है, सहवर्ती नहीं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि जो समय-समय में उत्पन्न हो और विनाश को प्राप्त हो, उसे पर्याय कहते हैं। इसलिए यह अकाट्य नियम है कि एक गुण की एक समय में एक ही पर्याय होगी।

प्रश्न : क्या सर्वज्ञ ने द्रव्य की समस्त पर्यायों को जान लिया है? क्या द्रव्य इस अपेक्षा सादि सांत है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1135)

उ र कुछ एकान्तियों की मान्यता इस प्रकार है कि "सर्वज्ञ ने प्रत्येक द्रव्य की सर्व पर्यायों को जान लिया है और वे सब पर्याय क्रमबद्ध हैं। कोई भी पर्याय सर्वज्ञ के ज्ञान से बाहर नहीं है अत: क्रमबद्धता में पड़ी हुई आदि व अंत पर्याय को सर्वज्ञ ने जान लिया है। इसलिये प्रत्येक द्रव्य सादि सांत ही है, अनादि अनंत किसी भी अपेक्षा से नहीं है। यदि सर्वज्ञ ने आदि व अंत की पर्याय को नहीं जाना है तो सर्वज्ञता का अभाव होता है। द्रव्य को अनादि अनंत कहने वाले सर्वज्ञता का लोप करते हैं।" उन एकांतियों की यह मान्यता आगमविरुद्ध है। सर्वज्ञ ने भी द्रव्य को अनादि अनंत कहा है और अनादि अनंत रूप से जाना है। यदि द्रव्य को सर्वथा सादि सांत मान लिया जाये तो यह प्रश्न होता है कि विवक्षित द्रव्य का उत्पाद सत् पदार्थ से हुआ या असत् पदार्थ से। यदि अन्य सत् पदार्थ से उत्पाद हुआ तो उस अन्य सत् पदार्थ का किसी अन्य सत् पदार्थ से उत्पाद माना जायेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा। इस युक्ति के बल से भी द्रव्य, पर्याय संतति अपेक्षा अनादि अनंत सिद्ध होता है। इस प्रकार द्रव्य को कथञ्चित् अनादि अनंत कहने वाले सर्वज्ञता का लोप करने वाले नहीं हैं।

प्रश्न : €या जीव के गुण व धर्म पुद्गल में चले जाते हैं और पुद्गल के गुण व धर्म जीव में चले जाते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1186)

उ ार : आपका प्रश्न कथंचित् सत्य है। ऐसा एकान्त नहीं है कि जीव के धर्म पुद्गल में न जाते हों और पुद्गल के धर्म जीव में न जाते हों। जब हम प्रात: जिनमन्दिर जाते हैं, तो वहाँ पर हमको जिनबि ब में वीतरागता के दर्शन होते हैं। यदि जिनबि ब में वीतरागता के दर्शन न होते, तो शास्त्रों में जिनबि ब-स्थापना का उपदेश न दिया जाता। वीतरागता आत्मा का धर्म है, जिसका दर्शन पुद्गलमयी जिनबि ब में होता है। इसी प्रकार मूर्तिकपना पुद्गल द्रव्य का गुण है, किन्तु जीव अनादिकाल से कर्मबंधन से बंधा हुआ है, इसलिए वह मूर्तभाव को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए गो मटसार जीवकाण्ड गाथा 553 में संसारी जीव को मूर्तिक और मुक्त जीवों को अमूर्तिक कहा गया है। इस प्रकार एक द्रव्य का धर्म कथंचित् दूसरे द्रव्य में ी चला जाता है।

प्रश्न : द्रव्य पर्याय के कितने भेद होते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1225)

उ ार : अनेक द्रव्य मिलकर जो एक पर्याय होती है वह द्रव्य पर्याय है। यह दो प्रकार की होती है-

(1) समान जातीय जैसे अनेक पुद्गलरूप द्विअणुक, त्रिअणुक आदि।

(2) असमान जातीय द्रव्य पर्याय- जीव और पुद्गल की मिलकर जो एक पर्याय होती है वह असमान जातीय द्रव्य पर्याय है। जैसे देव, मनुष्य आदि पर्याय।

प्रश्न : सिद्धों में वैभाविक द्रव्य और पर्यायशक्ति होती है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 928)

उ ार : किसी भी आर्षग्रन्थ में वैभाविक द्रव्यशक्ति का कथन नहीं है। अशुद्ध द्रव्यों का विभावरूप परिणमन होने से वैभाविक पर्यायशक्ति स भव हो सकती है। अशुद्ध अवस्था का अभाव हो जाने पर वैभाविक पर्यायशक्ति का भी अभाव हो जाता है। अत: सिद्धों में वैभाविक पर्यायशक्ति नहीं होती है।

प्रश्न : अमूर्तिक द्रव्यों का या आकार होता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 933)

उ ार : प्रत्येक द्रव्य में प्रदेशत्व गुण पाया जाता है, अत: प्रत्येक द्रव्य का आकार होना स्वाभाविक है। जीव का शरीरप्रमाण होकर जो आकाररूप संस्थान बनता है, वह व्यवहारनय से जीव का आकार है और निश्चयनय से जीव अनिर्दिष्ट संस्थान (आकार) वाला है। सिद्ध भगवान् के आत्मप्रदेशों का आकार भी पूर्व शरीर के आकाररूप होता है, इसलिए वह आकार भी निश्चयनय का

विषय नहीं है। निश्चयनय से तो सभी सिद्धों में लोकाकाश के बराबर असं यात प्रदेशीपना है।

धर्म और अधर्म द्रव्य पुरुषाकाररूप हैं। आकाश का आकार समघनरूप है। पुद्गल द्रव्य विभिन्न आकारों में पाये जाते हैं और काल द्रव्य का आकार अणु के आकार के समान है।

प्रश्न : स य€त्वरहित आत्मा में जिनत्व शक्तिरूप में है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 938)

उ□ ार :बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 14 की टीका के अनुसार जो मिथ्यादृष्टि भव्यजीव हैं, उनमें बहिरात्मा तो व्यक्तिरूप से रहता है और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से रहते हैं। भावी नैगमनय की अपेक्षा व्यक्तिरूप से भी रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्य जीव में बहिरात्मा व्यक्तिरूप से तथा अन्तरात्मा और परमात्मा शक्तिरूप से ही रहते हैं। भावी नैगमनय की अपेक्षा भी अभव्य में अन्तरात्मा तथा परमात्मा व्यक्तिरूप से नहीं रहते। शुद्धनय की अपेक्षा परमात्मा की शक्ति तो मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य, इन दोनों में समान है। यदि अभव्य जीव में शक्तिरूप से भी केवलज्ञान न हो, तो उसके केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार अनेकान्त से स य€त्वरहित जीव में जिनत्व शक्तिरूप से जानने योग्य है।

प्रश्न : गुणी में गुण सर्वाङ्ग में व्यापकरूप से रहते हैं या एकदेश में ? गुण और गुणी में भेद है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1085)

उ□ ार :गुण और गुणी में तादात य स बन्ध है, अत: गुणी में गुण सर्वाङ्ग व्यापक है। द्रव्य, गुण और पर्याय के बराबर है, हीनाधिक नहीं है। आत्मा भी अपने ज्ञान गुण से हीन अधिकरूप न होकर परिणमित होता है, अत: आत्मा ज्ञानप्रमाण है। यदि ज्ञान को आत्मा के बराबर न माना जाय, तो हीन होने पर आत्मा के अचेतनपना आ जायेगा। यदि अधिक माना जाये, तो ज्ञान के अचेतनपना आ जायेगा। प्रवचनसार की गाथा 106 की टीका के अनुसार गुण और गुणी में भिन्नप्रदेशत्व का अभाव है अर्थात् जो गुणी के प्रदेश हैं, वे ही गुण के प्रदेश हैं।

यद्यपि संज्ञा, सं या, लक्षण तथा प्रयोजन की अपेक्षा गुण-गुणी में कथंचित् भेद है, तथापि द्रव्य के परिणाम की अपेक्षा गुण-गुणी में भेद नहीं है।

प्रश्न : आत्मा में अव्याबाध अनन्तसुख किस कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1094)

उ□ ार :प्रवचनसार गाथा 18 की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने सुख का लक्षण अनाकुलता बताया है। आकुलता की उत्पादक इच्छा है और इच्छा चारित्र मोहनीय कर्मोदय से उत्पन्न होती है।

आचार्यों ने मोहनीय कर्म के क्षय से सुख की उत्पत्ति होनी बतायी है। श्री पद्मनन्दिपंचविंशतिका अधिकार 8 के छठे श्लोक में मोहनीय कर्म के क्षय से सुख तथा वेदनीय कर्म के नष्ट हो जाने से इन्द्रियजन्य सुख-दु:ख का अभाव होकर अव्याबाध गुण का प्रकट होना कहा गया है। मोहनीय कर्म के क्षय से आकुलता का अभाव होता है और अनाकुलता लक्षणवाला सुख उत्पन्न होता है। इसलिए मोहनीय कर्म सुख गुण का प्रतिपक्षी है। अनन्तज्ञान और अनन्तवीर्य प्रकट हो जाने पर अनाकुलतारूप सुख, अनन्तसुख संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। वेदनीय कर्म का क्षय हो जाने पर इस सुख की अव्याबाध संज्ञा हो जाती है। वेदनीय कर्म के उदय से जीव सुख और दु:ख, इस दो प्रकार की अवस्था का अनुभव करता है। उसी कर्म के क्षय से आत्मस्थ अनन्तसुख उत्पन्न होता है।

इस प्रकार आचार्यों ने मोहनीय कर्म तथा वेदनीय कर्म को आत्मस्थ सुख का प्रतिपक्षी बतलाया है।

प्रश्न : क्या कोई व्यंजन पर्याय चिरकाल स्थायी भी होती है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1109)

उ र द्रव्य में अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय, ये दो प्रकार की पर्यायें होती हैं। उनमें से अर्थ पर्याय एक समय की स्थितिवाली होती है और व्यंजन पर्याय चिरकाल तक रहनेवाली होती है। कोई-कोई व्यंजन पर्याय अनादि-अनंतकाल तक रहती है। जैसे सुमेरु पर्वत, अकृत्रिम चैत्यालय आदि। श्री धवल पुस्तक 7 / 178 में कहा गया है कि सभी व्यंजन पर्यायों का अवश्य नाश होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से एकान्तवाद का प्रसंग आ जायेगा।

प्रश्न : अनुभूति को ज्ञान गुण की पर्याय माना जाये या चारित्र गुण की ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1118)

उ र : पञ्चास्तिकाय गाथा 39 की टीका में चेतना अथवा ज्ञान को अनुभूति कहा है। प्रवचनसार गाथा 242 की टीका में ज्ञेय तत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की तथाप्रकार अनुभूति को ज्ञान पर्याय कहा है। आलापपद्धति में भी आचार्य देवसेन ने चैतन्य की अनुभूति कहा है और यह अनुभूति ज्ञान की पर्याय है, इस प्रकार अनुभूति ज्ञान की पर्याय मानना उचित है।

क्रमबद्ध पर्याय

प्रश्न : क्या हमारा परिणमन केवलज्ञान के आधीन है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1132)

उ र केवलज्ञान का द्रव्य, गुण और पर्यायों के साथ ज्ञेय ज्ञायक संबंध है अर्थात् द्रव्य, गुण व पर्याय ज्ञेय हैं और केवलज्ञान उनका ज्ञायक है। द्रव्य, गुण और पर्यायों का केवलज्ञान के साथ कार्य-कारण संबंध नहीं है। कोई भी कार्य अंतरंग व बाह्य कारणों से होता है। जैसे अंतरंग व बाह्य

कारण होगें वैसा ही कार्य होगा। केवलज्ञान का कार्य-कारण संबंध न होने से हमारी परिणति केवलज्ञान के अधीन नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि हमको बाह्य और अंतरंग कारण उद्यम मिलाने चाहिये, जिससे हमारी परिणति उद्यम हो।

प्रश्न : उ या पर्यायें नियत और अनियत होती हैं ? उ या भविष्य की सभी पर्यायें नियत हैं या कुछ अनियत भी हैं ? यदि अनियत भी हैं तो प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा उनको कैसे जाना जाता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1136)

उ र : भविष्य की पर्याय सर्वथा नियत नहीं होतीं। कुछ नियत होती हैं और कुछ अनियत। और उन पर्यायों को प्रत्यक्ष ज्ञान उसी रूप से जानता है अर्थात् नियत को नियतरूप से और अनियत को अनियत रूप से। जिसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं -

1. उद्यारपुराण पर्व 76 श्लोक 21 से 23 के अनुसार श्रेणिक राजा ने श्वेतवाहन मुनि के विषय में गौतमस्वामी से पूछा था कि उनको मोक्ष कब होगा। प्रसङ्ग यह था कि श्वेतवाहन मुनि की गृहस्थावस्था में पुत्र छोटे थे, वैराग्य हो जाने के कारण मंत्रियों को अच्छी प्रकार समझाकर और उनकी अनुमतिपूर्वक उन्होंने अपने पुत्र को राज्य दे दिया था और दीक्षा ले ली थी। परन्तु मंत्रियों ने पुत्र को जेल में डालकर स्वयं राज्य संभाल लिया। श्वेतवाहन मुनि ध्यानस्थ बैठे थे कि उधर से कुछ श्रावक इस प्रसङ्ग की चर्चा करते हुये निकले। जिसको सुनकर श्वेतवाहन मुनि का क्रोध भड़क गया था। तब गौतम स्वामी ने कहा कि बाह्यकारणों के मिलने से इनके अंत:करण में तीव्र अनुभाग वाले क्रोधकषाय के स्पर्द्धकों का उदय हो रहा है। संक्लेश रूप परिणामों से उनके तीन अशुभ लेश्याओं की वृद्धि हो रही है। जो मन्त्री आदि प्रतिकूल हो गये हैं उनमें हिंसादि सर्वप्रकार के निग्रहों का चिन्तन करते हुये वे संरक्षणानन्द रौद्रध्यान में प्रविष्ट हो रहे हैं। यदि अब आगे अंतर्मुहूर्त तक उनकी ऐसी ही स्थिति रही तो वे नरकायु का बंध करने योग्य हो जावेंगे।

उपर्युक्त कथन से यह विदित होता है कि भविष्य की पर्याय सर्वथा नियत नहीं है अन्यथा सर्वावधिज्ञान के धारी गौतमगणधर उन मुनि के भविष्य के लिये, जिनको बाद में राजा श्रेणिक के द्वारा तुरन्त समझाये जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न हो गया था, यदि शङ्का का प्रयोग नहीं करते।

2. पद्मपुराण भाग - 3 पृ. 80 पर लिखा है कि यदि रावण के जीवित रहते ये अनंतवीर्य मुनिराज लंका में आ जाते तो रावण का मरण नहीं होता तथा लक्ष्मण और रावण की मैत्री हो जाती।

3. भगवान् पार्श्वनाथ के जीवनचरित्र में लिखा है कि यदि कमठ का जीव उपसर्ग नहीं करता तो मुनि पार्श्वनाथ को अभी केवलज्ञान नहीं होता।

4. उद्यारपुराण पर्व 64 श्लोक 19-33 तक में कहा है कि किसी समय अवधिज्ञानी कुन्थुनाथ चक्रवर्ती षडंग सेना से युक्त होकर क्रीडा करने के लिये वन में गये थे, वहाँ चिरकाल तक इच्छानुसार

क्रीडाकर नगर को वापिस लौट रहे थे। मार्ग में उन्होंने किसी मुनि को आतापनयोग से स्थित देखा और देखते ही मंत्री के प्रति तर्जनी अंगुली से इशारा किया कि देखो देखो! मंत्री उन मुनिराज को देखकर भक्ति से वहीं पर नतमस्तक हो गया और पूछने लगा कि हे देव! इस तरह का कठिन तप तपकर ये या फल प्राप्त करेंगे। चक्रवर्ती कुन्थुनाथ हंसकर कहने लगे कि ये मुनि इसी भव में कर्मों को नष्ट कर निर्वाण प्राप्त करेंगे। यदि निर्वाण न प्राप्त कर सकेंगे तो इन्द्र व चक्रवर्ती के सुख तथा ऐश्वर्य के सुख का उपभोग कर क्रम से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

इन दृष्टातों से यह स्पष्ट होता है कि जो पर्यायें अनियत हैं उनको प्रत्यक्षज्ञान अनियत के रूप में ही जानता है।

जो पर्यायें नियत होती हैं उनको प्रत्यक्षज्ञानी नियतरूप से ही बताते हैं जैसे उǴारपुराण पर्व 72 श्लोक 180 में कहा है कि 12 वर्ष के बाद मदिरा का निमि ा पाकर यह द्वारावतीपुरी द्वीपायन के द्वारा समूल नष्ट हो जायेगी।

प्रश्न : सृष्टि अनादि है और उसका कभी अन्त नहीं होगा तो सर्वज्ञ इसके आदि या अंत को जानते हैं या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1138)

उ र : सृष्टि अनादि है। यदि केवलज्ञानी सृष्टि को आदि रूप से जानलें तो उनका ज्ञान विपरीत ज्ञान हो जायेगा और मिथ्याज्ञान हो जायेगा। छद्मस्थ व सर्वज्ञ दोनों की अपेक्षा से सृष्टि अनादि है। सृष्टि का अनादिपना संतति की अपेक्षा से है। संतति की अपेक्षा जब सृष्टि का आदि ही नहीं है तो सर्वज्ञ सृष्टि के आदि को कैसे जान सकते हैं।

अनंत दो प्रकार का होता है – 1. औपचारिक अनंत 2. वास्तविक अनंत। औपचारिक अनंत का अंत तो सर्वज्ञ जानते हैं €योंकि वह राशि सान्त है। छद्मस्थ के ज्ञान का विषय न होने से और मात्र केवलज्ञान का ही विषय होने से उस सान्त राशि को भी उपचार से अनंत कहा गया है। जो राशि व्यय होते हुये भी समाप्त नहीं होती वह राशि वास्तविक अनंत है। ऐसी अनंतराशि का जब अन्त नहीं है तो उस राशि के अन्त को सर्वज्ञ कैसे जान सकते हैं। इसी प्रकार सृष्टि का भी अंत कभी नहीं होगा, अत: सर्वज्ञ केवलज्ञानी होते हुये भी सृष्टि की न तो आदि को जानते हैं और न अन्त को। किसी भी द्रव्य की प्रथम और अन्तिम पर्याय भी केवलज्ञान का विषय नहीं होती है €योंकि उसका अस्तित्व न होने से वह ज्ञेय ही नहीं है।

प्रश्न : सोनगढ़ वालों की मान्यता है कि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती हैऔर नियत है। उसको सर्वज्ञ जानते हैं, उनमें परिवर्तन नहीं हो सकता। जैसा सर्वज्ञ ने देखा है, उसी प्रकार द्रव्य का परिणमन नियत है। €या ऐसी मान्यता आगमस मत है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1131–1177)

उ□ ार :गो मटसार कर्मकाण्ड गाथा 882 में नियतवाद का स्वरूप इस प्रकार कहा है – जो जिस समय, जैसे, जिसके नियम से होता है वह उस समय, उससे उसी से, उसके ही होता है। ऐसे नियम से सब वस्तुओं को मानना नियतवाद है, जो एकान्तमिथ्यात्व का भेद है।

आगम में नियति का कथन अवश्य पाया जाता है जिसे केवलज्ञानी ने अपनी दिव्यध्वनि में एकान्त मिथ्यात्व कहा है। 12वें दृष्टिवाद अंग के सूत्र नामक अधिकार के तीसरे अधिकार में नियति परमत का खण्डन है। इस नियति का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है – ''जब जैसे, जहाँ, जिस हेतु से, जिसके द्वारा जो होना है, तभी तैसे ही, वहाँ ही, उसी हेतु से, उसी के द्वारा वह होता है। यह सब नियति के अधीन है। दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता है।'' यदि केवल ज्ञानी ने प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों को सर्वथा नियतरूप से देखा होता तो वे नियति को एकान्तमिथ्यात्व **क**यों कहते। इससे सिद्ध है कि केवलज्ञानी ने पर्यायों को कथञ्चित् अनियतरूप से भी देखा है। पर्यायों को भी कथञ्चित् नियतिरूप से और कथञ्चित् अनियतिरूप से मानना स यगनेकान्त है और सर्वज्ञ ने इसी प्रकार देखा व जाना है।

परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को मानने से अनेकान्त होता है। जो धर्म परस्पर विरुद्ध नहीं है ऐसे अनेक धर्मों के मानने से अनेकान्त नहीं होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय में 'सव्वे सप्पडिव□ खा' अर्थात् सर्वप्रतिपक्षसहित हैं ऐसा उपदेश दिया है। श्री प्रवचनसार में कालनय-अकालनय, स्वभावनय-अस्वभावनय, नियतिनय-अनियतिनय, दैवनय-पुरुषार्थनय, ईश्वरनय-अनीश्वरनय, इस प्रकार परस्पर विरुद्ध नयों का कथन है। यदि इन परस्पर नय युगलों में से किसी नय को तो माना जाये और उसके प्रतिपक्षी दूसरे नय को स्वीकार न किया जाये तो एकान्तमिथ्यात्व का प्रसंग आ जाता है। जैसे काँटा तो स्वभावनय से तीक्ष्ण है किन्तु आलपिन तो स्वभावनय से तीक्ष्ण नहीं है उसमें तीक्ष्णता उत्पन्न की जाती है। अत: आलपिन अस्वभावनय से तीक्ष्ण है। इसी प्रकार कोई कार्य अपने व्यवस्थित समय पर उत्पन्न होता है और किसी कार्य का काल व्यवस्थित नहीं होता है किन्तु कारणों के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। विशेष बाह्य कारणों से निरपेक्ष होने वाली मृत्यु का मृत्युकाल व्यवस्थित (निश्चित) है। किन्तु शस्त्र प्रहारादि कारणों से होने वाली अपमृत्यु का मृत्युकाल शस्त्रप्रहारादि से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार नियति – अनियति नय को भी समझना चाहिये।

द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रम से ही होती है **क**योंकि सह ाावी को गुण और क्रम ाावी को पर्याय कहा है, किन्तु प्रत्येक पर्याय का काल नियत है या अनियत, इस विषय में एकान्त नहीं है। प्रवचनसार के अन्त में 47 नयों का वर्णन है, उसमें नं. 30 कालनय का कथन इस प्रकार किया गया है– ''आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है, ऐसे गर्मी के दिनों के अनुसार पकने वाले आम्रफलों की भांति है।'' 31 नं. पर अकालनय का कथन इस प्रकार कहा है– ''आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि है, समय पर आधार नहीं रखती, ऐसे कृत्रिम गर्मी से पकाये गये

आम्रफल की भांति है।'' वस्तुस्वरूप अनेकान्तात्मक है, अत: एकान्तपक्ष का आग्रह करना उचित नहीं है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 321-22 में कहा है कि जो जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान कर जन्म तथा मरण सर्वज्ञ देव ने जाना है, वह उस प्राणी के उस ही देश में उस ही काल में उस ही विधान से नियम से होता है, इसलिए इन्द्र तथा जिनेन्द्र कोई टाल नहीं सकते हैं।'' इन गाथाओं में नियति का कथन नहीं है, क्योंकि इनमें यह नहीं कहा गया है कि जीव भी अपने पुरुषार्थ द्वारा अपने जन्म-मरण दु:ख नहीं टाल सकता। इन गाथाओं का तात्पर्य सांसारिक कार्यों की सिद्धि के लिये अन्य देवी-देवताओं की पूजा का निषेध है। यदि यह भी मान लिया जाय कि इन गाथाओं में नियति का कथन है, तो वह अन्य नयसापेक्ष नियति का कथन है, सर्वथा नियति का नहीं।

श्री राजवार्तिक 1/3 की टीका में कहा है कि भव्यों की कर्मनिर्जरा का कोई समय निश्चित नहीं है और न मोक्ष का ही। कोई भव्य सं यातकाल में सिद्ध होंगे, कोई असं यात में और कोई अनन्तकाल में। कुछ ऐसे भी हैं, जो अनंतकाल में भी सिद्ध नहीं होंगे। अत: भव्य के मोक्ष के काल नियम की बात उचित नहीं है।

यदि क्रमबद्ध पर्याय का सिद्धान्त माना जायेगा, तो फिर चरणानुयोग का उपदेश निरर्थक हो जायेगा। चरणानुयोग का ही नहीं, किन्तु द्रव्यानुयोग का उपदेश भी अकिंचित्कर हो जायेगा, क्योंकि जिस जीव को जिस समय, जिस स्थान पर स यग्दर्शन होना है, उस जीव को, उसी समय, उसी स्थान पर स यग्दर्शन अवश्य होगा। उसके पूर्व या पश्चात् नहीं हो सकता।

श्री धवला पु. 7 में कहा है कि स यग्दर्शन परिणामों के द्वारा यह जीव अनन्तानन्त पर्यायों को काटकर अर्थात् मिटाकर अर्द्धपुद्गल परिवर्तन मात्र कर देता है। श्री मूलाचार 2177 के अनुसार पण्डितमरण के द्वारा सैंकड़ों जन्म काट दिये जाते हैं। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि जीव स यग्दर्शन आदि के द्वारा आगामी संसार का नाश कर अकाल में सिद्ध हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि मोक्ष तो अपने नियतकाल पर ही हुआ, क्योंकि उस जीव के आगामी संसार नहीं था, सो ऐसा कहना उपर्युक्त आगम से विरुद्ध है।

वास्तविकता यह है कि द्रव्य में नाना पर्यायरूप परिणमन करने की शक्ति है। (कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 219) जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव मिल जायेंगे, उस पर्यायरूप उस द्रव्य का परिणमन हो जायेगा। अंतरंग और बहिरंग दोनों कारणों के मिल जाने पर उस पर्याय के उत्पाद को कोई नहीं रोक सकता है। यदि सर्वद्रव्यों की भविष्य पर्याय (सर्व) नियत है, तो ऊपर दिये गये कुन्थुनाथ चक्रवर्ती, श्वेतवाहन मुनि आदि के प्रकरण अर्थहीन हो जायेंगे। अत: सोनगढ़ का जो सर्वथा क्रमबद्ध का सिद्धांत है, वह एकान्त मिथ्यात्व है।

क्रमबद्ध पर्याय के स बन्ध में वर्णी मनोहरलाल जी का कथन है कि यदि केवली के जानने के

अनुसार वस्तु का परिणमन होता है, तो फिर वस्तु स्वातन्त्र्य की मान्यता समाप्त हो जायेगी। वस्तु का परिणमन केवलज्ञान के अधीन हो जायेगा, जो बिल्कुल गलत है। सच तो यह है कि वस्तु अपने उपादान-निमिŽा के अनुसार परिणमन करती है। उसको केवली मात्र जानते ार हैं। अन्यथा अन्य धर्मों की मान्यता 'संसार में सब कुछ ईश्वर की मर्जी के अनुसार होता है' यह मान्य हो जायेगी, जो सिद्धान्त विरुद्ध है।

प्रो. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य ने नियतवाद के कालकूट विष को ईश्वरवाद से भी भयङ्कर कहा है। पं. बंशीधर जी शास्त्री व्याकरणाचार्य ने कहा है कि जिस समय जो पर्याय आनेवाली है, उसमें फेरबदल नहीं हो सकती, इसे मैं उनकी (कानजी स्वामी की) भ्रमबुद्धि का परिणाम मानता हूँ। पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी। पं. मोतीचंद कोठारी व्याकरणाचार्य ने कहा है कि क्रमबद्ध पर्याय का प्रचार करना, मिथ्यात्व का प्रचार करना है, इसमें संदेह नहीं।

प्रश्न : €या 'पर्याय सर्वथा नियत हैं' ऐसी मान्यता एकान्त मिथ्यात्व है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1193)

उ□ ार व्र्तमान में एक ऐसा मत चला हुआ है, जो एकान्त नियति का प्रचार कर रहा है। 'पर्याय सर्वथा नियत हैं; अनियत नहीं हैं' इस प्रकार अनेकान्त का विपरीत स्वरूप बतलाकर दिग बरजैन समाज को कुमार्ग अर्थात् एकान्त मिथ्यात्व में ले जा रहा है। अनेकान्तवाद के अनुसार तो पर्यायें नियत भी हैं और अनियत भी हैं। परन्तु इस नवीन पंथ में इस अनेकान्त दृष्टि को गलत बतलाया जा रहा है। सर्वज्ञ वाणी के अनुसार दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग में इस 'नियति' को एकान्त मिथ्यात्व कहा है। जिनको सर्वज्ञ वाणी पर श्रद्धा नहीं है अर्थात् सर्वज्ञ पर श्रद्धा नहीं है, वे इस मत को मानने लगे हैं।

अनेकांत-स्याद्वाद

प्रश्न : □ या दुनिया के मिथ्या एकांत मिलकर अनेकांत को जन्म दे सकते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1273)

उ□ ार आप्तमीमांसा श्लोक 108 की टीका में पं. जयचन्द जी ने लिखा है कि मिथ्यानयों का जो समूह है वह मिथ्या ही है। जैनधर्म के नयों का जो समूह है वह मिथ्या नहीं है।

पं. जुगल किशोर जी मु तार ने इसी श्लोक की टीका में कहा है कि वास्तव में वस्तु निरपेक्ष एकान्त नहीं है, जिसे सर्वथा एकान्तवादी मानते हैं, किन्तु सापेक्ष एकान्त है और सापेक्ष एकान्त के समूह का नाम ही अनेकान्त है। इससे स्पष्ट है कि मिथ्या नयों का समूह स यक् अनेकान्त नहीं है किन्तु सुनयों का समूह ही स यक् अनेकान्त है।

इस स बंध में श्री पूज्यपादाचार्य ने कहा है कि जिस प्रकार निरपेक्ष तन्तुओं का समूह वस्त्ररूप

कार्य को करने में असमर्थ है, उसी प्रकार निरपेक्ष नयों का समूह अर्थात् मिथ्या नयों का समूह भी अनेकान्तरूप वस्तु स्वरूप को सिद्ध करने में असमर्थ होने से स यग्दर्शन को उत्पन्न नहीं कर सकता है। तंतुओं का समूह परस्पर एक-दूसरे का सापेक्ष होकर ही वस्त्ररूप कार्य को करने में समर्थ होता है। उसी प्रकार सापेक्ष नयों का समूह ही अनेकान्तरूप वस्तु स्वरूप को सिद्ध करने में समर्थ होने से स यग्दर्शन का हेतु है।

एकान्तवादियों के निरपेक्ष (मिथ्या) नयों का समूह स यक् अनेकान्त नहीं होता है किन्तु सापेक्ष (स यक्) नयों का समूह स यक् अनेकान्त होता है।

प्रश्न : स्याद्वाद के सप्तभंगी न्याय को समझायें ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1179)

उ र : अनेकान्तमय वस्तु के कथन करने की पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं। स्याद्वाद या सप्त ंगी में 'सर्वथा' को कोई स्थान नहीं है। इसको समझने के लिए प्रश्न कर्ता के सात ही प्रश्न हो सकते हैं, जिसको सप्तभंग कहते हैं।

(1) स्याद् अस्ति एव : स्व द्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव की अपेक्षा जीव स्वयं जैसा ही है।

(2) स्याद् नास्ति एव : जीव परद्रव्य आदि की अपेक्षा पर सदृश नहीं ही है।

(3) स्याद् अस्ति- नास्ति : आप सा है तथा पर सदृश नहीं है, इन दोनों धर्मो को एक ही वा य में या एक ही बार में क्रम से कहना अभीष्ट होने पर जीव अस्ति-नास्तिरूप है।

(4) स्याद् अवक्तव्य एव : आप सा है तथा पर सदृश नहीं है, इन दोनों धर्मों को एक साथ कहना असं ाव होने से कथंचित् जीव अवक्तव्य ही है।

(5) स्याद् अस्ति अवक्तव्य : जीव आप सा है परन्तु कहना संभव नहीं है।

(6) स्याद् नास्ति अवक्तव्य : जीव पर सदृश नहीं है पर कहना संभव नहीं है।

(7) स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य :जीव आपसा है, पर सदृश नहीं है तथा कहना असं ाव है।

इस प्रकार सप्त भंगों को समझ लेना चाहिए।

प्रश्न : स्याद्वाद और अनेकान्त में या अन्तर है ?*(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1185)

उ र : जिसमें बहुत से विरोधी धर्म हों उसको अनेकान्त कहते हैं। अनेक अर्थात् बहुत से, अन्त अर्थात् धर्म। स्यात् का अर्थ होता है किसी अपेक्षा से और वाद का अर्थ है कहना। अर्थात् स्याद्वाद = किसी अपेक्षा से कहना। यहाँ अनेकान्त तो वस्तु स्वभाव को प्रकाशित करता है और स्याद्वाद इन अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म के कहने के ढंग को बतलाता है। अनंत धर्मात्मक वस्तु का कथन करने वाली भाषा स्याद्वाद रूप होती है। इसी प्रकार जो वस्तु में पाये जाने वाले एक धर्म को कहता है वह एकान्त है।

उपादान-निमि ा

प्रश्न : निमि ा और नैमि ाक का या स्वरूप है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1200)

उ ार : उत्पन्न होने वाली पर्याय नैमिǐाक होती है तथा उस पर्याय की उत्पǐा में अन्य द्रव्य की जो पर्याय सहकारी कारण होती है, वह पर्याय निमिǎा होती है। जैसे मिट्टी द्रव्य की घटरूप पर्याय तो नैमिǐाक पर्याय है तथा कुभंकार जीव द्रव्य की घटोत्पǐा के अनुकूल, योग-उपयोगरूप पर्याय निमिǎा है।

प्रश्न : क्या मुमुक्षु जीव को निमिǎा और उपादान दोनों को सुधारना चाहिए या मात्र उपादान को ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1202)

उ ार : मुमुक्षु जीव को निमि ा और उपादान दोनों को सुधारने की ओर दृष्टि रखनी चाहिए। उ ाम उपज के लिए बीज व पृथ्वी आदि दोनों ही उ ाम होने चाहिए। अन्यथा पैदावार उ ाम नहीं हो सकती । प्रवचसार गाथा 255 की टीका के अनुसार एक ही बीज होने पर भूमि की विपरीतता से पैदावार की विपरीतता होती है। कारण के भेद से कार्य में भेद अवश्य भावी है।

यदि निमिǎा को सुधारने की आवश्यकता न होती तो अच्छी संगति तथा अ ाक्ष्यत्याग आदि का उपदेश यों दिया जाता ? उपादान को न सुधारकर केवल निमि ा को सुधारने से भी काम नहीं चलेगा। उपादान को सुधारने के लिए ही तो निमि ा को सुधारा जाता है। यदि उपादान के सुधारने की ओर लक्ष्य नहीं है, तो केवल निमि ा को सुधारने से कुछ लाभ नहीं है। इसलिए मुमुक्षु जीव को निमि ा और उपादान दोनों को सुधारने की ओर दृष्टि रखनी चाहिए।

प्रश्न : क्या उपादान कारण एवं कार्य में समय भेद होना आवश्यक नहीं है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1202)

उ ार : पूर्व परिणाम सहित द्रव्य कारणरूप है और उǔार परिणाम सहित द्रव्य कार्यरूप है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 22 की टीका में कहा है- पूर्व परिणाम सहित जीवादि वस्तु उपादान कारण हैं और वही जीवादि वस्तु उǔार पर्याय सहित कार्यरूप होती हैं। कारणभूत पूर्व पर्याय सहित वही द्रव्य, जिसकी सामर्थ्य मणि-मन्त्रादि के द्वारा रोकी नहीं गई है, अन्य कारणों की सहकारिता से उǔार क्षण में कार्य को उत्पन्न करता है।

इस प्रकार पूर्व परिणाम और उǔार परिणाम की दृष्टि से उपादान कारण और कार्य में समय भेद है।

प्रश्न : पेड़ से टूटा हुआ आम पड़ा-पड़ा बड़ा क्यों नहीं होता ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1203)

उ र : पेड़ से टूटे हुये आम में यद्यपि बढ़ने की अंतरंग शक्ति विद्यमान है, तथापि वृक्ष से पृथक् हो जाने के बाद उन बाह्य कारणों का अभाव हो गया, जो उस आम के बढ़ने में निमित्त थे। अत: टूटा हुआ आम बड़ा नहीं होता । अष्टसहस्त्री ग्रन्थ के अनुसार कार्य की सिद्धि बाह्य सहकारी कारण और अन्तरंग उपादान कारण से होती है। जो कार्य दो कारण से उत्पन्न होता है वह एक कारण से कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसे स्त्री और पुरुष दोनों से उत्पन्न होने वाली संतान केवल स्त्री या केवल पुरुष से उत्पन्न नहीं होती है।

प्रश्न : क्या कर्म प्रेरकनिमित्त है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 908)

उ र : कर्मोदय के कारण जीव में क्रोधादिभाव उत्पन्न होते हैं। जीव कर्मोदय के बिना स्वतंत्ररूप से इन क्रोधादिभावों को नहीं कर सकता। द्रव्य क्रोध के उदय के निमित्त बिना भी यदि जीव, भाव क्रोध आदिरूप परिणम जावे, तो द्रव्यक्रोधादि के उदय के निमित्त के बिना मुक्त जीवों के भी भावक्रोध हो जायेगा, किन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि आगम से विरोध आयेगा। समयसार गाथा 121-125 की टीका में आचार्य जयसेन ने कहा है कि कषायरूप परिणमन करने की शक्ति स्वयं जीव की है, किसी अन्य ने यह शक्ति नहीं दी है, किन्तु वह शक्ति परसापेक्ष है। यदि परनिरपेक्ष हो, तो क्रोधादि कषाय का कभी भी अभाव नहीं होगा। समयसार गाथा 279 में कहा है कि आत्मा शुद्ध होने से स्वयं रागादिरूप नहीं परिणमती, परन्तु अन्य रागादि दोषों (द्रव्यकर्म) से रागी किया जाता है। जीव के क्रोधादिकषाय भाव अनित्य हैं, विनाशीक हैं, सदा स्थित रहनेवाले नहीं हैं, अत: ये कार्य हैं। जो कार्य होता है, उसका कारण अवश्य होता है। इनका कारण चारित्रमोहनीय कर्म का उदय है। जिस समय क्रोधरूपी चारित्रमोह का उदय है, उस समय जीव के कषायरूप भाव अवश्य होते हैं, क्योंकि कर्मोदय प्रेरक निमित्तकारण है, उदासीन (अप्रेरक) निमित्त नहीं है। क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता कि कषाय कर्मोदय हो और जीव कषायभाव न करे। धर्म द्रव्य अप्रेरक निमित्त है, क्योंकि उसके सद्भाव में यदि जीव गमन करे, तो धर्म द्रव्य सहकारी होता है, किन्तु प्रेरणा नहीं करता। इससे सिद्ध है कि कर्म प्रेरकनिमित्त हैं।

कार्यकारण व्यवस्था

प्रश्न : सोनगढ़ वालों की मान्यता के अनुसार तीर्थङ्कर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता। तो क्या उनकी मान्यता आगमानुकूल है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1304)

उ र : सोनगढ़ वालों की उपर्युक्त मान्यता आगम विरुद्ध है। जिनवाणी से भव्यजीवों को लाभ

होता है। इस संबंध में कुछ आर्ष प्रमाण इस प्रकार हैं।

1. पञ्चास्तिकाय की प्रथम गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने **'तिहु अण हिद मधुर विसदवक्काणं'** इन शŽदों द्वारा कहा है कि जिनेन्द्र देव की वाणी तीन लोक का हित करने वाली मधुर एवं विशद है। इसी की टीका में श्री अमृतचंद्राचार्य ने कहा है कि जिनेन्द्रवाणी अर्थात् दिव्यध्वनि, लोकवर्ती समस्त जीवसमूह को निर्बाध विशुद्ध आत्मतžव की उपलŽध का उपाय कहने वाली है इसलिये हितकर है। इसी गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि मोक्ष की सिद्धि का उपाय स यग्ज्ञान है। वह स यग्ज्ञान यथार्थ आगम से होता है। इस आगम की उत्पŽिा आप्त से होती है।

2. श्री धवला 1/59 में कहा है कि जिनागम, जीव के मोहरूपी ईंधन को भस्म करने के लिये अग्नि के समान है, अज्ञानरूपी अंधकार को नष्ट करने के लिये सूर्य के समान है, द्रव्यकर्म और भावकर्म को धोने के लिये समुद्र के समान है और परम सुभग है।

3. श्री जयधवल 1/6 में कहा है कि परमागम के अ यास से कर्मों का नाश होता है।

इसके अतिरिक्त मु तार साहब ने और भी बहुत से प्रमाण दिये हैं, जिनसे सिद्ध है कि जिनवाणी से भव्य जीवों का महान् हित होता है।

प्रश्न : सोनगढ़ से प्रकाशित 'मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें ' नामक पुस्तक के पृ. 178 पर लिखा है ' उपदेश देना मुनि का लक्षण नहीं है, उपदेश जड़ की क्रिया है, आत्मा उसे कर नहीं सकता।' □ या ऐसा मानना ठीक है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1307)

उ□ ार : सोनगढ़ की उपर्युक्त मान्यता आर्षग्रन्थ विरुद्ध है। मूल उपदेश कर्ता श्री तीर्थङ्कर अरहंत भगवान् हैं, €योंकि उनके उपदेश के आधार से श्री गणधर देव द्वादशांग की रचना करते हैं। वही उपदेश गुरुपर परा से श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों को प्राप्त हुआ था, जिसके आधार पर उन्होंने समयसार, पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों की तथा श्री वीरसेनाचार्य आदि ने धवल-जयधवल आदि ग्रन्थों की रचना की। आज जो हमको ज्ञान प्राप्त है वह इन आर्ष ग्रन्थों के स्वाध्याय से ही उत्पन्न हुआ है।

जिनवाणीरूप उपदेश को यदि मात्र जड़ की क्रिया मान लिया जाये और श्री तीर्थंकर भगवान् को उसका कर्ता न माना जाये तो मेघगर्जना के समान जिनवाणी के भी प्रामाणिकता के अभाव का प्रसंग आ जायेगा। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार के मंगलाचरण में कहा है कि केवली, श्रुतकेवली के द्वारा उपदिष्ट यह समयसारप्राभृत कहूँगा। श्री धवला 1/368 पर श्री वीरसेनाचार्य जी ने कहा है कि दिव्यध्वनि ज्ञान का कार्य है। इसी प्रकार सभी आचार्यों ने श्री अरहंत भगवान् को, श्री गणधरदेव तथा अन्य आचार्यों को उपदेशदाता बतलाया है। किसी भी आचार्य ने उपदेश को मात्र जड़ की क्रिया नहीं बतलाया है। स्वयं पंडित टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ में विभिन्न स्थानों पर दिव्यध्वनि को अरहंत भगवान् की क्रिया कहा है।

सोनगढ़ साहित्य में कार्यकारण भाव के विषय में महान् भूल है। उस भूल के कारण ही, सोनगढ़ मान्यता वाले ागवान के उपदेश को जड़ की क्रिया कहते हैं।

प्रश्न: €या कु भकार को घट का कारण मानना गलत है ? कारण की परिभाषा **€**या होती है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1206)

उ□ ार प्रमेयरत्नमाला के अनुसार, जिसके सद्भाव में जिस कार्य की उत्पǐा हो और जिसके अभाव में कार्य की उत्पǐा न हो, वह पदार्थ उस कार्य का कारण होता है। श्री धवला 12/289 में भी कहा है कि जो जिसके होने पर ही होता है और जिसके नहीं होने पर नहीं होता है, वह उसका कारण होता है। ऐसा न्याय है।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि जिस प्रकार मिट्टी उपादान कारण के बिना घट की उत्पǐा नहीं हो सकती है, उसी प्रकार कु हार आदि निमिǎा कारणों के बिना भी घट की उत्पǐा नहीं हो सकती है। मात्र मिट्टी को घट की उत्पǐा का कारण मानना और कु हार आदि निमिǎा कारणों को किसी भी अपेक्षा से कारण न मानना कारण-विपर्यास है। ऐसी मान्यता आगमस मत नहीं है।

प्रश्न : €या कारण के अनुसार ही कार्य होता है, ऐसा नियम है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1207)

उ□ ार कारण के सदृश ही सर्वथा कार्य हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है। पूर्व पर्याय सहित द्रव्य, उǎार पर्याय का कारण होता है। जैसे मिट्टी की पूर्व पिण्ड पर्याय उपादान कारण होती है और वह उǎाररूप द्रव्य पर्याय को उत्पन्न करती है। किन्तु मिट्टी का पिण्ड और घट सर्वथा समान नहीं हैं, एकदेश भिन्न हैं। मिट्टी का पिण्ड जल धारण नहीं कर सकता, किन्तु घट जल धारण कर सकता है। इसी प्रकार सब उपादान कारण, कार्य से एकदेश भिन्न होते हैं। यदि उपादान कारण का कार्य के साथ एकान्त से सर्वथा अभेद या भेद हो तो कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है। जैसे उपर्युक्त मिट्टी का दृष्टान्त। इसी प्रकार क्षायोपशमिक ज्ञान, क्षायिक ज्ञान का उपादान कारण होता है। यदि कारण के समान ही कार्य देखा जाता हो तो मतिज्ञानपूर्वक होने वाला श्रुतज्ञान भी मतिज्ञानरूप ही होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता है। अत: कारण के सदृश ही सर्वथा कार्य हो, ऐसा एकान्त नियम नहीं है।

प्रश्न : मोक्ष का पुरुषार्थ पूर्व कर्मों के उदय से होता है या इस जीव को वैसे कारण बनाने पड़ते हैं?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1209)

उ□ ार मोक्ष ाी पर्याय है। प्रत्येक पर्याय के लिए अन्तरंग और बहिरंग अनेक कारणों की आवश्यकता हुआ करती है। यद्यपि यह जीवात्मा शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध-ज्ञानानन्दमयी है

तथापि व्यवहारनय से अनादि कर्मबन्धवशात्, निगोद आदि पर्यायों में भ्रमण कर रहा है। जहाँ पर असैनी होने पर इतना भी ज्ञान का क्षयोपशम नहीं होता कि वह अपने हिताहित के उपदेश को ग्रहण कर सके। कभी ऐसा भी योग मिलता है कि उसके मनुष्यायु का बंध हो जाता है। यहाँ तक तो कर्मों की मु यता है, पुरुषार्थ की मु यता नहीं है। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय हो जाने पर यदि यह जीवात्मा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने का प्रयत्न करे और परिणामों की विशुद्धि से करणलब्धि प्राप्त हो जाये तो स यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। इसके लिए यथार्थ उपदेश प्राप्त हो सके ऐसे निमित्तों को मिलाना इसका कर्तव्य है। उपदेश प्राप्ति के साथ-साथ कषाय का मन्दोदय तथा त वविचार करने की शक्तिरूप ज्ञानावरण का क्षयोपशम भी होना चाहिए। इस जीवात्मा का तत्त्व परीक्षा तथा तत्त्व अवधारणरूप पुरुषार्थ भी होना चाहिए। पूर्व कर्मोदय से उत्तम संहननादि विशिष्ट पुण्य सामग्री प्राप्त हो और फिर यह जीव मोक्ष प्राप्ति का महान् पुरुषार्थ करे तब इसको मोक्ष प्राप्ति संभव है। इस प्रकार पूर्व कर्मोदय और इस जीव का बुद्धिपूर्वक समीचीन पुरुषार्थ, ये दोनों ही मोक्षमार्ग के लिए उपयोगी हैं।

प्रश्न : कार्य की सिद्धि ाग्य से होती है या पुरुषार्थ से ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1210)

उ र : 'योग्यता' के पर्यायवाची नाम पूर्वकर्म, दैव (भाग्य), अदृष्ट हैं। इस भव में जो पुरुष चेष्टा करके उद्यम करता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। पुरुषार्थ का प्रयोजन चेष्टा करना, उद्यम करना है। द्रव्य का पर्यायरूप परिणमन करना पुरुषार्थ है, यह एक नई समझ है, जो आगमानुकूल नहीं है। अष्टसहस्री ग्रन्थ के अनुसार योग्यता अर्थात् भाग्य यह तो अदृष्ट हुआ और पुरुषार्थ यह दृष्ट हुआ, इन दोनों दृष्ट-अदृष्ट से कार्य की सिद्धि अथवा पर्याय प्रकट होती है। केवल भाग्य अथवा केवल पुरुषार्थ से जीव की पर्याय प्रकट नहीं होती।

इस स बन्ध में देवागमस्तोत्र की कारिका 91 में स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि जो पुरुष की बुद्धिपूर्वक न हो उस अपेक्षा उत्पन्न जो इष्टानिष्ट कार्य हैं, उसे अपने भाग्य से हुआ कहना चाहिए। वहाँ पुरुषार्थ प्रधान नहीं, भाग्य का प्रधानपना है। और जो कार्य पुरुष की बुद्धिपूर्वक होता है, उसे पुरुषार्थ से हुआ इष्टानिष्ट कार्य कहना चाहिए। इसमें भाग्य तो गौण है और पुरुषार्थ की प्रधानता है।

इस प्रकार भाग्य और पुरुषार्थ के स बन्ध में किसी ी एकान्त का कदाग्रह नहीं होना चाहिए। ाग्य का विधाता स्वयं जीव है। मात्र भाग्य के भरोसे नहीं बैठे रहना चाहिए क्योंकि पुरुषार्थ के द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों का संक्रमण व खंडन भी हो सकता है।

प्रश्न : अनुकूल बाह्य साम्रगी की प्राप्ति कैसे होती है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1211)

उ र : एक कार्य होने में अनेक कारणों की आवश्यकता होती है। अनुकूल बाह्य सामग्री के मिलने में लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम, सातावेदनीय का उदय और पुरुषार्थ आदि सब कारण होने

चाहिए। इच्छित पदार्थ की प्राप्ति होना ला ा है। इस प्राप्ति में विघ्न करनेवाला लाभान्तराय कर्म है। लाभान्तरायकर्म के क्षयोपशम से किंचित् विघ्न का अभाव होने से किंचित् अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। सातावेदनीय के उदय से दु:ख उपशमने के कारणभूत सुद्रव्यों का संपादन होता है। स्वयं के पुरुषार्थ से भी अनुकूल बाह्य सामग्री प्राप्त होती है। मन्त्र से विष दूर हो जाता है और अनेक संकट समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जीव का पुद्गल कर्मों से निमिǯा- नैमिǯाक स बन्ध है। उनकी अनुकूलता के अनुसार बाह्य सामग्री की प्राप्ति होती है।

प्रश्न : €या एक कारण से अनेक कार्य भी संभव होते हैं? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1214)

उ र : एक पदार्थ सहकारी कारणों की विविधता से अनेक कार्यों का संपादन करता है, अत: वह कार्यकारित्व कहा जाता है। जैसे एक ही दीपक एक ही समय में अंधकार का नाश करता है, प्रकाश फैलाता है, बǯी का मुख जलाता है, तेल शोषण करता है, धूम्ररूप कालिमा को उत्पन्न करता है। इस प्रकार एक ही दीपक से एक ही समय में अनेक कार्य हो रहे हैं। प्रकाश तथा धूम्ररूप कालिमा, यद्यपि ये दोनों परस्पर विरुद्ध कार्य हैं तथापि एक ही समय में एक ही दीपक से हो रहे हैं। इस प्रकार एक ही पदार्थ अनेक कार्यकारित्वरूप अनेक कार्यों का संपादन करता है।

प्रश्न : रत्नत्रय से बंध भी हो और मोक्ष ी, ये दोनों परस्पर विरुद्ध कार्य कैसे संभव हैं?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1214)

उ र : पिछले प्रश्न में जैसे एक ही दीपक, प्रकाश तथा धूम्ररूप कालिमा, इन दोनों परस्पर विरुद्ध कार्यों को एक ही समय में उत्पन्न करता है, उसी प्रकार एक तप से भी देवेन्द्र आदि की प्राप्ति व निर्जरा मानने में कोई विरोध नहीं है। समयसार गाथा 172 के अनुसार जब रत्नत्रय जघन्य भाव से परिणमन करता है, उस रत्नत्रय से ज्ञानी अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों से बंधता है। पंचास्तिकाय गाथा 174 में स्पष्ट कहा है कि स यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय मोक्षमार्ग है इसलिए सेवने योग्य है। इससे बन्ध भी होता है और मोक्ष भी होता है।

तीर्थंकर प्रकृति का बंध स यग्दर्शन के सद् ाव में ही होता है, तथापि उसके साथ उस प्रकार का राग भी होना चाहिए। अन्यथा 8वें आदि गुणस्थानों में तीर्थंकर प्रकृति का बंध होते रहना चाहिए था। इससे स्पष्ट है कि तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण न मात्र राग है और न मात्र स यग्दर्शन है, जैसे पुत्रोत्पǯि में माता और पिता दोनों कारण हैं।

इस प्रकार अशुद्ध निश्चयनय से स य€त्वादि रत्नत्रय से बंध सिद्ध हो जाने पर और शुद्ध निश्चयनय से बंध नहीं होने से किसी का एकान्त पक्ष ग्रहण किया जायेगा तो मोक्ष प्राप्त नहीं होगा।

अत: रत्नत्रय से बंध व मोक्ष दोनों कार्य मानना ही उचित है।

प्रश्न : किसी को तǯवोपदेश सुनने पर भी स य€त्व की प्राप्ति नहीं हुई। तो तǯवोपदेश के कारणपने ने वहाँ €या किया? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1258)

उ□ ार ग़्क कार्य के लिए अनेक कारण होते हैं। जैसे रोटी बनाने में आटा, जल, आग आदि अनेक कारण होते हैं। यदि उनमें से किसी एक कारण का भी अभाव हो तो रोटी नहीं बन सकती। इसी प्रकार स य€त्वोत्पǴि में तǯवोपदेश के अतिरिक्त ज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षयोपशम, मिथ्यात्व का मन्दोदय, परिणामों में विशुद्धि तथा तǯवा यासरूप पुरुषार्थ की भी आवश्यकता होती है। इन कारणों में से किसी भी एक कारण के अभाव में मात्र तǯवोपदेश सुनने से स य€त्व की उत्पǴि नहीं हो सकती। कार्य को उत्पन्न न करने पर भी, कारणत्व शक्ति के अभाव में, यद्यपि तǯवोपदेश की प्राप्ति कार्यकारी न हो पाये, तो भी तǯवोपदेश तो स य€त्वोत्पǴि में कारण ही है।

प्रश्न : एक कारण से भिन्न-भिन्न कार्यों की उत्पǴि कैसे हो सकती है, अत: कार्य हो जाने पर ही कारण का आरोप करना उचित है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1259)

उ□ ार ग़्क द्रव्य में अनन्त गुण पाये जाते हैं। अत: भिन्न-भिन्न गुणों की अपेक्षा एक कारण से अनेक कार्यों की उत्पǴि में कोई विरोध नहीं है। जैसे एक आग के निमिǴ से भात का पकना, कपड़े का जलना और प्रकाश आदि अनेक कार्य होते हुए पाये जाते हैं। अथवा अन्य द्रव्य के संयोग से एक ही कारण से अनेक कार्य होने में कोई विरोध नहीं है। एक ही औषधि का यदि उष्ण जल के साथ सेवन किया जावे, तो उसका परिणाम अन्य प्रकार होगा और यदि उसी औषधि को शीतल जल के साथ सेवन किया जाये तो उसका परिणाम अन्य प्रकार का होगा। वेश्या के मृतक शरीर के दृष्टान्त में साधु की वैराग्यवृद्धि में उसकी असमान जाति मनुष्य पर्याय कारण पड़ी कि यह अमूल्य मनुष्य भव वृथा ही इसने विषय भोगों में खो दिया। कामी पुरुष को वेश्या की सुन्दरता कारण पड़ी, जिससे उसके विषय सेवन की इच्छा हुई और कुǯो को उसका रस गुण कारण पड़ा, जिससे उसके मांसभक्षण के भाव हुए। अथवा साधु, कामी पुरुष और कु□ ो के भिन्न-भिन्न प्रकार की कषायें थी जिनके संयोग से एक ही कारण से अनेक कार्यों की उत्पǴि हुई। यदि निमिǴ दृष्टि से देखें तो ऐसा भी कह सकते हैं कि एक वेश्या के मृत शरीररूप निमिǴ में कितनी शक्ति है कि उसने तीन जीवों में भिन्न-भिन्न तीन परिणाम उत्पन्न करा दिए। अत: कार्य (निश्चय) के पश्चात् कारण (व्यवहार) कहना किसी भी आगम या युक्ति से सिद्ध नहीं होता।

प्रश्न : द्रव्यकर्मोदय तथा रागादि का अविनाभाव स बन्ध है या नहीं?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 900)

उ□ ार ज्ञान के आवरण अर्थात् अज्ञान का तथा रागादि का आत्मा के साथ तो अविनाभाव

स बन्ध या तादात य स बन्ध नहीं है, €योंकि सिद्ध अवस्था में आत्मा तो है, किन्तु अज्ञान व रागादि नहीं है। द्रव्यकर्मोदय के साथ अज्ञान व रागादि का अविनाभाव स बन्ध पाया जाता है, €योंकि जहाँ-जहाँ घातिया कर्मोदय है, वहाँ-वहाँ अज्ञान तथा रागादि अवश्य हैं और जहाँ-जहाँ कर्मोदय नहीं है, वहाँ-वहाँ अज्ञानादि भी नहीं हैं। अथवा जहाँ-जहाँ अज्ञान व रागादि हैं, वहाँ-वहाँ कर्मोदय है और जहाँ रागादि व अज्ञान नहीं है, वहाँ घातिया कर्मोदय भी नहीं है।

आगम से सिद्ध है कि अज्ञान व रागादि इस जीव के व्यवहारनय अथवा अशुद्ध निश्चयनय से हैं, किन्तु शुद्ध निश्चयनय से ये अज्ञान व रागादि भाव जीव के नहीं हैं। निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से पर्याय को ग्रहण नहीं करता। अज्ञान व रागादि विकारी पर्याय हैं, अत: निश्चयनय की अपेक्षा से जीव के रागादि व अज्ञान भाव नहीं हैं, व्यवहारनय की अपेक्षा से रागादि व अज्ञान भाव जीव के हैं।

नय-निक्षेप

प्रश्न : सोनगढ़ से प्रकाशित छहढाला की दूसरी ढाल के 18वें पद्य के अर्थ में कहा है कि 'दया,दान महाव्रतादि के शुभभाव, जो कि पुण्यास्रव हैं, उनसे संसार परीत होना बतलाये वे सब शास्त्र कुशास्त्र हैं। €या उनका ऐसा अर्थ करना आगम स मत है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1310)

उ□ ार प्राय: सभी दिग बर जैन आर्षग्रन्थों में दया, दान, व्रत को धर्म तथा इनसे संसार का अभाव व मोक्ष की प्राप्ति बतलायी गई है, जिसके कुछ प्रमाण इस प्रकार है -

1. श्री मूलाचार गाथा 238 में कहा है कि सर्वजीवों पर दया तथा पाँच इन्द्रियों के दमन द्वारा आठकर्मों से रहित होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

2. श्री पद्मनंदीपंचविंशतिका 1/8 में कहा है कि धर्मात्मा सज्जनों को सबसे पहले प्राणियों के विषय में नित्य ही दया करना चाहिये। €योंकि वह दया समीचीन व्रत समूह, सुख एवं उत्कृष्ट संपदाओं की मु य जननी है तथा धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है और मोक्षमहल पर चढ़ने के लिये नसैनी है।

3. रयणसार गाथा 14 में कहा है कि दान के फल से त्रिलोक में सारभूत उǯामसुख अर्थात् मोक्षसुख को भोगता है।

4. श्रीपद्मपुराण 85/18 में कहा है कि अणुव्रत और महाव्रत ये दोनों मोक्ष के मार्ग हैं। अणुव्रत पर परा से मोक्ष का कारण है और महाव्रत साक्षात् मोक्ष का कारण है।

अन्य अनेक दिग बर जैन आर्षग्रन्थों में आचार्यों ने दया, दान और महाव्रतरूप ाावों को मोक्ष का कारण बतलाया है जबकि सोनगढ़ से प्रकाशित छहढाला में ऐसे ग्रन्थों को कुशास्त्र कहा गया है जो बिल्कुल गलत है। अनार्ष ग्रन्थों के आधार पर आर्षग्रन्थों का खण्डन नहीं हो सकता है। जिस साहित्य में दिग बर जैनाचार्यों के कथन का विरोध हो वह दिग बर जैन साहित्य नहीं हो सकता।

प्रश्न : सोनगढ़ से प्रकाशित मोक्षशास्त्र में कहा है कि गवान् ने पर जीवों की दया पालने को कहा है या अहिंसा बतलाई है अथवा कर्मों का वर्णन किया है- इस प्रकार मानना न तो भगवान् को पहचानने का वास्तविक लक्षण है और न भगवान् के द्वारा कहे गये शास्त्रों को पहचानने का। यह बात मिथ्या है कि भगवान् ने दूसरे जीवों की दया स्थापित की है। या यह ठीक है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1313)

उ र : मोक्षशास्त्र जो आचार्य उमास्वामी द्वारा विरचित संस्कृत में रचा गया ग्रन्थ है। इसमें अहिंसा और जीवदया का उपदेश है। इस पर जो भाषा टीका सोनगढ़ से प्रकाशित हुई है, उसके वा य ऊपर दिये गये हैं। यह टीका दिग बरजैन सिद्धान्तानुकूल नहीं है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भगवान् के उपदेशानुसार अहिंसा व जीवदया को धर्म बतलाया है, कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं-

1. बोधपाहुड गाथा 25 में कहा है - 'ध मो दया विसुद्धो' अर्थात् दया करि विशुद्ध तो धर्म है।

2. भावपाहुड गाथा 131 में कहा है कि छह काय के जीवों पर मन, वचन, काय से दया करनी चाहिये।

3. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में गाथा नं. 318 में कहा है कि हिंसा पाप है और धर्म दयाप्रधान है।

4. श्री क्षत्रचूड़ामणि 5/35 में कहा है कि धर्म का मूल दया है, और वह दया जीवों की अनुक पारूप है। अरक्षित प्राणियों की रक्षा करना ही धर्मात्मा का लक्षण है।

5. श्री धवल पु. 13/361-362 में कहा है कि करुणा जीव का स्वभाव है।

उपर्युक्त प्रमाणों से तथा आचार्यों के अन्य प्रमाणों से स्पष्ट है कि करुणा अर्थात् जीव रक्षा संयम है और संयम बंध का कारण नहीं है, संवर-निर्जरा का कारण है। अन्य धर्मों में जीवदया को धर्म नहीं माना गया है। दया की वास्तविक परिभाषा तो जैन शास्त्रों में ही दृष्टि गोचर होती है।

प्रश्न : आत्मा और इन्द्रिय में िन्नपना है या अभिन्नपना ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1193)

उ र : इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं : 1. ावेन्द्रिय 2.द्रव्येन्द्रिय। उनमें से लŠध व उपयोगरूप भावेन्द्रिय तो आत्मा के ज्ञान गुण की पर्याय हैं, अत: आत्मा का और भावेन्द्रिय का प्रदेश भेद न होने से अभिन्नपना है। निर्वृŠि और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय है। उनमें से अंतरंग निर्वृŠि तो आत्मप्रदेशों की विशेष रचना है, जो आत्मप्रदेशरूप होने से आत्मा से अभिन्न है। किन्तु पर्याय और पर्यायी सर्वथा अभिन्न नहीं हैं, कथंचित् भिन्न भी हैं, योंकि पर्याय नाशवान् है और पर्यायीरूप द्रव्य, द्रव्यार्थिक नय से अविनाशी है। बहिरंग निर्वृŠि और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय शरीररूप पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं। अत: इस अपेक्षा से आत्मा से भिन्न हैं, किन्तु शरीर और आत्मा का परस्पर बन्ध होकर एक असमान जाति द्रव्य पर्याय बनी है, इस अपेक्षा से अि िन्न है।

इस प्रकार आत्मा और इन्द्रियों में िभन्नता और अि भन्नता के विषय में एकान्त नहीं है, अनेकान्त है। आत्मा और इन्द्रियाँ कथंचित् भिन्न हैं और कथंचित् अि भन्न हैं।

प्रश्न : निश्चयनय और व्यवहारनय का या स्वरूप है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1221)

उ र : नय के द्वारा पदार्थ का ज्ञान होता है। वह नय दो प्रकार का है:

1. द्रव्यार्थिक (निश्चयनय) 2. पर्यायार्थिक (व्यवहारनय)। जिस नय का प्रयोजन (विषय) द्रव्य ही है, वह द्रव्यार्थिक नय है। यह अभेद को विषय करता है। इसके दो भेद हैं- शुद्ध निश्चयनय एवं अशुद्ध निश्चयनय। जो शुद्ध द्रव्य को विषय करता है वह शुद्ध निश्चयनय है और जो अशुद्ध द्रव्य को विषय करता है वह अशुद्ध निश्चयनय है।

व्यवहारनय दो प्रकार का है: सद् ूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय।

1. जो गुण और गुणी में अभेद होने पर भी भेद का उपचार करता है, वह सद्भूत व्यवहारनय है। इसके भी दो भेद हैं: (अ) जीव के केवलज्ञानादि गुण हैं, यह अनुपचरित शुद्ध सद् ूत व्यवहारनय है तथा (ब) जीव के मतिज्ञानादि विभाव गुण हैं यह उपचरित अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय है।

2.जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं को स बन्धरूप ग्रहण करता है, वह असद् ूत व्यवहारनय है। इसके दो भेद हैं-

(अ) एकक्षेत्रावगाह पदार्थों को स बन्धरूप ग्रहण करने वाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे- जीव का शरीरादि।

(ब) एकक्षेत्रावगाह स बन्ध रहित वस्तुओं को स बन्धरूप से ग्रहण करे वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे- देवदž का धन अथवा 'पुत्रादि मेरे हैं'।

प्रश्न : €या व्यवहारनय सत्य का प्रतिपादन नहीं करता है? €या इसको झूठ मानना उचित है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1221)

उ र : निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों ही नयों के द्वारा वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। दोनों ही नयों का वर्णन श्री गौतम गणधर ने किया है। श्री जयधवला 1/8 में कहा है कि 'गौतम गणधर ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर कृति आदि 24 अनुयोग द्वारों के आदि में 'णमो जिणाणं' इत्यादिरूप से मंगल किया है। यदि कहा जाये कि व्यवहारनय असत्य है, सो भी ठीक नहीं है, €योंकि उसमें शिष्यों की प्रवृ ि देखी जाती है। अत: जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है उसी का आश्रय करना चाहिए, ऐसा मन में निश्चय करके श्री गौतमगणधर ने मंगल किया है। श्री अमृतचंद्राचार्य ने समयसार गाथा 46 की टीका में कहा है कि यदि व्यवहारनय को न कहा जावे अर्थात् यदि व्यवहारनय का उपदेश न दिया जाये और परमार्थ नय (निश्चयनय) जो जीव को शरीर से भिन्न कहता

है, यह एकान्त किया जाये तो निशंकपने से त्रस स्थावर जीवों का घात करना सिद्ध हो जायेगा। जैसे भस्म के मर्दन करने में हिंसा का अभाव है, उसी तरह त्रस-स्थावर जीवों के मारने में भी हिंसा सिद्ध नहीं होगी, अपितु हिंसा का अभाव ठहरेगा, तब जीवों के घात होने से बंध का भी अभाव ठहरेगा। परमार्थ (निश्चयनय) से राग-द्वेष-मोह से जीव को भिन्न दिखाया है, अत: राग-द्वेष-मोह से जीव कर्म से बंधता है उसको छुड़ाना है, ऐसा मोक्षमार्ग का उपदेश व्यर्थ हो जायेगा। तब मोक्ष का भी अभाव ठहरेगा ।निश्चयनय से न तो बंध है और न मोक्ष है, इससे जिनेन्द्र द्वारा दिया गया मोक्षमार्ग का उपदेश व्यर्थ हो जाता है।

श्री जयधवला 1/357 पर कहा है कि ये सभी नय अपने-अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों के निराकरण में मूढ़ हैं। अनेकान्तरूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है' इस प्रकार का विभाग नहीं करते हैं।

अत: किसी नय को सच्चा और किसी नय को झूठा कहना आर्षग्रन्थ विरुद्ध है। सभी नय स यक् हैं यदि वे सापेक्ष हैं और स ाी नय मिथ्या हैं यदि वे निरपेक्ष हैं।

प्रश्न : समयसार गाथा 11 में व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है, उसका €या कारण है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1233)

उ□ ार :समयसार गाथा 11 की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि 'प्रबल कर्मों के मिलने से जिसका एक ज्ञायक स्वभाव तिरोभूत हो गया है, ऐसी आत्मा का अनुभव करने वाले पुरुष आत्मा और कर्म का विवेक न करने वाले, व्यवहार में विमोहित हृदय वाले तो उस आत्मा को जिसमें भावों की विश्वरूपता प्रकट है ऐसा अनुभव करते हैं।' टीका के इन श□ दों से प्रकट है कि यहाँ पर मिथ्या व्यवहारनय अर्थात् निश्चयनय निरपेक्ष मात्र व्यवहारनय को मानने वाले का कथन है और इसीलिए ऐसे व्यवहारनय को अ ूतार्थ कहा है। इसी गाथा की टीका करते हुए आचार्य जयसेन महाराज ने 'स्वसंवेदनरूप भेद भावनाशून्य जना:' कहा है, जिससे स्पष्ट है कि यहाँ पर भी मिथ्यादृष्टि के व्यवहारनय को अथवा निश्चयनय निरपेक्ष व्यवहारनय को अ ूतार्थ कहा है।

गाथा क्र. 12 की टीका में बतलाया गया है कि जो संसारावस्था में स्थित है वह सिद्ध अवस्था का अनुभव नहीं कर सकता, किन्तु जो निश्चयाभासी संसार अवस्था में भी अपने आपको शुद्ध मान लेता है उसके लिए जीव की नाना पर्यायों को बतलाने वाला व्यवहारनय प्रयोजनवान् है। इस गाथा में स यक् व्यवहारनय का कथन है।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि समयसार गाथा 11 का व्यवहार, मिथ्यादृष्टि का है इसीलिए उसे अभूतार्थ कहा है और गाथा 12 का व्यवहार, स यग्दृष्टि का है अत: उस व्यवहारनय को ूतार्थ कहा है।

प्रश्न : या शुद्ध निश्चय भी सर्वथा भूतार्थ नहीं है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1237)

उ र : समयसार गाथा 11 में शुद्धनय को भूतार्थ तथा व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है। उसका अभिप्राय यह है कि जो शुद्ध जीव में न हो वह अभूतार्थ है और उसका वर्णन करने वाला व्यवहारनय है। जैसे रागादि शुद्ध जीव में नहीं हैं। अत: 'रागादि जीव के हैं' यह व्यवहारनय का कथन है। 'जो शुद्ध जीव में हो वह ूतार्थ है' उसका वर्णन करने वाला शुद्ध निश्चयनय है।

शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनय को व्यवहारनय कह दिया गया है। अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय भूतार्थ है €योंकि इसका विषय शुद्ध जीव है। उपचरित सद् ूत व्यवहारनय अभूतार्थ है योंकि इसका विषय अशुद्ध जीव है।

अत: व्यवहारनय सर्वथा अ ूतार्थ नहीं है। व्यवहारनय को भी समयसार गाथा 12 में प्रयोजनवान् कहा है। शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में जीव संसारी नहीं है, किन्तु वास्तव में जीव संसारी भी है, जो प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। अत: शुद्ध निश्चयनय भी सर्वथा भूतार्थ नहीं है। यदि कथन में निश्चय-व्यवहार सापेक्षता रहती है तो सब कथन स यक् हैं। यदि निश्चय निरपेक्ष व्यवहार है या व्यवहार निरपेक्ष निश्चय है, तो सब कथन मिथ्या हैं।

प्रश्न : किसी भी नय-उपदेश को सर्वथा (सत्य) समझ लेना उचित है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1238)

उ र : मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार 8 पृष्ठ 443 पर लिखा है- इसलिए जो उपदेश हो उसे सर्वथा न समझ लेना चाहिए। उपदेश के अर्थ को जानकर वहाँ इतना विचार करना चाहिए कि यह उपदेश किस प्रकार है, किस प्रयोजन को लेकर है, और किस जीव को कार्यकारी है। इसी ग्रंथ में पृ.288 पर कहा है: 'जैसे वैद्य रोग मेंटना चाहता है। जो शीत की अधिकता देखता है तो उष्ण औषधि बताता है और आताप की अधिकता देखता है तो शीतल औषधि बताता है। इसी प्रकार श्री गुरु रागादिक छुड़ाना चाहते हैं। जो रागादिक को पर का मान स्वच्छंद होकर निरुद्यमी हुए उनको तो उपादान कारण की मु यता से, रागादिक आत्मा के हैं, ऐसा श्रद्धान कराते हैं। तथा जो रागादिक को अपना स्वभाव मानकर उनके नाश का उद्यम नहीं करते हैं, उनको निमिǍाकारण की मु यता से, रागादिक परभाव हैं' ऐसा श्रद्धान कराते हैं।

मोक्षमार्ग प्रकाशक के उपर्युक्त दोनों प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाना जीवों को नाना प्रकार का मिथ्यात्व रोग लग रहा है। अत: उसका उपचार भी नाना उपदेश रूपी औषधियों द्वारा बतलाया गया है। इसलिए किसी ी उपदेश को सर्वथा न समझ लेना चाहिए। अपने मिथ्यात्वरूपी रोग के कारण को पहचान कर, उन नाना उपदेशरूपी औषधियों में से उस कारण को दूर करने वाली औषधि का यदि सेवन करेगा तो रोग उपशांत हो जाएगा। यदि विपरीत औषधि का सेवन करेगा तो मिथ्यात्वरूपी रोग पुष्ट हो जायेगा।

प्रश्न : €या निश्चयनय के ही कथन को ग्रहण करने वाले मिथ्यादृष्टि होते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1240)

उ ार :मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. 293 पर कहा है- 'द्रव्य करि सामान्य स्वरूप अवलोकना, पर्यायकरि विशेष अवधारणा। ऐसे ही चिंतवन किये स यग्दृष्टि होय है।' वस्तु सामान्यरूप भी है और विशेषरूप भी है। 'सामान्य' निश्चयनय का विषय है, 'विशेष' व्यवहारनय का विषय है। सामान्य-विशेष दोनों रूप अर्थात् 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' इसरूप चिंतवन करने वाला स यग्दृष्टि है अर्थात् यदि कोई निश्चयनय के विषय 'सामान्य' को सत्यार्थ माने और व्यवहारनय के विषय 'विशेष' को असत्यार्थ माने तो उसके मत में वस्तु नित्य, कूटस्थ हो जाने से अर्थ क्रियाकारी नहीं रहेगी, जिससे वस्तु के अभाव का प्रसंग आ जायेगा और सां य मत की तरह एकान्त मिथ्यादृष्टि हो जायेगा। इसीलिए निश्चयनय के कथन 'सामान्य' और व्यवहारनय के कथन 'विशेष' दोनों की श्रद्धा करने वाले को स यग्दृष्टि कहा है। जिनवाणी में तो नाना अपेक्षा, कहीं कैसा, कहीं कैसा निरूपण किया है। यह अपने अभिप्राय से निश्चयनय की मु यता से जो कथन किया है, उसी को ग्रहण कर मिथ्यादृष्टि होता है।

प्रश्न : या निश्चयनय को उपादेय और व्यवहारनय को हेय मानना उचित है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1244)

उ ार : श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि द्रव्यार्थिक अर्थात् निश्चयनय तथा पर्यायार्थिक अर्थात् व्यवहारनय ये दोनों ही नय भगवान् ने कहे हैं। भगवान् का उपदेश एक नय के अधीन नहीं है, किन्तु दोनों नयों के अधीन है। यदि निश्चयनय को उपादेय और व्यवहारनय को हेय मान लिया जाये तो नि न दोषों का प्रसंग आ जायेगा-

1. निश्चयनय का विषय द्रव्य अर्थात् सा ाान्य है, पर्यायें नहीं है। निश्चयनय के अनुसार आत्मा बंध और मोक्ष के विकल्प से रहित है। सभी जीव सिद्ध समान शुद्ध हैं, अत: निश्चय को उपादेय और व्यवहारनय को हेय मानने से संसार और मोक्ष के अभाव का प्रंसग आ जायेगा।

2. रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग व्यवहारनय के आश्रित है। निश्चयनय का विषय जब बंध और मोक्ष ही नहीं है तो मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है ? समयसार गाथा 7 में निश्चयनय से कहा है कि आत्मा के ज्ञान भी नहीं है, दर्शन भी नहीं है और चारित्र भी नहीं है। अत: निश्चयनय को उपादेय और व्यवहारनय को हेय मानने से मोक्षमार्ग का अभाव हो जायेगा।

3. नियमसार गाथा 159 के अनुसार व्यवहारनय से केवली भगवान् सर्व ज्ञेयों को देखते और जानते हैं किन्तु निश्चयनय से केवली अपनी आत्मा को देखते-जानते हैं। अत: व्यवहारनय को हेय मानने से सर्वज्ञता के लोप होने का प्रसंग आ जायेगा।

अत: दोनों नय यदि सापेक्ष हैं तो स यक् हैं और यदि निरपेक्ष हैं तो मिथ्या हैं। अत: किसी एक नय को हेय और किसी एक नय को उपादेय मानना उचित नहीं है। जो मात्र निश्चयनय को उपादेय

मानते हैं उनके लिए पंचास्तिकाय पृ.250-51 पर कहा है कि 'वे निश्चयावलंबी महा अशुद्धोपयोग से कर्मफल चेतना से प्रधान होते हुए वनस्पति के समान जड़ हैं और केवल पाप ही के बांधने वाले हैं।'

प्रश्न : अ या अरहंतों का स्वरूप जानकर उनकी पूजा करना व्यवहाराभास है ? व्यवहाराभास का स्वरूप अ या है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1256)

उ अ र : निश्चयनय निरपेक्ष 'व्यवहार' व्यवहारा ाास है। किन्तु निश्चयनय सापेक्ष व्यवहारनय सुनय है। अरहंत भगवान् की पूजन होती है। अरहन्त का स्वरूप जाने बिना अरहन्त पूजन नहीं होती है। प्रवचनसार गाथा 80 के अनुसार जो अरहन्त को द्रव्य, गुण और पर्यायपने से जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य नाश को प्राप्त होता है। अत: जो अरहन्त का स्वरूप जानकर पूजन करता है, उसकी क्रियायें व्यवहाराभास नहीं कही जा सकती हैं।

प्रश्न : कुछ लोगों की मान्यता है कि पहले निश्चय फिर व्यवहारनय होता है। अ या उनकी मान्यता आगमस मत है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1256)

उ अ र : अनादिकाल से मिथ्यात्व के कारण परिभ्रमण करते हुए इस जीव को सर्वप्रथम प्रथमोपशम स य€त्व होता है, क्षयोपशम या क्षायिक स य€त्व नहीं होता। प्रथमोपशम स य€त्व से पूर्व 5 लŸधयाँ होती हैं, उनमें तीसरी देशना ला अ ध है। देशना ला अ ध का अर्थ है 'त अ वोपदेश की प्राप्ति'। देशना ला अ ध की प्राप्ति व्यवहार है, €योंकि कारण है और प्रथमोपशम स य€त्व की प्राप्ति निश्चय है। इस प्रकार पहले व्यवहार होता है फिर निश्चय होता है । €योंकि व्यवहार कारण है और निश्चय कार्य है। समयसार गाथा 12 की टीका में व्यवहार को तीर्थ और निश्चय को तीर्थफल कहा है, जिसके अनुसार पहले व्यवहार होता है और निश्चय बाद में।

कोई एकान्ती ऐसा कहते हैं कि जिस प्रकार मुंबई जाने का निश्चय हो जाने पर ही मुंबई जाने का प्रयत्न होता है अत: प्रथम निश्चय पश्चात् व्यवहार होता है। इसका उŽार यह है कि यह दृष्टान्त विषम है। इस दृष्टान्त के द्वारा निश्चय स य€त्व के पश्चात् व्यवहार चारित्र सिद्ध किया गया है। परन्तु इस दृष्टान्त से यह सिद्ध नहीं होता कि निश्चय स य€त्व के बाद व्यवहार स य€त्व या निश्चय चारित्र के पश्चात् व्यवहार चारित्र होता है। जिस हेतु द्वारा मुंबई जाने का निश्चय किया गया वह हेतु ही तो व्यवहार है। इसी प्रकार देशना लŸधि की प्राप्ति व्यवहार है, जो पहले होता है और प्रथमोपशम स य€त्व की प्राप्ति बाद में होती है, जो निश्चय है। छहढाला में भी 'हेतु नियत को होई' ऐसा कहा है।

यदि कहीं पर किसी आगम में पहले निश्चय व बाद में व्यवहार ऐसा कहा हो तो बताइये। हमको तो किसी आगम में ऐसा उल्लेख नहीं प्राप्त हुआ है। आपके बताने पर हम विचार कर सकेंगे।

प्रश्न : निश्चय हो जाने पर ही पर में कारणपने का उपचार किया जाता है। जब तक निश्चय की प्राप्ति न हो जावे तब तक किसी में कारणपने का आरोप कैसे संभव है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1258)

उ र : जिस पदार्थ में कारणपने का उपचार किया जाता है, उस पदार्थ में कारणपने की शक्ति पहले से ही थी या कार्य होने के पश्चात् आई है ? यदि कारणपने की शक्ति पहले से ही थी तो कार्य के पश्चात् कारणपने का आरोप किया जाता है, यह कहना नहीं बनता है। किसी भी वस्तु में कारणपना काल्पनिक नहीं होता है। जिसमें कारणपने की शक्ति होती है उसी को कारण कहा जाता है। कार्य होने पर ही कारण का उपचार होता है, ऐसी बात उचित नहीं है। कार्य को उत्पन्न न करने पर ी कारणत्व शक्ति का अ ाव नहीं होता।

प्रश्न : कानजी स्वामी ने आत्म धर्म नं. 134 के पृष्ठ 39 पर कहा है कि निश्चय रत्नत्रय मोक्षमार्ग है और व्यवहार रत्नत्रय उससे विपरीत अर्थात् बंध मार्ग है। €या उनका ऐसा कथन आगम स मत है?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1264)

उ र : समयसार गाथा 12 तथा पंचास्तिकाय गाथा 160 इन दोनों की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने प्रमŠाविरत व अप्रमŠा गुणस्थान में व्यवहार रत्नत्रय होना कहा है, जो निश्चय रत्नत्रय का साधक है। अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय पहले होता है और सातवें गुणस्थान की शुद्धोपयोग की दशा से निश्चय रत्नत्रय बाद में होता है। यदि व्यवहार-रत्नत्रय को बंध का मार्ग माना जाये, मुक्ति का मार्ग न माना जाये तो छठे और सातवें गुणस्थान में होने वाली महान् निर्जरा किस कारण से मानी जायेगी ? निर्जरा का मु य कारण तो चारित्र ही कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि व्यवहार रत्नत्रय पहले होता है और निश्चय रत्नत्रय बाद में तथा व्यवहार रत्नत्रय भी मोक्षमार्ग है, बन्ध मार्ग नहीं।

प्रश्न : व्यवहारनय किस गुणस्थान तक प्रयोजनवान् है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1265)

उ र : जीव का स्वभाव चेतना है। चेतना के दो भेद हैं, ज्ञान और दर्शन। 12वें गुणस्थान तक ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का उदय रहता है, जिसके कारण जीव के स्वभाव का घात रहता है। इसी अपेक्षा 12 वें गुणस्थान तक जीव को परसमय कहा गया है और इसीलिए यहाँ तक अशुद्ध निश्चयनय अथवा व्यवहारनय होता है। समयसार गाथा 12 के अनुसार जो पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान् हो गए हैं, उनको तो एक शुद्ध निश्चयनय प्रयोजनवान् है और जो अपरमभाव अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुँच सके अर्थात् परमात्मा पद को नहीं पहुँच सके उनके लिए व्यवहारनय ही प्रयोजनवान् है। 12वें गुणस्थान तक ज्ञान पूर्ण नहीं होता है इसलिए वे परमात्म पद को प्राप्त नहीं हुए हैं तथा छद्मस्थ हैं और 12 वें गुणस्थान तक ही उपर्युक्त गाथा के अनुसार व्यवहारनय प्रयोजनवान् है।

प्रश्न : उपचरित स्व ाव का ग्राहक व्यवहारनय समीचीन है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1270)

उ□ ार : आलापपद्धति के स्वभाव-अधिकार सूत्र 28 में जीव के 11 सामान्य स्वभाव और 10 विशेष स्वभावों का वर्णन है। 10 विशेष स्वभावों में उपचरित स्वभाव भी कहा गया है । इससे स्पष्ट है कि उपचार भी द्रव्य का स्वभाव है। द्रव्य के स्वभाव का कथन करने वाला नय मिथ्या नहीं हो सकता है, वह तो समीचीन ही है।

उपचरित स्वभाव का वर्णन करते हुए आलापपद्धति सूत्र 123-24 में कहा गया है कि स्वभाव का भी अन्यत्र उपचार करना उपचरित स्वभाव है। वह उपचरित स्वभाव कर्मज और स्वा ाविक के भेद से दो प्रकार का है। जैसे जीव के मूर्तत्व और अचेतनत्व कर्मज उपचरित स्वभाव हैं तथा सिद्ध आत्माओं के पर का जानपना तथा पर का दर्शकत्व स्वाभाविक उपचरित स्वभाव है। अर्थात् समस्त पर पदार्थों को जाने बिना सर्वज्ञ नहीं हो सकता। अत: सर्वज्ञता उपचरित स्वभाव है।

उपचरित स्वभाव असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। जो नय द्रव्यगत नय को विषय करता है वह नय मिथ्या नहीं हो सकता है। स यक् नय से तो वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। जो नय एकान्त से रहित भाव वाले हैं अर्थात् सापेक्ष हैं वे समीचीन अर्थ को बतलाने वाले हैं। अत: उपचरित स्वभाव का ग्राहक व्यवहारनय समीचीन है।

दिग बर जैनागम में जो व्यवहारनय से कथन है वह अवास्तविक नहीं है, किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से वह कथन वास्तविक है। इसी प्रकार दिग बर जैनागम का अर्थ करने से मोक्षमार्ग की सिद्धि होगी।

प्रश्न : €या व्यवहारनय के कथन द्वारा वस्तु स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1272)

उ□ ार : वस्तु नित्यानित्यात्मक है। जिस प्रकार निश्चयनय नित्य अंश के कथन के द्वारा नित्यात्मक वस्तु का निर्णय कराता है, उसी प्रकार व्यवहारनय अनित्य अंश के कथन के द्वारा अनित्यात्मक वस्तु का निर्णय कराता है। यदि व्यवहारनय द्वारा कथित अनित्य अंश के द्वारा वस्तु का यथार्थ निर्णय न होता तो 'अनित्य भावना' के द्वारा संवर नहीं हो सकता था। जबकि मोक्षशास्त्र अध्याय 9 में अनित्य भावना से संवर कहा है। वस्तु स्वरूप का अनिर्णय तो मिथ्यात्व है, उसके द्वारा संवर असंभव है। समयसार कलश नं. 83 में कहा है कि जीव नित्य है ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव नित्य नहीं है ऐसा दूसरे नय का पक्ष है। इस प्रकार चित् स्वरूप जीव के स बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो त□ ववे□ ा पक्षपात रहित हैं उसे निरंतर चित् स्वरूप जीव, चित् स्वरूप ही है।

अत: किसी एक नय के पक्षपात को छोड़कर 'स्यात्' कथंचित् पद द्वारा निश्चय व व्यवहारनय के विरोध को दूर कर जैनागम का वास्तविक ज्ञान करना चाहिए।

प्रश्न : निश्चयनय से एक व्यक्ति न तो दूसरे को मार सकता है और न बचा सकता है। तब 'जियो और जीने दो' का उपदेश यों दिया गया? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1274)

उ र प्रदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। निश्चयनय का विषय द्रव्य है और व्यवहारनय का विषय पर्याय है। निश्चयनय से जीव में न बन्ध है, न मोक्ष है, न मनुष्य है, न तिर्यंच है, न जन्म है, न मरण है आदि। योंकि ये सब पर्याय हैं, जो व्यवहारनय का विषय हैं। अत: निश्चयनय अर्थात् द्रव्यदृष्टि में तो 'जियो और जीने दो ' का प्रश्न ही नहीं उठता। परंतु जिनकी मात्र द्रव्यदृष्टि है और पर्यायदृष्टि निरपेक्ष हैं उनको प्रवचनसार में मिथ्यादृष्टि कहा गया है योंकि पर्याय के बिना द्रव्य का अस्ि व सिद्ध नहीं हो सकता है। पर्यायरहित वस्तु गधे के सींग के समान है।

पंचास्तिकाय गााथा 12 के अनुसार पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्याय नहीं होती। अत: मात्र द्रव्यदृष्टि रखना मिथ्यादृष्टिपना है।

प्रश्न : संश्लेष स बन्ध किस नय का विषय है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1277)

उ र आलापपद्धति में नयों का कथन सिद्धांत की अपेक्षा और अध्यात्म की अपेक्षा दो प्रकार से किया गया है। सूत्र 213 में सिद्धान्त की अपेक्षा कथन है। सिद्धान्त में अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय नहीं है, अत: वहाँ संश्लेष स बन्ध को उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय कहा गया है।

आलापपद्धति सूत्र 228 में अध्यात्म की अपेक्षा से कथन है। अध्यात्म में असद्भूत व्यवहारनय के उपचरित और अनुपचरित दो भेद हैं अत: अध्यात्म की अपेक्षा संश्लेष स बन्ध को इस सूत्र में अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय कहा गया है।

यद्यपि दोनों सूत्रों के कथन में अंतर हो गया है परन्तु दोनों ही कथन अपनी-अपनी अपेक्षा से यथार्थ हैं।

प्रश्न : नय और निक्षेप में या अन्तर है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1277)

उ र नामादिक के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहते हैं और ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं (श्री धवला 1/7)। अर्थात् निक्षेप विषय है और नय विषयी है, इस प्रकार इन दोनों में भेद है।

प्रश्न : यदि किसी मनुष्य का नाम 'शेरसिंह' रखा जावे, तो □ या यह 'नाम निक्षेप' नहीं है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1278)

उ□ ार श्री पूज्यपाद आचार्य के अनुसार मनुष्य का नाम (शेरसिंह) यह नाम निक्षेप है, □ योंकि व्यवहार के लिए अपनी इच्छा से की गई संज्ञा है। परन्तु श्री वीरसेनाचार्य के अनुसार यदि उस मनुष्य में सिंह जैसी क्रिया पाई जाती है तो उस मनुष्य की 'शेरसिंह' संज्ञा क्रियानिमि□ ाक होने से नाम निक्षेप हो सकती है। यदि उस मनुष्य में सिंह जैसे गुण या क्रिया नहीं हैं, तो वह नाम निक्षेप की परि ाषा में नहीं आती, मात्र लोक व्यवहार है।

प्रश्न : नाटक में जो पार्ट किया जाता है, वह किस निक्षेप का विषय है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1278)

उ□ ार नाटक में जो राजा का वेश धारण किया जाता है वह एक अवस्था की स्थापना है। इसका स्थापना निक्षेप में ही अन्तर्भाव होता है।

प्रश्न : स यग्दृष्टि को व्यवहारसापेक्ष निश्चय का बोध होता है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 872)

उ□ ार स यग्दृष्टि को निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों नयों का परस्पर सापेक्षरूप से बोध होता है। इन दोनों में से मात्र किसी एक नय का बोध होवे और दूसरे नय का सापेक्षरूप से बोध न होवे, तो वह मिथ्यादृष्टि है। यह भी ज्ञातव्य है कि मात्र निश्चयनय ही प्रयोजनवान् नहीं है। निर्विकल्प समाधि में स्थित मुनियों के लिए निश्चयनय प्रयोजनवान् है, किन्तु निर्विकल्प समाधि से रहित सविकल्प अवस्था में व्यवहारनय प्रयोजनवान् है।

श्री जयधवला पुस्तक 1 / 249 में कहा भी है कि मात्र अपने-अपने पक्ष से प्रतिबद्ध ये सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं। परन्तु यदि ये सभी नय परस्पर सापेक्ष हों, तो समीचीनपने को प्राप्त होते हैं अर्थात् स यग्दृष्टि होते हैं।

प्रश्न : €या छह द्रव्य और नौ पदार्थों का जानना हेय है, €योंकि यह तो व्यवहार स य€त्व में कारण है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 876)

उ□ ार छह द्रव्य, नौ पदार्थ और सप्त त□ वों का जानना हेय नहीं है, अपितु उपादेय है। पंचास्तिकाय गाथा 107 की टीका में कहा गया है कि छह द्रव्य और उनके भेदरूप नौ पदार्थों का श्रद्धान स यग्दर्शन है। तž वार्थसूत्र में भी 'तž वार्थश्रद्धानं स यग्दर्शनम्' कहा गया है। इन छह द्रव्यों, नौ पदार्थों आदि का अस्ति□ व न हो, ऐसी बात नहीं है। यदि इनका अस्ति□ व न होता, तो जिनेन्द्र भगवान्

इनका उपदेश €यों करते और इनके श्रद्धान व ज्ञान को स यग्दर्शन व स यग्ज्ञान €यों कहते ? जिनेन्द्र भगवान् ने छह द्रव्यादि का कथन किया है, अत: व्यवहारनय के विषयभूत होते हुए ी इनका अस्तिǽव है। अत: छह द्रव्य, सात तǽव और नौ पदार्थों का ज्ञान, श्रद्धान उपादेय है और स यग्दर्शन की उत्पǽि में कारण है।

प्रश्न : वर्तमान में हमारी आत्मा शुद्ध है या अशुद्ध ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 898)

उ र : संसारावस्था में सब जीव शक्तिरूप से शुद्ध हैं, किन्तु व्यक्तिरूप से अशुद्ध हैं। यदि संसारावस्था में भी व्यक्तिरूप से शुद्ध मान लिया जाये, तो फिर मोक्षमार्ग का उपदेश भी निरर्थक हो जायेगा, योंकि जिसे मोक्ष अवस्था प्राप्त है, उसे मोक्ष की प्राप्ति के उपदेश से या लाभ ?

रागद्वेष जीव की विकारी पर्याय है। जीव उन पर्यायों से तन्मय होता है, उन पर्यायों का मात्र ऊपरी असर नहीं होता, किन्तु उनसे आत्मा का बहुत बिगाड़ होता है। आत्मा रागावस्था में अशुद्ध होती है, शुद्ध नहीं होती। किन्तु उसमें शुद्ध होने की शक्ति रहती है। यदि कषायावस्था में आत्मा शुद्ध है, तो €या अकषाय अवस्था में अशुद्ध होगी ? राग शǽद ही आत्मा की अशुद्ध अवस्था का वाचक है। इस प्रकार वर्तमान में हमारी आत्मा शक्तिरूप से शुद्ध होती हुई भी व्यक्तिरूप से अशुद्ध है।

प्रश्न : €या पर्यायदृष्टि से मोक्षमार्ग स भव है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1074)

उ र : आलापपद्धति सूत्र 95 में कहा है कि वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। इस सामान्य को विषय करनेवाला नय अथवा दृष्टि, द्रव्यार्थिकनय अथवा द्रव्यदृष्टि है तथा विशेष अर्थात् पर्याय को विषय करनेवाला पर्यायार्थिकनय अथवा पर्यायदृष्टि है।

द्रव्यदृष्टि में पर्याय गौण होने से जीव न संसारी है, और न मुक्त है, €योंकि संसारी और मुक्त ये दोनों पर्यायें हैं। अत: द्रव्यदृष्टि में मोक्ष और मोक्षमार्ग, ये दोनों पर्याय स भव नहीं हैं। द्रव्यदृष्टि में तो जीव न स यग्दृष्टि है, न मिथ्यादृष्टि है, €योंकि ये भी पर्यायें हैं। इस संसारी जीव का अनादिप्रवाहरूप से ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के साथ संश्लेषरूप बंध चला आ रहा है। जब कोई भव्य जीव व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्त करता है, तब उन ज्ञानावरणादि कर्मों की द्रव्य और भावरूप अवस्थाओं का नाश करके पर्यायदृष्टि से सिद्ध भगवान् हो जाता है। जो सिद्ध पर्याय पूर्व में कभी प्राप्त नहीं हुई थी, उस सिद्ध पर्याय को प्राप्त कर लेता है। द्रव्यदृष्टि से तो पहले से ही यह जीव सिद्धरूप है अर्थात् द्रव्यदृष्टि में इस प्रकार मोक्षमार्ग स भव नहीं है।

एकान्त पर्यायदृष्टि से बौद्धमतरूप दूषण आता है और एकान्त द्रव्यदृष्टि से सां यमतरूप दूषण आता है, €योंकि सां यमत में एकांत से जीव को नित्य अपरिणामी माना गया है। ये दोनों एकान्त दृष्टिवाले जीव मिथ्यादृष्टि कहे गये हैं। जबकि जैनमत में परस्पर सापेक्ष द्रव्यदृष्टि तथा पर्यायदृष्टि मानने

से कोई दूषण नहीं आता।

आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्षपाहुड गाथा 4 तथा आचार्य पूज्यपाद ने समाधितंत्र श्लोक 4 में आत्मा को बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा तीन प्रकार का कहा है। तथा इन तीन भेदों (पर्यायों) में से बहिरात्मा को छोड़कर अंतरात्मा के उपाय से परमात्मा अवस्था का ध्यान करने का वर्णन किया है। उस परमात्मारूप पर्याय के ध्यान से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है। परमात्मा अवस्था जीव की पर्याय है और उस परमात्मपर्याय के श्रद्धान व ध्यान को मोक्षमार्ग बतलाया गया है।

द्रव्यदृष्टि की प्रधानता रहने पर और पर्यायदृष्टि गौण होने पर अनादि पारिणामिक जीव और अजीव द्रव्य की मु यता होने से आस्रवादि पर्यायों की विवक्षा न होने पर उन आस्रव आदि पर्यायों का जीव और अजीव में अन्तर्भाव हो जाता है। अत: द्रव्यदृष्टि से जीव और अजीव इन दो पदार्थों का श्रद्धान स यग्दर्शन है, किन्तु जिस समय उन आस्रव आदि पर्यायों को पृथक्-पृथक् ग्रहण करनेवाली पर्यायदृष्टि की मु यता होती है तथा द्रव्यदृष्टि गौण होती है, तब आस्रवादि पर्यायों का जीव और अजीव में अन्तर्भाव नहीं होता। अत: पर्यायदृष्टि से इन आस्रवादि पर्यायों का उपदेश सार्थक है, निरर्थक नहीं है। अर्थात् आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन पर्यायों का श्रद्धान स यग्दर्शन है, यह उपदेश पर्यायदृष्टि से यथार्थ है।

यदि द्रव्यदृष्टि पर्यायदृष्टि-सापेक्ष है और पर्यायदृष्टि द्रव्यदृष्टि-सापेक्ष है, तो स यग्दर्शन व स यग्ज्ञान की कारण है। यदि द्रव्यदृष्टि पयार्यदृष्टि-निरपेक्ष है और पर्यायदृष्टि द्रव्यदृष्टि-निरपेक्ष है, तो मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान के कारण हैं।

छहढाला में पर्यायदृष्टि से ही उपदेश दिया गया है और पर्यायदृष्टि से ही मुक्ति बताई गई है। वैराग्यवर्द्धक अनित्यादि भावनाओं का वर्णन भी पर्यायदृष्टि की अपेक्षा ही स भव है। सामायिक पाठ और आलोचना पाठ में भी पर्यायदृष्टि से ही कथन किया गया है। यदि द्रव्यदृष्टि का विषय शुद्धद्रव्य माना जाय, तो वह विभावपर्यायों को प्राप्त नहीं हो सकता। तब उपर्युक्त सभी चिंतन व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे।

पं. टोडरमल जी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है 'द्रव्यकरि सामान्य स्वरूप अवलोकना, पर्यायकरि विशेष अवधारणा। ऐसे ही चिंतवन किये स यग्दृष्टि हो है, जातें सांचा अवलोके बिना स यग्दृष्टि कैसे नाम पावे।'

इस प्रकार जो द्रव्य, गुण, पर्याय के यथार्थज्ञान से मूढ़ हैं अथवा मैं नारकी आदि पर्यायरूप नहीं हूँ, इस प्रकार भेदविज्ञान में मूढ़ हैं, वे वास्तव में मिथ्यादृष्टि हैं।

अत: सापेक्षद्रव्यदृष्टि सुदृष्टि, निरपेक्षद्रव्यदृष्टि मिथ्यादृष्टि, सापेक्षपर्यायदृष्टि सुदृष्टि, निरपेक्षपर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि। अत: सापेक्ष पर्यायदृष्टि से मोक्षमार्ग स भव है।

पुण्य का विवेचन

प्रश्न : पुण्य का विशेष विवेचन कीजिए। *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1351)

उ ार इस प्रश्न के उ ार में पं. रतनचन्द्र जी मु तार साहब ने 18 बिन्दुओं के द्वारा पुण्य का विशद विवेचन किया है, जिसका संक्षेप इस प्रकार है-

(1) पुण्य की व्या या : जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है। आदि (पृष्ठ 1351)

(2) जीवपुण्य : जो जीव शुभ भाव से युक्त है वह जीव पुण्य है। इसकी विशद व्या या पृष्ठ 1353से 1360 तक की गई है, जिसके अनुसार शुभोपयोग, शुभभाव, विशुद्ध भाव या पुण्य भाव से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस स बन्ध में 30 प्रमाण दिये गये हैं।

(3) अजीव पुण्य : जो पुद्गल पुण्य भाव से युक्त हो वह अजीव पुण्य है। पृष्ठ 1361-62 में अच्छी प्रकार स्पष्ट किया है कि पुण्य कर्म की सहकारिता के बिना कोई भी जीव मोक्ष नहीं जा सकता। नीचगोत्ररूप पाप कर्मोदय में तो संयम धारण भी नहीं हो सकता है। उच्चगोत्र वाले के ही संयम होता है, और संयम के बिना मोक्ष नहीं होता।

(4) €या पुण्य भी पाप के समान सर्वथा हेय है : (पृष्ठ 1363) यहाँ पर बताया गया है कि अन्तरात्मा, पुण्य जीव और पुण्य कर्म कथंचित् उपादेय हैं सर्वथा हेय नहीं हैं। यदि यह कहा जाये कि व्यवहारनय से पुण्य कथंचित् उपादेय हो सकता है किन्तु निश्चयनय से तो पुण्य सर्वथा हेय ही है। ऐसा कहना ठीक नहीं है **€**योंकि बारसाणुवे**€**खा गाथा- 86 में कहा गया है कि निश्चयनय से न कोई हेय है न कोई उपादेय।

(5) शुभोपयोग से बंध और मोक्ष कैसे : इसका उ ार पृ. 1365 से 1370 तक विस्तार से दिया गया है, जिसमें विभिन्न प्रमाणों से सिद्ध किया गया है कि शुभोपयोग से बंध और मोक्ष दोनों होते हैं।

(6) रत्नत्रय से बंध : (पृष्ठ 1370) यहाँ यह समझाया गया है कि रत्नत्रय मोक्ष का ही कारण है, बंध का कारण नहीं, ऐसा एकान्त ठीक नहीं हैं। अन्तरात्मा के आश्रित जो रत्नत्रय है, वह बंध का भी कारण होता है, संवर-निर्जरा का भी कारण होता है और परंपरा से मोक्ष का भी कारण है।

(7) शुभ परिणामों से अतिशय पुण्य बंध : जो ऐसा कहते हैं कि शुभ परिणामों से पुण्य बंध होता है, पुण्य से भोगोपभोग की सामग्री मिलती है, भोगोपभोग में आसक्त होकर जीव संसार में भ्रमण करता है, अत: पुण्य हेय है। ऐसी धारणा वाले जीवों को पृ.1373 से 1376 तक अच्छी प्रकार समझाया गया है कि स यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य संसार का कारण कभी नहीं होता, यह नियम है। शुभोपयोग स यग्दृष्टि के होता है। स यग्दृष्टि के शुभोपयोग से जो अतिशय पुण्य बंध होता है वह मोक्ष का कारण है संसार का कारण नहीं हैं। अत: स यग्दृष्टि का पुण्य हेय नहीं है।

(8) समयसार ग्रन्थ की अपेक्षा पुण्य-पाप पर विचार : पृष्ठ 1376 और 77 पर अच्छी प्रकार बताया गया है कि समयसार ग्रन्थ में पुण्य व पाप को किन्हीं अपेक्षाओं से समान बतलाते हुए भी मोक्षमार्ग व संसारमार्ग की अपेक्षा अन्तर बतलाया है।

(9) पंचास्तिकाय ग्रन्थ की अपेक्षा पुण्य-पाप पर विचार : (पृष्ठ 1377) इस ग्रन्थ में शुभपरिणाम के तीन भेद किए हैं (1) प्रशस्त राग (2) अनुकंपा (3) अकलुषता। इनमें प्रशस्त राग तो संवेग और भक्ति का नामांतर है, अकलुषता उपशम या प्रशम का पर्यायवाची है अर्थात् ये तीनों ही स यग्दर्शन के गुण हैं और मोक्षमार्ग में सहकारी कारण हैं।

(10) प्रवचनसार की अपेक्षा पुण्य-पाप पर विचार : (पृष्ठ 1378) इसमें बताया गया है कि प्रवचनसार में टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि पुण्य और पाप में भेद भी है और अभेद भी है, सर्वथा समान नहीं हैं। यद्यपि पुण्य शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है तथापि शुद्धात्मा की प्राप्ति में सहकारी अवश्य है €योंकि इससे आत्मा पवित्र होती है।

(11) अष्टपाहुड़ की अपेक्षा पुण्य और पाप पर विचार : (पृष्ठ 1379) इसमें विभिन्न प्रमाणों से बताया गया है कि जिन पूजादिरूप पुण्य पर परा से मोक्ष का कारण है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि जिनेन्द्र की भक्ति रूपी पुण्य से संसार के मूल का नाश होता है।

(12) परमात्मप्रकाश की अपेक्षा पुण्य-पाप पर विचार : (पृष्ठ 1381) इसमें बताया गया है कि जो शुद्धोपयोगरूप निर्विकल्प समाधि में पुण्य-पाप को समानरूप जानते हैं, तो योग्य है। परन्तु जो निर्विकल्प समाधि को न पाकर भी पुण्य- पाप को समान जानकर गृहस्थ अवस्था में दान-पूजादि शुभ क्रियाओं को छोड़ देते हैं। वे दोनों बातों से भ्रष्ट हैं। वे निन्दा योग्य हैं, उनके दोष ही है।

(13) सं€लेश व विशुद्ध परिणाम : पृष्ठ 1384 से 1386 तक बताया गया है कि जब तक साधक वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित नहीं होता है तब तक विशुद्ध परिणाम- शुभ भाव उपादेय हैं। वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर बुद्धिपूर्वक शुभ भाव स्वयमेव छूट जाते हैं। सं□ लेश परिणाम हेय हैं। वर्तमान में धर्म ध्यान आदि शु ाभाव हो सकते हैं। इसलिए वर्तमान अवस्था में हमारे लिए शु ा भाव अर्थात् विशुद्ध परिणाम ही उपादेय हैं।

(14)स यग्दृष्टि को भी पुण्य इष्ट : (पृष्ठ 1387) यहाँ कहा गया है कि स यग्दृष्टि भी रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए बुद्धिपूर्वक पुण्योपार्जन करता है। विभिन्न आचार्यों ने पाप का नाश करते हुए भले प्रकार पुण्य संचय करने को कहा है, अत: स यग्दृष्टि पुण्य को सर्वथा हेय नहीं समझता।

(15) पुण्य-पाप स बन्धी विशेष प्रश्नोŠार : (पृष्ठ 1389) इसमें पुण्य और पाप की, उन्नीस शंका समाधानों द्वारा अच्छी प्रकार व्या या की गई है।

(16) €या पुण्य-पाप विष्ठा हैं : इस मान्यता का निराकरण करते हुए पृष्ठ 1392 से 1394 तक कहा गया है कि जिस पुण्य को सोनगढ़ के नेता विष्ठा बतलाते हैं, आचार्य कुन्दकुन्द ने उसी पुण्य

का फल प्रवचनसार गाथा 45 में अरिहन्त पद कहा है। किसी आचार्य ने पुण्य को विष्ठा नहीं कहा।

(17) (अ) €या पुण्य-पाप भाव अकेले नहीं होते : यहाँ पृष्ठ 1394 से 1396 तक बताया गया है कि किसी ाी दिग बर जैनाचार्य ने यह नहीं लिखा है कि अकेला पुण्य या अकेला पाप नहीं हो सकता, अत: यह मान्यता गलत है।

(आ) हिंसा करते समय कसाई के पुण्य बंध कहना अनुचित है : (पृष्ठ 1394) कानजी स्वामी ने कहा है हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प पुण्य बंध होता है । यह धारणा गलत है। किसी भी दिग बर जैनाचार्य ने ऐसा लिखा हो तो प्रमाण प्रस्तुत करें।

(18) विविध बिन्दु : इसमें पृष्ठ 1396 से 1402 तक वि ाि न्न प्रमाणों द्वारा चार प्रकरण सिद्ध किए गए हैं (1) पुण्य व पाप में कथंचित् समानता है और कथंचित् असमानता है। (2) पुण्य भी कथंचित् उपादेय है। (3) कथंचित् पुण्य मोक्ष का सहकारी कारण है। (4) निरतिशय पुण्य भी कथंचित्-कदाचित् उत्थान का हेतु है।

इस प्रकार 51 पृष्ठों में पुण्य की विशद व्या या आगम प्रमाणों के अनुसार प्रस्तुत की गई है, जो अत्यंत पठनीय है।

परिशिष्ट : इसके अन्तर्गत विभिन्न विद्वानों और आचार्यों के क्रमबद्ध पर्याय (नियतिवाद) के स बन्ध में कुछ विशेष प्रमाण तथा मत दिए गए हैं। जो यह सिद्ध करते हैं कि क्रमबद्धपर्याय का सिद्धान्त पाखण्ड है, इसको मिथ्यात्व कहा गया है।

विभिन्न आगमिक परिभाषायें

प्रश्न : सूक्ष्म निगोदिया के अक्षर के अनंतवें भाग ज्ञान होता है। यहाँ अक्षर से □ या अभिप्राय है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1287)

उ□ ार श्री धवला पु. 13/262 में कहा है कि 'सूक्ष्म निगोद ल□ ध्यपर्याप्तक के जो जघन्य ज्ञान होता है उसका नाम लŽध्यक्षर है। इसका प्रमाण केवलज्ञान का अनंतवाँ भाग है। यह ज्ञान निरावरण है €योंकि अक्षर के अनंतवाँ भाग ज्ञान नित्य उद्घाटित रहता है। इस प्रकार धवलाकार ने अक्षर शŽद से केवलज्ञान को ग्रहण किया है। केवलज्ञान में वृद्धि और हानि नहीं होती, इसीलिये उसे अक्षर कहा गया है।

प्रश्न : प्रतिगणधर देव कौन होते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1289)

उ□ ार ज्ञो मु य गणधर के समान हों अथवा मु य गणधर के अतिरिक्त जो अन्य गणधर हैं वे प्रतिगणधर कहलाते हैं। उनके वचनों के अनुसार आरातीय आचार्यों ने ग्रन्थों की रचना की है।

प्रश्न : मोह और राग में या अंतर है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1292)

उ र जो मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है, उसके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दो भेद हैं। राग और द्वेष, ये दोनों चारित्र मोहनीय रूप हैं क्योंकि क्रोध व मान द्वेषरूप हैं व माया और लोभ रागरूप हैं। इस प्रकार यद्यपि मोह शब्द से रागद्वेष का भी ग्रहण हो जाता है तथापि समयसार आदि ग्रंथों में जहाँ पर मोह, राग, द्वेष श द का प्रयोग हुआ है वहाँ पर मोह श द से दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व का ग्रहण है और रागादि शब्द से चारित्रमोह का ग्रहण समझना चाहिये।

प्रश्न : व्रत, संयम और चारित्र इन तीनों शब्दों को पर्यायवाची माना जाये या इनकी परिभाषा में अंतर है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1295)

उ र स्थूल दृष्टि से तीनों शब्द पर्यायवाची हैं परन्तु व्युत्पत्ति परक अर्थ के अनुसार निम्न प्रकार अंतर ी है-

1. व्रत- हिंसादिक पापों से विरत होना अथवा प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है।

2. संयम- स यग्दर्शन और स यग्ज्ञान पूर्वक बहिरंग और अंतरंग आस्रवों से विरत होना संयम है अथवा प्राणी और इन्द्रियों के विषय में अशुभ प्रवृत्ति के त्याग को संयम कहते हैं।

3. चारित्र- जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाये या आचरणमात्र चारित्र है अथवा अपने आत्मस्वरूप में आचरण करना चारित्र है।

प्रश्न : समवाय संबंध का या स्वरूप है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1296)

उ र श्रीधवलाकार ने जीव प्रदेशों का और पौद्गलिक शरीर के संबंध को समवाय संबंध कहा है अर्थात् आहार वर्गणा संबंधी पुद्गल स्कंधों का और आत्मा का एकमेक हो जाना समवाय संबंध है। किन्तु श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पञ्चास्तिकाय गाथा 50 में गुण और गुणी के तादात य संबंध को समवाय संबंध कहा है। इस प्रकार दो परिभाषायें पाई जाती हैं।

प्रश्न : मंगल कितने प्रकार का होता है ? उसमें णमोकार मंत्र कौन सा मंगल है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1299)

उ र श्री धवलाकार ने धवल पु. 1/41 में कहा है कि मंगल दो प्रकार का है। 1. निबद्धमंगल 2. अनिबद्ध मंगल। ग्रंथ की आदि में ग्रंथकार के द्वारा इष्टदेवता नमस्काररूप, श्लोकादिरूप से जो रचा जाता है उसे निबद्ध मंगल कहते हैं। जैसे- 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' या 'नमः श्री वर्द्धमानाय' इत्यादि। तथा जो ग्रंथकार के द्वारा देवता को नमस्कार किया जाता है उसे अनिबद्ध मंगल कहते हैं। णमोकार

मंत्र 'जीवट्ठाण' नामक षट्खंडागम की प्रथमपुस्तक के आरं ा में आचार्य पुष्पदंत द्वारा रचित निबद्ध मंगल है। श्री षटखण्डागम में 'णमो जिणाणं' यह जो मंगल मध्य में दिया है उसकी प्ररूपणा 24 अनुयोग द्वार वाले 'महाकर्मप्राभृत' के आदि में श्री गौतमगणधर ने की है। अत: यह अनिबद्ध मंगल है। यद्यपि पंच नमस्कार मन्त्र अनादि है तथापि उसकी प्राकृत गाथारूप रचना आचार्य पुष्पदंत द्वारा की गई है ऐसा प्रतीत होता है €योंकि आचार्य वीरसेन महाराज ने णमोकार मंत्र को 'जीवट्ठाण' का निबद्ध मंगलाचरण कहा है।

प्रश्न : आत्म स्वरूप को प्राप्त करने वाले अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी को तो देव कहना, भगवान् कहना और नमस्कार करना उचित है किन्तु आचार्यादिक तीन परमेष्ठियों ने आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं किया है, इसलिये उनको देव या भगवान् कहना कैसे उचित है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1301)

उ र : अपने भेदों से अनंत भेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रय से युक्त जीव भी देव हैं। आचार्यादिक भी रत्नत्रय केयथायोग्य धारक होने से देव हैं €योंकि अरहंतादिक से आचार्यादिक में रत्नत्रय के सद्भाव की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है। यदि रत्नत्रय के एकदेश में देवपने का अभाव माना जायेगा तो रत्नत्रय की समग्रता में देवपना नहीं बन सकता है। (श्री धवला पु. 1/52-53) अत: आचार्यदिक परमेष्ठियों की भगवान् कहना उचित है।

प्रश्न : तǍवार्थसूत्र में मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है तो मूर्च्छा की परिभाषा €या है ? फिर महाराजा भरत को वैरागी कैसे माना जाये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1319)

उ र : सर्वार्थसिद्धि 7/17 में मूर्च्छा की परिभाषा बताते हुये कहा है कि गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन व अचेतन, बाह्य उपधि का तथा रागादिरूप आ यन्तर उपधि का संरक्षण, अर्जन, और संस्कार आदि व्यापार मूर्च्छा है। क्षेत्र, वास्तु आदि बाह्य पदार्थ मूर्च्छा के आश्रयभूत हैं अत: इनको भी परिग्रह कहा है और इनका निषेध किया है।

भरत चक्रवर्ती भरतक्षेत्र के छहों खण्डों के राजा थे, वे स यग्दृष्टि थे। उनके बाह्य परिग्रह में आसक्ति का अभाव होने से उनको वैरागी कहा है। परिग्रह होना और बात है और परिग्रह में आसक्ति होना और बात है। भिखारी के पास परिग्रह न होते हुये भी परिग्रह की इच्छा अधिक है अत: उसको प्रथमानुयोग, चरणानुयोग आदि ग्रन्थों में परिग्रही कहा है।

प्रश्न : मस्तिष्क और मन में या अंतर है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1329)

उ र : द्रव्यमन तो मनोवर्गणाओं से निर्मित और हृदय में आठ पाखुड़ी वाले कमल के समान स्थित है किन्तु मस्तिष्क ललाट में होता है। अत: इन दोनों के स्थान भिन्न-भिन्न हैं।

2. मस्तिष्क का कार्य हिताहित का विचार तथा स्मृति आदि है जबकि मन का कार्य शिक्षा व उपदेश को ग्रहण करना है।

मस्तिष्क के संबंध में जैन शास्त्रों में कोई और विशेष चर्चा नहीं पाई जाती है।

प्रश्न : पं0 वृन्दावन कृत् शांतिनाथ पूजा के प्रथम छंद का अर्थ उ या है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1334)

उ र वह छन्द इस प्रकार है-

या भवकानन में चतुरानन पाप पनानन घेरि हमेरी।
आतम जानन मानन ठानन बान न होन दई शठमेरी॥
तामद भानन आपहि हो यह छानन आनन आनन टेरी।
आन गही शरणागत को अब श्रीपति जी पत राखहु मेरी॥

श दार्थ कानन- जंगल, चतुरानन- चारों ओर से अथवा हे चतुर्मुख दिखाई देने वाले भगवन्, पनानन- सिंह।

भावार्थ- इस संसाररूपी वन में चारों ओर से पापरूपी सिंह ने हमें घेर रखा है। इस शठ पापी ने आत्मा को जानना, मानना, और आचरण नहीं होने दिया। उस पापी के मद को चूर करने में आप ही समर्थ हो। ऊहापोह कर मैंने यह निश्चय कर लिया है अत: आपके स मुख पुकार कर रहा हूँ और अब आपकी शरण ग्रहण कर ली है। हे श्रीपति भगवन् अब मेरी लाज रखो।

प्रश्न : देवशास्त्रगुरु पूजा की जयमाला में 'चउकर्म की त्रेसठ प्रकृति नाश' बोलना ठीक है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1337)

उ र अरहंत परमेष्ठी के 63 कर्म प्रकृतियों का क्षय हो जाता है जिसमें घातिया कर्मों की ज्ञानावरण की 5, दर्शनावरण की 9, मोहनीय की 28 और अन्तराय की 5 = 47 प्रकृतियाँ हैं। आयुकर्म की नरकायु, तिर्यञ्चायु, देवायु ये तीन आयु और नामकर्म स बन्धी देवगति, नरकगति, चार जाति, स्थावर, सूक्ष्म, उद्योत, आतप, साधारण, नरकगत्यानुपूर्वी और तिर्यग्गत्यानुपूर्वी ये 13 प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकार त्रेसठ प्रकृतियों का नाश होता है। अत: 'कर्मन की त्रेसठ प्रकृति नाश' ऐसा उच्चारण उचित है। 'कर्मन' यह श द स्वयं बहुवचन है अत: चउकर्म बोलना आवश्यक नहीं। चउकर्म बोलने पर जी ा ठोकर खाती है अत: छंददोष भी होता है। 'चउ कर्म की' ऐसा बोलने पर मात्रायें 17 हो जाती हैं जबकि पद्धरि छंद में 16 मात्रायें होती हैं। अत: कर्मन की बोलना उचित है। इसी प्रकार समोशरण शŹद अशुद्ध है समवसरण बोलना चाहिये।

प्रश्न : पुण्यजीव और पापजीव से क्या समझना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1364)

उ र : यग्दृष्टि नरक के दु:ख भोगता हुआ भी पुण्यजीव है क्योंकि उसको वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान है और मिथ्यादृष्टि स्वर्ग के सुख भोगता हुआ भी पाप जीव है यों कि उसको वस्तुस्वरूप का यथार्थ श्रद्धान नहीं है। अर्थात् प्रथम गुणस्थान वाले जीव पापजीव कहे गये हैं तथा चौथे और उससे आगे गुणस्थान वाले जीव पुण्य जीव कहे गये हैं। तृतीय गुणस्थान वाले पुण्य और पापरूप मिश्रजीव हैं।

प्रश्न : जीव पुण्य और अजीव पुण्य का क्या स्वरूप है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1353)

उ र : पुण्य दो प्रकार का है – 1. जीव पुण्य 2. अजीव पुण्य ।

आत्मा के जो मन्द कषाय रूप अथवा शुभोपयोग सहित परिणाम हैं वे जीव पुण्य हैं तथा जो पुण्य प्रकृतियां (68) हैं वे अजीव पुण्य हैं। सातावेदनीय, उŸाम संहनन, उच्चगोत्र आदि प्रकृतियाँ आत्मा की पवित्रता में कारण हैं। इसलिये इनको अजीव पुण्य कहा गया है। ये पुण्यप्रकृतियाँ मोक्ष प्राप्ति में भी कारण कही गई हैं।

प्रश्न : अणु-परमाणु तथा प्रमेय-प्रमाण में क्या अन्तर है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1280)

उ र : प्रमाण का जो विषय है वह प्रमेय है। पदार्थ प्रमेय है, पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। प्रमेय और प्रमाण में विषय और विषयी का अन्तर है।

अणु और परमाणु दोनों शŸादों का एक अर्थ है। जिसका भाग न हो सके ऐसे अविभागी पुद्गल को अणु या परमाणु कहते हैं। काल द्रव्य भी एकप्रदेशी है, उसकी अवगाहना भी पुद्गल परमाणु के बराबर है, अत: काल द्रव्य को भी कालाणु कहते हैं।

प्रश्न : उपक्रमणकाल किसे कहते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1283)

उ र : निरंतर उत्पन्न होने के काल को अथवा निरंतर प्रवेश होने के काल को अथवा निरंतर आय के काल को उपक्रमण काल कहते हैं। जैसे देवगति में जीवों के निरंतर उत्पन्न होने के काल को उपक्रमणकाल कहते हैं। अन्य गुणस्थान से आकर तीसरे गुणस्थान में जीवों के निरंतर प्रवेश काल को उपक्रमण काल कहते हैं।

प्रश्न : 'काल क्षय' श द का या अर्थ है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1284)

उ र : जो सप्रतिपक्ष बन्ध प्रकृतियाँ हैं उनका बन्ध अपने नियतकाल तक होता है। नियतकाल के समाप्त होने पर विवक्षित प्रकृति का बंध रुक जाता है और प्रतिपक्ष प्रकृतियों का बंध प्रारंभ हो जाता

है। जैसे असातावेदनीय कर्म प्रकृति की प्रतिपक्ष सातावेदनीय कर्म प्रकृति है। साता व असातावेदनीय कर्म प्रकृतियों में से प्रत्येक का जघन्य बन्धकाल एक समय है और उत्कृष्ट बंधकाल अन्तर्मुहूर्त है। (महाबंध पुस्तक 1/47) सातवें गुणस्थान से मात्र सातावेदनीय कर्म का बंध होता है। छठे गुणस्थान तक असातावेदनीय कर्म का बंधकाल क्षय (समाप्त) हो जाने पर सातावेदनीय का बंध प्रारंभ हो जावेगा। सातावेदनीय कर्म का बंधकाल क्षय हो जाने पर असाता का बंध होने लगेगा। छठे गुणस्थान तक साता या असाता कर्म प्रकृति का एक अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक काल तक बंध नहीं हो सकता है।

प्रश्न : तǍवार्थसूत्र में निर्ग्रन्थ मुनि के पाँच भेदों में एक भेद कुशील भी है। यहाँ पर 'शील' श□ द का □ या अर्थ है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1284)

उ□ ार श्री सर्वार्थसिद्धि 9-47 के अनुसार कुशील मुनि दो प्रकार के होते हैं।

1. जो परिग्रह से घिरे रहते हैं और जो मूल व उǍारगुणों में परिपूर्ण हैं, लेकिन क ाी-क ाी उǍार गुणों की विराधना करते हैं, वे प्रतिसेवना कुशील हैं।

2. जिन्होंने अन्य कषायों के उदय को जीत लिया है और जो केवल संज्वलन कषाय के अधीन हैं, वे कषायकुशील कहलाते हैं।

ये मुनिराज छठे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यन्त होते हैं।

अष्टपाहुड़ पृष्ठ 608 के अनुसार शील शǏद का अर्थ आत्मा का वीतराग स्वभाव है। दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्म राग रहता है, वहाँ तक निर्ग्रन्थ मुनि की कुशील संज्ञा है। दसवें गुणस्थान के आगे चारित्र मोहनीय कर्मोदय के अभाव के कारण जीव पूर्ण वीतराग हो जाता है अर्थात् अन्तरंग व बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित हो जाता है अत: उसकी निर्ग्रन्थ (वीतराग छदमस्थ) संज्ञा हो जाती है। यही स्वभाव 'शील' हो जाता है। अर्थात् मुनिराज के कषायरहित हो जाने पर वे कुशील के स्थान पर शील हो जाते हैं।

प्रश्न : उदयाभावी क्षय का स्वरूप □ या है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1285)

उ□ ार ज़ब सर्वघाति स्पर्धकों का अनुभाग अनन्तगुणा क्षीण होकर देशघातिरूप से उदय में आता है और सर्वघातिरूप उदय का अभाव है। तब उन सर्वघाति स्पर्धकों की उदयाभावी क्षय संज्ञा है। (श्री धवला पुस्तक 7/92)

प्रश्न : चतुर्यम का €या अ ाप्राय है? यह शǏद राजवार्तिक 1/7/14 में आया है।

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1286)

उ ार : सामायिक संयम और छेदोपस्थापना संयम आदि के भेद से चारित्र पाँच प्रकार का है, किन्तु सामायिक संयम और छेदोपस्थापना संयम, ये दोनों संयम एक हैं योंकि इनमें अनुष्ठानकृत भेद नहीं है। उसी संयम का द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सामायिक संयम नाम है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से छेदोपस्थापना संयम नाम है। वास्तव में तो वह एक ही है। इस प्रकार सामायिक संयम, परिहारविशुद्धि संयम, सूक्ष्मसांपरायशुद्धि संयम और यथा यातशुद्धि संयम, इस तरह यम चार प्रकार का हो जाता है।

प्रश्न : पाप और कषाय में या अंतर है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1289)

उ ार : जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है (सर्वार्थसिद्धि) तथा सुख-दु:ख आदि अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसाररूप मर्यादा अत्यंत दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र को जो कर्षण करती है, उसे कषाय कहते हैं। कषाय पाप है किन्तु पाप मात्र कषाय नहीं है। कषाय के अतिरिक्त मिथ्यादर्शन आदि ी पाप हैं।

प्रश्न : पुण्य और पाप के कौन-कौनसे भेद हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1289)

उ ार : पुण्य और पाप के चार भेद इस प्रकार हैं-

1. पुण्य के उदय में अशुभ भावों द्वारा पाप का बंध करना पापानुबंधी पुण्य है।
2. पाप के उदय में अशुभ भावों के द्वारा पाप का बंध करना पापानुबंधी पाप है।
3. पुण्य के उदय में शुभ भावों द्वारा पुण्य बंध करना पुण्यानुबंधी पुण्य है।
4. पाप के उदय में शुभ भावों द्वारा पुण्य बंध करना पुण्यानुबंधी पाप है।

पुण्य तथा पाप के उदय में समता भाव द्वारा बंध का अभाव करते हुए निर्जरा करना कार्यकारी है।

प्रश्न : बृहद्द्रव्य संग्रह में पृष्ठ 3 पर 'समुदाय पातनिका' श द आया है। इसका या अर्थ है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1290)

उ ार : 'पातन' श द से पातनिका बना है। पातन का अर्थ डालना है। आगे कहा जाने वाला श्लोक अथवा गाथा या सूत्र किस विषय में डाला जावे उसकी सूचना देने वाला 'पातनिका' शॅद है। अत: यहाँ पर 'पातनिका' का अर्थ भूमिका (उत्थानिका) है।

प्रश्न : समयसार ग्रन्थ में बार-बार अध्यवसान श द आता है इसका या अर्थ होता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 894)

उ□ ार : यद्यपि अध्यवसान का अर्थ निर्णयात्मक ज्ञान होता है परन्तु समयसार की टीका में अध्यवसान का अर्थ मिथ्याज्ञान लिखा है। (देखें कलश गाथा 170)। रागद्वेष परवस्तु के आश्रय से होता है अत: बुद्धि पूर्वक रागद्वेष सहित जो ज्ञान है वह भी अध्यवसान है। अध्यवसान में लेश्यारूप परिणाम, प्रमादरूप परिणाम और आर्त-रौद्ररूप परिणाम भी लिये जा सकते हैं।

प्रश्न : सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ 456 पंक्ति 16 में 'भाव परमाणु' शŠद आया है, इसका €या अर्थ है ?
(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1291)

उ□ ार : ाव परमाणु का अर्थ तŠवार्थवृŠि पृ. 312 के अनुसार 'पर्याय की सूक्ष्मता' समझना चाहिए।

प्रश्न : पंचसंग्रह पृ. 53 पर 'मरणावली' शŠद आया है, इसका €या अर्थ है ?
(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1291)

उ□ ार : उदयावली से उपरितन निषेकों के द्रव्य का उदयावली में दिया जाना उदीरणा है। जिस कर्म की स्थिति एक आवली मात्र रह गई है, उसकी उदीरणा संभव नहीं है। आयु की जब एक आवली मात्र शेष स्थिति रह जाती है अर्थात् मरण होने से एक आवली पूर्व जब आयु कर्म की उदीरणा रुक जाती है, उस अन्तिम आवली को मरणावली कहते हैं।

प्रश्न : 'सर्वगत चैत्र' शŠद का €या अर्थ है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1298)

उ□ ार : सर्वार्थसिद्धि 7/21 की टीका में 'चैत्र' से अभिप्राय बौद्ध साधु का है। उनके लिए राजमहल में कोई रोक-टोक नहीं होती। संडास आदि ऐसे स्थान हैं जहाँ बौद्ध साधु नहीं जाते। तथापि उपचार से उनको 'सर्वगत' चैत्र कहा गया है।

प्रश्न : वैयावृ□ ा एवं साधुसमाधि भावना में □ या अंतर है*(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1343)

उ□ ार : तीर्थंकर प्रकृति के बंध के लिए सोलहकारण भावनाओं में साधु समाधि और वैयावृŠिकरण ये दो भावनायें भी हैं। सर्वार्थसिद्धि टीका के अनुसार अनेक प्रकार के व्रत और शीलों से समृद्ध मुनि के तप करते हुए किसी कारण से विघ्न उत्पन्न होने पर उसे शांत करना साधुसमाधि भावना है। तथा गुणी पुरुष के दु:ख में आ पड़ने पर निर्दोष उस दु:ख का दूर करना वैयावृŠि है अर्थात् रोगादि से व्याकुल साधु का दु:ख दूर करना वैयावृ□ ा है।

प्रश्न : 'संयोजना सत्य' का €या स्वरूप है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1343)

उ□ ार : 14 पूर्वों में से छठा सत्यप्रवाद पूर्व है। उसमें 10 प्रकार के सत्य का कथन है। उस 10

प्रकार के सत्य में से जो चेतन-अचेतन द्रव्यों के विभाग को करने वाला न हो, उसे संयोजना सत्य कहते हैं। जैसे चक्रव्यूह आदि सेनाओं के रचना के प्रकार हैं और सेनाएँ चेतन-अचेतन पदार्थों के समूह से बनती हैं, परन्तु जहाँ अचेतन पदार्थों की विवक्षा न कर केवल चक्र के आकार रची हुई सेना को चक्रव्यूह कह देते हैं, वहाँ संयोजना सत्य होता है। अर्थात् जो चेतन-अचेतन द्रव्यों का संकर करने वाला हो वह संयोजना सत्य है।

प्रश्न : श्री रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक 28 में चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए मनुष्य को भी देव □ यों कहा गया है? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1344)

उ□ ार ग्रहाँ पर जो 'देव' श□ द आया है, उसके अर्थ पर तथा नय विभाग पर विचार किया जाता है।

पंच नमस्कार मंत्र में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को नमस्कार किया गया है, किन्तु अविरत स यग्दृष्टि या देशविरत स यग्दृष्टि को नमस्कार नहीं किया गया है। यदि अविरत स यग्दृष्टि या देशविरत स यदृष्टि पंच परमेष्ठियों के समान देव होते, तो उनको भी नमस्कार किया जाता, किन्तु उनको नमस्कार नहीं किया गया। अत: वे देव नहीं हैं। €योंकि वे स यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय से युक्त नहीं हैं। श्री वीरसेनाचार्य के अनुसार- 'अपने- अपने भेदों से अनन्त भेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रय से युक्त जीव देव है। यदि रत्नत्रय की अपेक्षा देवपना न माना जाये तो स पूर्ण भव्य जीवों को देवपना प्राप्त होने की आपŽा आ जायेगी।' अर्थात् जहाँ मोक्षमार्ग नहीं है वहाँ देवत्व भी नहीं है। चाण्डाल पुत्र के चारित्र नहीं था, वह द्रव्यलिंग को भी धारण नहीं कर सकता, अत: वह वंदनीय नहीं है। 'देव' श□ द का दूसरा अर्थ होता है कि जिनके देवगति नामकर्म का उदय हो तथा जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियों के बल से क्रीड़ा करते हों, उन्हें देव कहते है। चाण्डाल पुत्र ऐसा भी नहीं था, अत: इस अपेक्षा से भी वह देव नहीं है।

यदि ऐसा ही है, फिर उसको आचार्य समन्त ाद्र ने देव €यों कहा? उžार यह है कि चाण्डाल पुत्र यद्यपि वर्तमान पर्याय में देव नहीं है तथापि स यग्दर्शन से सहित होने के कारण अगली पर्याय में देव होगा। €योंकि स यग्दर्शन देवायु के बंध का कारण है, अत: द्रव्यनिक्षेप से स यग्दृष्टि चाण्डाल पुत्र को देव कहने में कोई आपा□ ा नहीं है। दूसरे, जैसे किसी मनुष्य को पापी लोगों का समागम करते हुए देखकर नैगमनय से कहा जाता है कि यह पुरुष नारकी है, उसी प्रकार स यग्दृष्टि चाण्डाल पुत्र को सत्समागम करते हुए देखकर नैगमनय से कहा जाता है कि यह पुरुष देव है।

स यग्दृष्टि चाण्डाल पुत्र अन्तरात्मा है। उसमें परमात्मापना अथवा देवत्व शक्तिरूप से है। निक्षेप तथा एवंभूतनय की अपेक्षा स यग्दृष्टि चाण्डाल पुत्र में देवत्व नहीं है।

इस श्लोक की टीका करते हुए श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर ने 'देव' शŽद का अर्थ

आदरणीय कहा है। अर्थात् चाण्डाल आदि नीच कुल में उत्पन्न होने पर ी यदि वह स यग्दृष्टि है, तो आदर का पात्र है।

अत: नय और निक्षेप को ध्यान में रखकर आर्ष ग्रन्थों का अर्थ समझना चाहिए।

प्रश्न : सत्य और असत्य का €या लक्षण है ? €या जैन आगमानुसार वास्तविक वचन ही सत्य वचन हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1348)

उ र :मोक्षशास्त्र 7/14 में असत्य वचन का लक्षण 'असदभिधानमनृतम्' कहा है अर्थात् अप्रशस्त वचन कहना असत्य है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा 91 से 100 तक असत्य वचन का कथन किया गया है। जिसके अनुसार प्रमǎायोग से जो कुछ भी असत्य वचन कहा जाता है उसे असत्य जानना चाहिए। उसके चार भेद हैं।

(1) जिस वचन में विद्यमान वस्तु का निषेध किया जाता है, वह प्रथम असत्य है।

(2) जिस वचन में अविद्यमान वस्तु का अस्तित्व प्रकट किया जाता है, वह दूसरा असत्य है।

(3) अपने स्वरूप से विद्यमान वस्तु भी जहाँ अन्यरूप से कही जाती है, वह तीसरा असत्य वचन है।

(4) (अ) चुगली, हास्ययुक्त, कठोर, मिथ्यात्व, गपशप और शास्त्रविरुद्ध वचन ये सब निंद्य वचन हैं।

(आ) जो छेदन-भेदन, खेती-व्यापार, चोरी आदि के वचन हैं, वे सब प्राणी हिंसा में प्रवृǐा कराने वाले होने से सावद्य वचन हैं।

(इ) दूसरों को अरति, भय, खेद, बैर, शोक, कलह तथा आताप करने वाले वचन अप्रिय वचन हैं।

उपर्युक्त समस्त ही असत्य वचनों का कारण प्रमǎा योग कहा गया है, किन्तु हेय व कǍव्य आदि के वचन असत्य नहीं हैं।

आगम में सत्य वचन 10 प्रकार के कहे गये हैं-

(1) उन-उन देशवासी मनुष्यों के व्यवहार में जो शǍद रूढ़ हो रहा है, वह जनपद सत्य है। जैसे गुजरात में नमक को मीठा कहते हैं।

(2) बहुत मनुष्य की स मति से जो सर्वसाधारण में रूढ़ हो उसको स मति सत्य कहते हैं। जैसे किसी साधारण स्त्री को देवी कहना।

(3) किसी वस्तु में उससे भिन्न वस्तु के आरोपण करने वाले वचन को स्थापना सत्य कहते हैं। जैसे चन्द्रप्र ा भगवान् की प्रतिमा को चन्द्रप्रभ भगवान् कहना।

(4) लोक व्यवहार के लिए किसी का नाम रख देना नाम सत्य है जैसे- शेर सिंह।

(5) पुद्गल के रूपादि अनेक गुणों में से रूप की प्रधानता से जो वचन कहा जाए वह रूप सत्य है। जैसे- काले व्यक्ति को दाँत आदि सफेद होने पर भी काला कहना।

(6) किसी विवक्षित पदार्थ की अपेक्षा से दूसरे पदार्थ के स्वरूप का कथन करना प्रतीति सत्य है। जैसे- चवन्नी की अपेक्षा अठन्नी को बड़ा कहना।

(7) नैगम आदि नयों की प्रधानता से जो वचन बोला जाए वह व्यवहार सत्य है जैसे भात पकता है।

(8) असंभवता का परिहार करते हुए वस्तु के किसी धर्म का निरूपण करना संभावना सत्य है। जैसे- इन्द्र, ज बूद्वीप को उलट सकता है।

(9) आगम में कहे गये विधि-निषेध के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों में संकल्पित परिणामों को भाव कहते हैं, उसके आश्रित वचन भाव सत्य हैं। जैसे अच्छी तरह नमक-मिर्च आदि मिलाया हुआ द्रव्य प्रासुक होता है।

(10) प्रसिद्ध सदृश पदार्थ को उपमा कहते हैं। इसके आश्रय से कहा गया वचन आश्रय सत्य है। जैसे- पल्य। यहाँ रोमखण्डों का आधारभूत खड्डा पल्य होता है। इसलिए उसको पल्य कहते हैं। इस सं या को उपमा सत्य कहते हैं।

अन्य ी इसी तरह जानना चाहिए। व्यवहारनय के विषय ी इन दस प्रकार के सत्य में आ जाते हैं, अत: व्यवहारनय को असत्य कहना उचित नहीं है।

प्रश्न : पूजा की प्रस्तावना आदि में यज्ञ श द आता है। इसका या अर्थ लगाना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 617)

उ र जैनधर्म के अनुसार जो जल, चन्दन आदि अष्ट द्रव्य से जिनेन्द्रदेव की पूजा की जाती है, वह यज्ञ है। अथवा विशेष विधान के पश्चात् जैनशास्त्रानुसार जो अग्नि में हवन किया जाता है, वह यज्ञ है।

प्रश्न : भावस्त्री को मोक्ष कहा गया है। यहाँ पर भावस्त्री से क्या प्रयोजन है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1084)

उ र जिन मनुष्यों का शरीर तो द्रव्यपुरुषरूप हो, किन्तु उनके स्त्रीवेद नोकषाय का उदय हो, ऐसी भावस्त्रियों को मोक्षप्राप्ति स भव है। जिन मनुष्यों का शरीर द्रव्यस्त्रीरूप है, ऐसी स्त्रियों अर्थात् महिलाओं को मोक्ष नहीं होता है, क्योंकि उनके प्रथम संहनन का अभाव है तथा वे वस्त्र का त्याग नहीं कर सकतीं और वस्त्र का ग्रहणभाव असंयम का अविनाभावी है। अत: उनके भावसंयम नहीं होता है और इसी कारण मोक्ष भी सं व नहीं है।

प्रश्न : त्रिशुद्धा भिक्षा और उद्दिष्ट आहार का €या अर्थ है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1287)

उ र कृत, कारित, अनुमोदना से रहित भिक्षा, त्रिशुद्धा भिक्षा है। यह दसवीं प्रतिमा में हो जाती है। ग्यारहवीं प्रतिमा में उद्दिष्ट आहार का त्याग होता है, €योंकि वह तो भिक्षुक है।

श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 390 के अनुसार जो श्रावक भिक्षाचरण के द्वारा बिना याचना किये नवकोटि से शुद्ध योग्य आहार को ग्रहण करता है, वह उद्दिष्ट आहार का त्यागी है। अपने उद्देश्य से बनाये हुए आहार को ग्रहण न करना उद्दिष्ट आहार का त्याग है।

प्रश्न : पृथ€त्व शŠद का €या अर्थ लेना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1289)

उ र पृथ€त्व शŠद विपुल अर्थात् बहुत का वाची है। अत: पृथ€त्व शŠद से यथासंभव 95, 47, 23, 15 आदि सं या ग्रहण की जा सकती है। 3 और 9 के बीच की सं या को भी पृथ€त्व कहा गया है।

प्रश्न : यवमध्यसिद्ध का €या अर्थ है ? राजवार्तिक पृष्ठ 648 पर 'यवमध्यसिद्धा: सं येयगुणा:' लिखा है, इससे या अर्थ लेना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1291)

उ र राजवार्तिक 10/9 में सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना 525 धनुष और जघन्य अवगाहना 3.50 हाथ बतायी है। 525 धनुष के $525 \times 4 = 2100$ हाथ होते हैं। योंकि चार हाथ का एक धनुष होता है। 2100 हाथ में से साढ़े तीन हाथ कम करने पर 2096.50 हाथ होते हैं। जिनका मध्य 1048.25 हाथ होता है अथवा 262 धनुष कुछ अधिक होता है। इस प्रकार 1048.25 धनुष की अवगाहना वाले सिद्ध यवमध्यसिद्ध हैं।

प्रश्न : योगसंक्रान्ति का या अर्थ है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1292)

उ र संक्रान्ति का अर्थ पलटन है। मन, वचन, काय इन तीनों योगों में से कोई एक योग छूटकर अन्य कोई योग हो जावे। फिर वह भी पलटकर अन्य योग हो जावे। इस प्रकार पलटन को योगसंक्रान्ति कहते हैं।

प्रश्न : सल्लेखना और समाधिमरण में कुछ अन्तर है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1298)

उ र सत् और लेखना इन दो श दों से सल्लेखना श द बना है अर्थात् शरीर और कषाय को भले प्रकार कृश करना सल्लेखना है। समाधि का अर्थ त्याग है अर्थात् काय से ममत्वभाव व कषाय का त्याग करना समाधि है। समाधि का अर्थ कठिन समय में धैर्य धारण करना भी है। अर्थात् मरण

समय में धैर्य धारण करके आर्त्त-रौद्ररूप परिणाम न होने देना। इस प्रकार सल्लेखना और समाधिमरण का प्राय: एक ही भाव है।

प्रश्न : सूच्यंगुल का प्रमाण कितना मानना चाहिये ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1298)

उ र 24 सूच्यंगुल का एक हाथ अर्थात् आधा गज अथवा 18 इंच होते हैं। अर्थात् 24 सूच्यंगुल = 18 इंच हुआ। इस प्रकार एक सूच्यंगुल का माप 18/24 इंच अर्थात् पौन इंच होता है, जो 1-7/8 सेन्टीमीटर के बराबर होता है।

विविध

प्रश्न : रूस का समाचार है कि एक कु ो की गर्दन काटकर दूसरे कु ो की गर्दन पर जोड़ दी गई। अब वह कु ा दोनों मुँह से खाता पीता है। इसी तरह एक वृक्ष की डाली काटकर दूसरे वृक्ष पर लगा दी जाती है। तो €या गर्दन कटे हुये कुत्तों की आत्मा दूसरे कुत्तों में प्रवेश कर गई। वास्तविकता या है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1318)

उ र जिस कुत्तों की गर्दन काटी गई, उस कुत्तों की आत्मा तो मृत्यु को प्राप्त हो गई और कर्मोदय अनुसार अन्य पर्याय में उत्पन्न हो गई। जिस कुत्तों की यह गर्दन जोडी गई, उस कुत्तों के आत्मप्रदेश इस गर्दन में प्रवेश कर गये। जुड़ जाने के बाद दोनों गर्दनों में उसी एक कुत्तों की ही आत्मा है। इसी प्रकार जिस वृक्ष की डाली काटी गई है, उस वृक्ष के आत्मप्रदेश उस डाली में से निकलकर और संकुचित होकर उस वृक्ष में ही समा गये। जिस वृक्ष पर वह डाली लगाई गई है, उस वृक्ष के आत्मप्रदेश विस्तार करके उस डाली में प्रवेश कर गये। एक वृक्ष में या एक कुत्तों में दो वृक्ष या दो कुत्तों की आत्मा नहीं रह सकती। संसारी जीव के आत्मप्रदेशों में संकोच-विस्तार करने की शक्ति होती है जिसके कारण जोड़ी गई गर्दन में उस आत्मा के प्रदेश विस्तरित हो जाते हैं।

प्रश्न : सोनगढ़ से प्रकाशित आत्मधर्म में लिखा है कि जिस समय कहान जी स्वामी का जन्म हुआ उस समय स्वर्गलोक में इन्द्र का आसन क पायमान हुआ और देवों ने जन्मोत्सव मनाया। इस प्रकार का नाटक भी सोनगढ़ में ोला गया। €या वर्तमान में ऐसा कोई विशिष्ट पुरुष जन्म ले सकता है ? €या पञ्चम काल में स यग्दृष्टि जीव जन्म ले सकता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1318)

उ र वर्तमान काल हुण्डावसर्पिणी का पंचम दु:खमा काल है। भरतक्षेत्र में इस काल में स यग्दृष्टि या विशेष पुण्यशाली जीवों का जन्म नहीं होता है, मिथ्यादृष्टि जीवों का ही जन्म होता है ऐसा नियम है। अत: श्री कहानजी स्वामी का जन्म मिथ्यात्व सहित मिथ्यात्व कुल में ही हुआ और उनके जन्म के समय इन्द्र का आसन क पायमान होना या स्वर्ग में जन्मोत्सव होना असंभव व आगमविरुद्ध है।

प्रश्न : €या सामान्य केवली की मूर्ति का निर्माण किया जा सकता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1321)

उ□ ार : श्री अरहंत भगवान् की प्रतिमा स्थापित हो सकती है और होती है। कुन्थलगिरि में देशभूषण व कुलभूषण केवली की प्रतिमा विराजमान है। विभिन्न निर्वाण क्षेत्रों पर भी, वहाँ से निर्वाण प्राप्त करने वाले केवलियों की मूर्तियाँ विराजमान होती हैं। श्री सिद्ध भगवान् की भी प्रतिमा होती है जैसे दूदू राज. के जिनालय में तथा प्रतिभास्थली तिलवाराघाट जबलपुर के जिनालय में तथा अन्य स्थानों पर सिद्ध भगवान् की प्रतिमा भी होती हैं। ये सभी प्रतिमायें पूजनीय हैं। सामान्य केवलियों की प्रतिमाओं में चिह्न के स्थान पर उनका नाम लिखा होता है।

प्रश्न : गृह चैत्यालय में 5 इंच पद्मासन अवगाहना की मूर्ति विराजमान कर सकते हैं या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1322)

उ□ ार : प्रतिमा, इंच के प्रमाण की बजाय अंगुल के प्रमाण से बननी चाहिये। गृह चैत्यालय में 1, 3, 5, 7, 9 व 11 अंगुल की प्रतिमायें विराजमान हो सकती हैं। एक अंगुल पौन इंच का होता है अत: प्रतिमा सात अंगुल प्रमाण अर्थात् सवा पाँच इंच की होनी चाहिये, पाँच इंच की नहीं।

प्रश्न : प्रतिमा पर किस आधार से चिह्न बनाये गये हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1322)

उ□ ार : अभिधानचिन्तामणि (हेमकोश) में इन चिह्नों को तीर्थङ्करों की ध्वजाओं के चिह्न बताये हैं तथा भाष्य में कहा गया है कि ये चिह्न तीर्थकरों के दक्षिण अंग में होते हैं (पृ.17, काण्ड 01, श्लोक 47-48) पूजासार समुच्चय ग्रन्थ में भी इन चिह्नों को ध्वजा के चिन्ह ही कहा गया है। अनेकान्त वर्ष 1 किरण 2 में पं0 जुगलकिशोर मु तार ने भी लिखा है कि यह मानना ज्यादा अच्छा होगा कि ये चिह्न तीर्थकरों की ध्वजाओं के चिह्न हैं और शायद इसी से मूर्ति के किसी अंग पर न दिये जाकर आसन पर दिये जाते हैं। चर्चा समाधान में पं0 भूधरदास जी ने लिखा है कि तीर्थंकर के दाहिने पांव में जो चिह्न जन्म से होता है वही प्रतिमा के आसन में जानना। इस तरह दो मत प्राप्त होते हैं।

प्रश्न : आगम की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का निर्णय कैसे होता है ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1322)

उ□ ार : पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है इसलिये आगम अ यास मु य है। साधुओं को 'आगमच□ खू साहू' अर्थात् आगम चक्षु वाले कहा गया है।

आगम की परिभाषा- धवल पु. 6/151 में कहा है कि जो केवलज्ञान पूर्वक उत्पन्न हुआ है, प्राय: अतीन्द्रिय पदार्थों को विषय करने वाला है, अचिन्त्य स्वभावी है और युक्ति के विषय से परे है

उसका नाम आगम है (कुछ विद्वान् आगम की परिभाषा में कहते हैं कि जो अरहंत के द्वारा कहा गया हो, गणधरों के द्वारा गूंथा गया हो, मुनियों के द्वारा लिखा गया हो वह आगम है।)

जिस आगम का दोष और आवरण से रहित अरिहंत परमेष्ठी ने अर्थरूप से व्या यान किया है, जिसको निर्मल बुद्धिरूप अतिशय से युक्त और निर्दोष गणधर देव ने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान संपन्न गुरू परंपरा से चला आ रहा है और जो दोषावरण से रहित तथा निष्प्रतिपक्ष सत्य स्वभाव वाले पुरुष के द्वारा व्या यात होने से श्रद्धा के योग्य है, ऐसे आगम की आज भी उपलÅध होती है। काल संबंधी ज्ञान विज्ञान से सहित होने के कारण प्रमाणता को प्राप्त आचार्यों द्वारा इसके अर्थ का, व्या यान किया गया है इसलिये आधुनिक आगम भी प्रमाण है। आचार्यों ने काल के प्रभाव से उÅारोÅार क्षीण होते हुये आगम के अवशिष्ट रहे हुये अंग संबंधी अर्थ को पोथियों में लिपिबद्ध किया है। अतएव वे भी सूत्र हैं। अत: आगम की प्रमाणता के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका कर्ता आचार्य हो और उसको गुरु पर परा से श्रुतार्थ प्राप्त हुआ हो। वीतरागता और विज्ञानता से पुरुष में प्रमाणता आती है। अत: ऐसे ही आचार्यों को प्रामाणिक माना गया है।

पं0 राजमल जी , पं0 टोडरमल जी, पं0 आशाधर जी, आदि संभव है अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् हों किन्तु न तो वे आचार्य थे और न आर्ष पर परा से उन्होंने श्रुतार्थ ग्रहण किया था। इसलिये वे प्रमाण पुरुष नहीं थे। अतएव उनके द्वारा रचे गये स्वतंत्र ग्रंथ प्रमाण कोटि को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। यदि स्वार्थरूप या पक्षपातवश उनके ग्रंथों को प्रमाण मान लिया जायेगा तो अप्रमाण पुरुष के द्वारा व्या यात किया गया आगम अप्रमाणता को प्राप्त होगा। कहा भी है- वक्ता की प्रमाणता से वचन में प्रमाणता आती है।

प्रश्न : €या पञ्चाध्यायी प्रामाणिक ग्रंथ है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1323)

उ उ र ग्रपञ्चाध्यायी के रचयिता कवि राजमल हैं। पञ्चाध्यायी किसी आचार्य की कृति नहीं है, इसमें संदेह का कोई स्थान नहीं। पञ्चाध्यायी के बहुत से श्लोक लाटीसंहिता से मिलते जुलते हैं। लाटी संहिता के रचयिता पं0 राजमल जी हैं इसलिये वे ही निश्चित रूप से पंचाध्यायी के कर्ता हैं।

पंचाध्यायी आदि ग्रंथ आचार्यों द्वारा नहीं रचे गये और न उनके कर्ताओं को गुरु पर परा से उपदेश प्राप्त हुआ था। इसी कारण यह ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं है। इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर आगमानुसार कथन नहीं पाया जाता, अपितु धवल आदि व नयचक्र आदि आगम ग्रन्थों के विरुद्ध कथन पाया जाता है। ऐसे ग्रन्थों को प्रामाणिक कैसे कहा जा सकता है, €योंकि प्रमाणता तो आगम की होती है।

महापुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों के द्वारा विरचित हैं। अत: प्रामाणिक हैं। अन्य ग्रन्थ भी जो प्राचीन प्रामाणिक वीतराग आचार्यों द्वारा रचे गये हैं वे सब प्रामाणिक

हैं। आचार्यों के सत्य महाव्रत होता है अत: उनके असत्य भाषण का अभाव होता है, इसलिए असत्य भाषण का अभाव भी आगम की प्रमाणता का ज्ञापक है। जिनके इतनी भी कषाय कम न हुई कि असत्य भाषण का सर्वथा त्याग कर महाव्रत ग्रहण कर सकें, ऐसे गृहस्थों के वचन प्रमाण कोटि को कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? श्री धवल पु. 9/127 में कहा है कि रागद्वेष व मोह से युक्त जीव वास्तविक अर्थों का प्ररूपक नहीं हो सकता, €योंकि उसके सत्य वचन के नियम का अभाव है।

प्रश्न : भक्तामर स्तोत्र के 17 वें और 18 वें श्लोक में जिनेन्द्र देव की उपमा सूर्य और चन्द्र से दी गई है और दोनों ही श्लोकों में 'आप राहु के द्वारा ग्रसे नहीं जाते' ऐसा उल्लेख है। जबकि राहु और केतु इन दोनों का नाम देना चाहिये था। इसका कारण €या है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1326)

उ□ ार वास्तविकता यह है कि ग्रहण तो चन्द्रमा के नीचे राहु का विमान आने पर और सूर्य के नीचे केतु का विमान आने पर दृष्टिगोचर होता है। अत: इसी प्रकार लिखा जाना चाहिये था, परन्तु संस्कृत हिन्दी कोष में राहु को सूर्य व चन्द्रमा दोनों को ग्रसित करने वाला लिखा है। तथा हरिवंशपुराण 6/10 में भी चन्द्रमा और सूर्य दोनों के नीचे राहु के विमान का ही वर्णन प्राप्त होता है। अत: इस दृष्टि से दोनों श्लोकों में राहु श□ द का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न : क्षायिक स य€त्व, क्षायिक चारित्र व केवलज्ञान भिन्न-भिन्न गुणस्थानों में पाये जाते हैं, तो €या भिन्न-भिन्न गुणस्थानों में पाये जाने वाले इन गुणों में भेद है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1327)

उ□ ार क्षायिक स य€त्व चतुर्थगुणस्थान से सिद्धों तक में, क्षायिकचारित्र बारहवें गुणस्थान से सिद्धों तक में और केवलज्ञान 13, 14वें गुणस्थान तथा सिद्धों में पाया जाता है। इन सबमें ही पाये जाने वाले अविभाग प्रतिच्छेदों में तरतमता का अभाव है अर्थात् इन सभी स्थानों में ये गुण स पूर्णता को प्राप्त हैं। दर्शनमोहनीय का क्षय हो जाने से क्षायिक स य€त्व में, चारित्रमोहनीय का क्षय हो जाने से क्षायिक चारित्र में और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो जाने से केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों में कोई अंतर नहीं है। लिखा भी है कि क्षायिक भावों की हानि नहीं होती और वृद्धि ी नहीं होती।

यद्यपि मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के क्षय होने पर क्षायिक स यग्दर्शन पूर्ण हो जाता है फिर भी वह अवगाढ़ व परमावगाढ़ संज्ञा को प्राप्त नहीं होता। पूर्ण श्रुतज्ञान होने पर उसी क्षायिक स यग्दर्शन की अवगाढ़ संज्ञा और केवलज्ञान होने पर परमावगाढ़ संज्ञा हो जाती है। रत्नत्रय भी 13वें और 14वें गुणस्थान में एक ही है उसमें अंतर नहीं है €योंकि घातिया कर्मों के क्षय हो जाने पर आत्मा में आत्यन्तिक विशुद्धि हो जाती है अत: क्षायिक रत्नत्रय अपूर्ण नहीं हो सकता है।

उपर्युक्त रतनचन्द्र जी मु तार के अनुसार है, जबकि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के

अनुसार क्षायिक स य€त्व के अविभागी प्रतिच्छेदों में भी अन्तर पाया जाता है। श्री लÅधसार गाथा 166 के अनुसार सात प्रकृतियों के क्षय से असंयत स यग्दृष्टि के जघन्य क्षायिक लÅध होती है और उत्कृष्ट क्षायिक लÅध चार घातिया कर्मों के क्षय से प्राप्त होती है। श्री त्रिलोकसार गाथा 71 की टीका में भी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है कि तिर्यंच असंयत स यग्दृष्टि के जघन्य क्षायिक स य€त्व लÅध के अविभाज्य प्रतिच्छेदों का प्रमाण प्राप्त होता है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के तथा केवली के क्षायिक स य€त्व के अविभागी प्रतिच्छेदों में अन्तर पाया जाता है और इसी अपेक्षा केवली भगवान् के स य€त्व को परमावगाढ़ स य€त्व कहा जाता है।

प्रश्न : कर्मभूमि की आदि में धान्यादिक की उत्पÅि का प्रार भ कैसे होता है ? सब कुछ नष्ट कर देने वाली वर्षा होने के बाद लता गुल्म आदि कैसे उत्पन्न हो जाते हैं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1329)

उ र प्रलय काल में पहले जो सात-सात दिन तक सात प्रकार की अशुभ वर्षा होती है, उससे सब कुछ नष्ट हो जाता है और श्रावणवदी एकम् से जो सात सात दिन तक सात प्रकार की शुभ वर्षा होती है उससे बाह्य द्रव्यों के संयोग से धान्य आदि की उत्पÅि तथा लता, गुल्म आदि की उÅपÅि के योग्य वातावरण बन जाता है और उनकी उत्पÅि देखी जाती है, ये सब स मूर्च्छन हैं। दो इन्द्रिय आदि जीवों की भी इसी प्रकार उत्पÅि देखी जाती है €योंकि वे भी स मूर्च्छन होते हैं।

प्रश्न : हमने अनादिकाल से पंचपरावर्तन रूप भ्रमण किया है। हमारा कौन सा परिवर्तन कब प्रार भ हुआ और कब अन्त होगा ? यह बतायें ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1329)

उ र पंच परिवर्तन में से किसी भी परिवर्तन का काल नियत नहीं है, किन्तु इतना नियत है कि वह काल अनंत है और हीनाधिकता के कारण वह अनंत काल ी अनेक प्रकार का है। अत: यह नहीं कहा जा सकता है कि किस जीव का परिवर्तन काल कब प्रारंभ होगा और कब समाप्त होगा। यह तो केवलज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है।

प्रश्न : जिसको प्राकृत व संस्कृत भाषा नहीं आती हो, €या उसे पण्डितों द्वारा किये गये हिन्दी अनुवाद मात्र पढ़ने से शास्त्र का यथार्थ व पूर्णज्ञान हो सकता है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1330)

उ र :आर्षग्रंथों का यथार्थ व पूर्णज्ञान करने के लिये संस्कृत व प्राकृत का बोध होना आवश्यक है। विद्वानों ने ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद करके बहुत उपकार किया है योंकि जिनको संस्कृत व प्राकृत का ज्ञान नहीं है वे भी हिन्दी अनुवाद से ग्रन्थों का स्वाध्याय कर सकते हैं। फिर भी

अनुवाद तो अनुवाद ही है, उसमें ग्रंथ की शालीनता और रोचकता पूर्णरूप से नहीं आ सकती है।

भक्तामर स्तोत्र को संस्कृत में पढ़ने में जो आनन्द आता है और जो भावों की विशुद्धि होती है वह हिन्दी भाषा में किये गये पद्यानुवाद में नहीं आती है। पुण्यबंध भी संस्कृत का स्तोत्र पढ़ने में विशेष होता है क्योंकि भक्तामर स्तोत्र का हर काव्य मंत्र है और अत्यंत प्रभावशाली है।

प्रश्न : किसी ने कोई पद्यानुवाद या पूजा लिखी हो तो उ या हमें उसमें परिवर्तन करने का अधिकार है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1330)

उ ार : किन्हीं विद्वानों ने छहढाला की पंक्तियों में परिवर्तन किया है जैसे – 'हेतु नियत का होई' की जगह 'हेतु नियत के होई' कर दिया है वह उचित नहीं है। छहढाला में प्राय: आचार्य कृत संस्कृत श्लोकों का पद्यरूप में अनुवाद है इसलिये छहढाला के अक्षरों में हेर–फेर करना महान् अनुचित व अन्याय है। किसी को भी दूसरे की कृति में एक अक्षर भी हेर–फेर करने का अधिकार नहीं है। किन्हीं विद्वानों ने द्रव्यसंग्रह की गाथा 'झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा' इसको बदलकर 'झाणे पाउणदि जं गुणी णियमा' कर दिया है। वह भी एकदम गलत है। यदि कोई विषय आगम स मत न हो तो उसमें टिप्पण दिया जा सकता है परन्तु परिवर्तन नहीं किया जा सकता है ।

प्रश्न : अष्टमी और चतुर्दशी का उ या मह व है ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 1335)

उ ार : इस संबंध में आचार्यों ने कुछ ी नहीं कहा है फिर भी श्रावक के अष्ट मूलगुण होते हैं और चौदहवें गुणस्थान में परमयथा यात चारित्र होता है अत: शायद इस निमिž से अष्टमी और चतुर्दशी को पर्व माना जाता हो। मोक्षमार्ग में चारित्र का बहुत महž व है। अष्टमी और चतुर्दशी को पर्व दिवस मानने की अनादि परंपरा है अत: इनको छोड़कर अन्य दिन को पर्व मानना स्वेच्छाचारी बनना है, जिससे पूर्वाचार्यों की आज्ञा की अवहेलना तथा अविनय का दोष आता है। अत: अष्टमी चतुर्दशी को ही परंपरा के अनुसार पर्व दिवस मानना उचित है। श्रावकाचार संग्रह भाग 4 की प्रस्तावना में कहा है कि अष्टकर्मों का नाश करने का संदेश अष्टमी द्वारा तथा चतुर्दश गुणस्थानों से पार होने का संदेश चतुर्दशी द्वारा प्राप्त होता है। अत: अष्टमी तथा चतुर्दशी का मह व है।

प्रश्न : क्या धर्मात्मा आदमी संसार में अधिक समय नहीं रहते ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1195)

उ ार : संसार ्रमण की अपेक्षा देखा जाये तो धर्मात्मा जीव एक बार स य क्त्व हो जाने पर अर्धपुद्गल परावर्तन से अधिक संसार में भ्रमण नहीं करते हैं। परन्तु यदि आयु की अपेक्षा चर्चा करें तो धर्मात्मा (स यग्दृष्टि) ज्यादा दिन तक जीवित रहते हैं, जो पुण्य प्रकृति है। संक्लेश परिणामों से

शु ाायु की कर्मस्थिति अल्प पड़ती है और विशुद्ध परिणामों से अधिक पड़ती है। स यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव के कषायों की मन्दता होने से मनुष्यायु की अल्प स्थिति नहीं बंधती है। श्री रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक 35 के अनुसार स यग्दृष्टि जीव अल्पायु का धारक नहीं होता है। इस अपेक्षा से धर्मात्मा जीव ज्यादा दिन तक जीवित रहते हैं।

प्रश्न : €या हम अपने या अन्य के स य€त्व को जान सकते हैं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 877)

उ□ ार ः स यग्दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म है, जो या तो केवलज्ञान का विषय है या अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान का। यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, इन दोनों का किंचित् भी विषय नहीं है, देशावधिज्ञान का भी विषय नहीं है, €योंकि इन ज्ञानों के द्वारा स यग्दर्शन की उपलŽध नहीं होती।

दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृति और अनन्तानुबन्धी की चार प्रकृति, इन सात कर्मप्रकृतियों के उपशमादि होने पर स यग्दर्शन होता है। पौद्गलिक कर्म सूक्ष्म है, जो पाँच इन्द्रिय व मन का विषय नहीं है। अत: मति या श्रुतज्ञान के द्वारा स यग्दर्शन को नहीं जाना जा सकता है। इतना अवश्य है कि प्रशम, संवेग, अनुक पा तथा आस्ति€य, इन चार बाह्य चिह्नों के द्वारा अनुमान लगाया जा सकता है, परन्तु अनुमान यथार्थ है, ऐसा दृढ़ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न : वर्तमान पंचमकाल में स यग्दृष्टि जीव हैं या नहीं ? *(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र.* 878)

उ□ ार ः भरतक्षेत्र में वर्तमान काल में औपशमिक व क्षायोपशमिक स यग्दृष्टि विरले होते हैं, ऐसा ज्ञानार्णव शास्त्र में कहा है। क्षायिक स यग्दर्शन तो इस पंचमकाल में उत्पन्न होनेवाले जीवों के संभव ही नहीं है। (श्री धवल पुस्तक 6)। भरतक्षेत्र में आजकल आठ अङ्ग को पूर्ण धारण करनेवाले स यग्दृष्टियों का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता, परन्तु वे दुर्लभ हैं।

श्री तिलोयपण्णŽी 4/2935 के अनुसार यह भी स भव है कि इस भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में कभी सब के सब मिथ्यादृष्टि जीव ही हों, एक भी अविरत स यग्दृष्टि या व्रती स यग्दृष्टि न हो।

प्रश्न : मोक्षमार्ग हेतु द्रव्यश्रुत और भावश्रुतज्ञान आवश्यक है या नहीं ?

(व्यक्तित्व कृतित्व पृ.क्र. 1073)

उ□ ार ः अक्षर या श□ द का ज्ञान द्रव्यश्रुतज्ञान होता है। पदार्थ का ज्ञान भावश्रुतज्ञान होता है। जैसे तिर्यंच को यह श□ दज्ञान नहीं होता कि यह मेरी संतान है, फिर भी संतान के प्रति संतानरूप प्रवृ□ ा होती है। इस प्रवृŽी का मूलकारण भावश्रुतज्ञान है। शŽदज्ञान अर्थात् द्रव्यश्रुतज्ञान के बिना भी भावश्रुतज्ञान हो सकता है और यह भावश्रुतज्ञान मोक्ष भी प्राप्त करा सकता है। जैसे बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 57 की टीका के अनुसार शिवभूति मुनि को पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप अर्थात् अष्टप्रवचनमातृका प्रमाण

भावश्रुतज्ञान था और द्रव्यश्रुत कुछ भी नहीं था, फिर भी मात्र इतने भावश्रुतज्ञान से ही उनको मोक्ष की प्राप्ति हुई।

सूतक-पातक समाधान

अवसर	जन्म / मरण	विशेष / अन्य ग्रन्थ के अनुसार
3 पीढ़ी तक	जन्म 10 दिन मरण 12 दिन	पहली पीढ़ी दादाजी की, दूसरी पीढ़ी पिताजी की तथा तीसरी पीढ़ी स्वयं की कहलाती है। (जीवित हो या न हो)।
चौथी पीढ़ी में	6 दिन	6 दिन (जैन व्रत विधान संग्रह, पूजन-पाठ-प्रदीप)
पाँचवीं पीढ़ी में	4 दिन	जन्म 4 दिन, जिनभारती संग्रह, पूजन-पाठ-प्रदीप, श्रावकाचार संग्रह भाग-4
छठी पीढ़ी में	4 दिन	पूजन-पाठ-प्रदीप
सातवीं पीढ़ी में	3 दिन	1 दिन एवं सातवीं पीढ़ी से आगे सूतक नहीं माना है। (जैनदर्शन पुस्तक), जन्म = 2 दिन, मरण = 3 दिन श्रा.सं.।
आठवीं पीढ़ी में	1 दिन-रात	संकेत- श्रावकाचार संग्रह भाग-4 प्रस्तावना
नौवीं पीढ़ी में	6 घंटा	स्नान तक (पूजन पाठ प्रदीप)
दसवीं पीढ़ी में	स्नान तक	स्नान करने तक
पुत्री एवं अन्य रिश्तेदार (निज घर में)	3 दिन	घर से बाहर हो, तो नहीं लगेगा। (गृहनिवास से बाहर जन्म, मरण हो तो सूतक नहीं लगेगा)।
अन्य व्यक्ति, दासी, दास एवं पालतू जानवर (निज घर में)	1 दिन	घर से बाहर हो तो नहीं लगेगा। गृह से बाहर बगीचे में, खेत में मरण या प्रसूति होने पर सूतक नहीं लगेगा।
गृह त्यागी, संन्यासी, संग्राम में	1 दिन	घर का त्याग कर समाधिपूर्वक मरण हो तो परिवार को 1 दिन का सूतक लगेगा।
गोत्री अन्य स्थान पर (विदेश में)	खबर आने के पीछे शेष दिनों में	बंटवारा, वैमन्यस्यता होने पर भी सूतक लगता है।
गर्भस्राव होने पर (3 से 4 माह)	जितने माह का हो, माता को उतने दिन	परिवारजनों को नहीं लगेगा। (जैन व्रतविधान संग्रह, संयम प्रकाश, भगवती आराधना, कल्याण कारकम्)।
गर्भपात होने पर (5 माह से 6 माह तक)	जितने माह का हो, माता को उतने दिन	परिवारजनों को एक दिन का। 10 दिन परिवार जनों को (जैन व्रत विधान संग्रह, संयमप्रकाश, पं. रतनचन्द मुक्तार व्यक्तित्व कृतित्व)।
मरा हुआ बालक जन्मे	माता को 45 दिन	10 दिन परिवारजनों को (जैनदर्शन पुस्तक) / 3 दिन परिवारजनों को (जैनव्रतविधान) / 5 दिन परिवार जनों को।
जीवित बालक उत्पन्न हो, नाल छेदने के पश्चात् मर जावे	माता को 45 दिन	12 दिन परिवार जनों को (जैनदर्शन पुस्तक)/3 दिन परिवारजनों को (जैनव्रतविधान) / 5 दिन परिवार जनों को।
आठ वर्ष तक के बालक के मरण पर	तीन पीढ़ी तक 10 दिन	अन्य पीढ़ी को उपर्युक्तानुसार / 3 दिन (जिनभारती संग्रह)। 8 वर्ष के बाद पूरा सूतक लगता है। (संयमप्रकाश)।
आत्महत्या, अपघात मृत्यु, गर्भपात करने पर	6 माह	प्रायश्चित के पश्चात् ही शुद्ध होंगे / जितनी पीढ़ी के लोगों का भोजन एक जगह एक साथ होता है, उन्हें 6 माह का सूतक अपघातमृत्यु का।

सूतक पातक में पीढ़ियाँ ऐसे गिनें

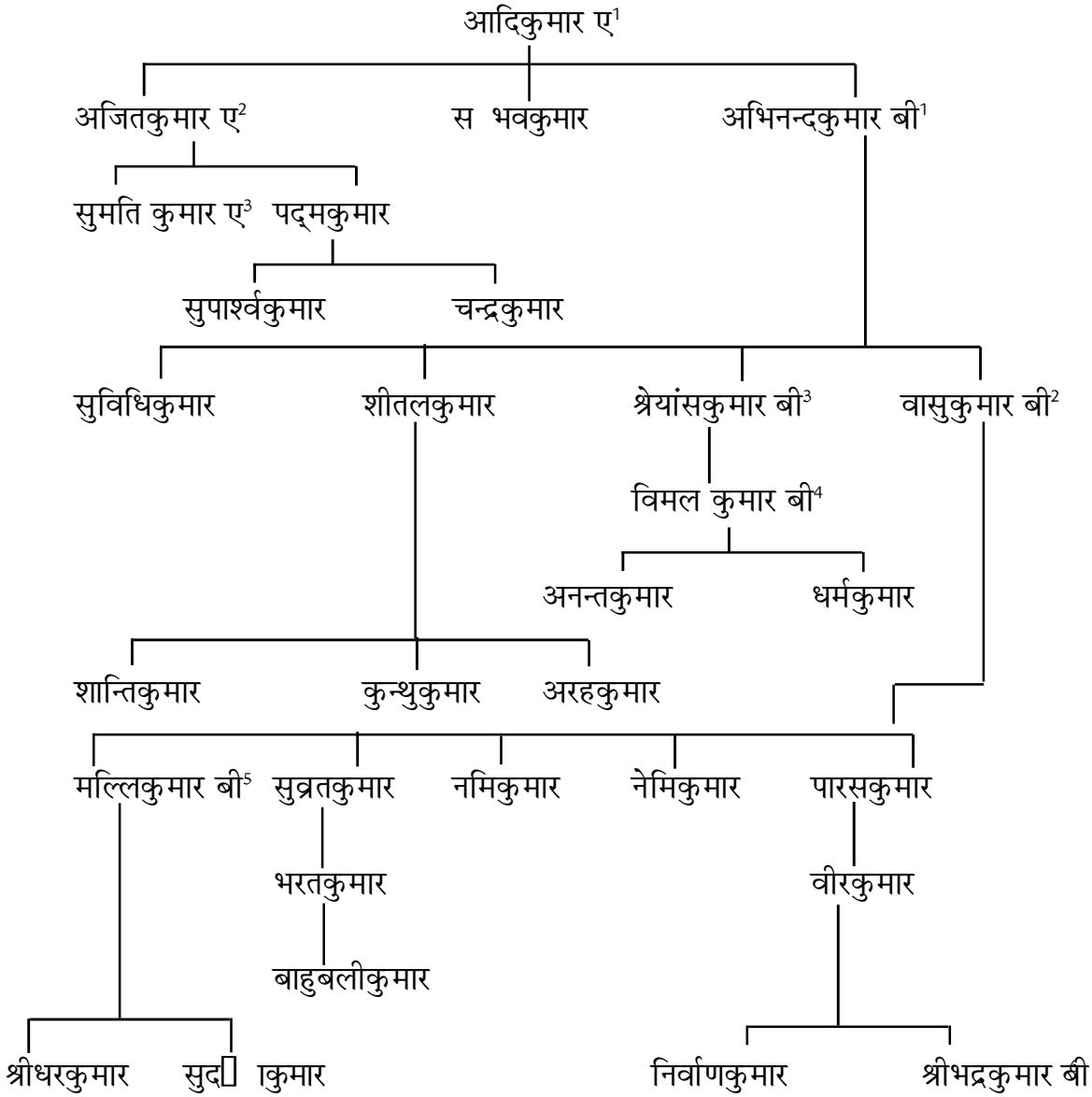

सूतक-पातक के सन्दर्भ में कई क्षेत्रीय पर पराएँ प्रचलित हैं। पीढ़ी के निर्धारण में भी विभिन्न मान्यताएँ हैं। वरिष्ठ आचार्यों / मुनिराजों एवं विद्वानों से विचार-विमर्श अनुसार यदि एक ही दादाजी के पुत्र एवं पौत्र की पीढ़ी में सूतक-पातक है, तो उन्हीं से पीढ़ी ली जावेगी। यदि दादाजी के चचेरे भाइयों की पीढ़ी में सूतक-पातक होता है, तो दादाजी के पिताजी से पीढ़ी ली जावेगी।

1. पीढ़ी की गिनती के लिए यदि अजितकुमार जी (ए2) के पुत्र सुमतिकुमार जी (ए3) के यहाँ

सूतक-पातक की स्थिति बनती है और वासुकुमार जी (बी[2]) के पुत्र मल्लिकुमार जी (बी[5]) के परिवार में सूतक-पातक की गणना करनी हो, तो गणना आदिकुमार जी (ए[1]) से की जायेगी।

2. यदि सूतक-पातक श्रेयांसकुमार जी (बी[3]) के पुत्र विमलकुमार जी (बी[4]) के यहाँ होता है और उसकी गणना मल्लिकुमार जी (बी[5]) के परिवार में करनी है, तो गणना अभिनन्दन कुमार जी (बी[1]) से होगी।

3. यदि मल्लिकुमार जी (बी[5]) के यहाँ सूतक-पातक की स्थिति है और श्रीभद्रकुमार जी (बी[5]) के परिवार में सूतक-पातक की स्थिति की गणना करनी है, तो वासुकुमार जी (बी[2]) से की जायेगी।

(साभार- प्रतिष्ठापराग, पृष्ठ 209-212। सुविधा के लिये मूल प्रति के नाम परिवर्तित किये गये हैं।)